सत्साहित्य-प्रकाशन

बंगला साहित्य-दर्शन

—बंगला के प्राचीन तथा अर्वाचीन साहित्य का विशद अध्ययन—

मन्मथनाथ गुप्त

●

१९६०

सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली

प्रकाशकीय

हमारे देश की विभिन्न भाषाओं का साहित्य कितना समृद्ध है, इसकी जानकारी हिन्दी के पाठकों को बहुत कम है। इसका मुख्य कारण संभवतः यह है कि इन भाषाओं का परिचय देनेवाले साहित्य के विधिवत् प्रकाशन का प्रयत्न हिंदी में अभी तक नहीं हुआ है। जब-तब कुछ लेख पत्र-पत्रिकाओं में निकलते रहते हैं, लेकिन इतना ही पर्याप्त नहीं है। यह निश्चय ही बड़ी विचित्र-सी बात है कि हिन्दी के पाठक विदेशी साहित्य तथा उसके ग्रन्थकारों से तो सुपरिचित हों, लेकिन अपने ही देश के साहित्य तथा साहित्यकारों से अनभिज्ञ रहें।

इस कमी को ध्यान में रखकर हमने अपने देश की विभिन्न भाषाओं के परिचायत्मक ग्रन्थ निकालने की योजना बनाई है। प्रारंभ दक्षिण की भाषाओं से किया है। सबसे पहली पुस्तक 'कैरली साहित्य-दर्शन' में मलयाली साहित्य का विस्तृत परिचय दिया गया है। दूसरी 'तमिल साहित्य और संस्कृति' में दक्षिण की दूसरी समृद्ध भाषा तमिल के साहित्य तथा संस्कृति पर प्रकाश डाला गया है।

प्रस्तुत पुस्तक में बंगला भाषा के प्राचीन तथा अर्वाचीन साहित्य का विशद अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

हमें आशा है, पाठकों के लिए इस माला की अन्य पुस्तकों की भांति यह पुस्तक भी ज्ञानवर्द्धक तथा उपयोगी सिद्ध होगी।

दो शब्द

बंगला-साहित्य पर इस पुस्तक को हिन्दी-जगत के सामने प्रस्तुत करते हुए हमें प्रसन्नता होती है, विशेषकर इसलिए कि यह एक आदर्श लेकर चलनेवाली संस्था 'सस्ता साहित्य मंडल' जैसे माध्यम से पाठकों को सुलभ हो रही है। यदि भारत को एक रखना है, जैसा कि हमें हर मूल्य पर करना है, तो उसके लिए सबसे आवश्यक यह है कि प्रत्येक भाषा के लोग अपनी भाषा और परम्पराओं को कायम रखते हुए देश की दूसरी भाषाओं और उनके साहित्य से परिचित हों। इस कर्तव्य को सुगम बनाने के लिए सब तरह के प्रयास अभीष्ट हैं।

'सस्ता साहित्य मण्डल' ने इस दिशा में विधिवत् कदम उठाया है। अबतक वह केरल और तामिलनाड की भाषाओं और साहित्य पर दो परिचयात्मक पुस्तकें प्रकाशित कर चुका है। यह तीसरी पुस्तक बंगला साहित्य के बारे में हैं। बंगला भाषा के संबंध में हिन्दी के पाठक काफी जानकारी रखते हैं। इस पुस्तक में व्यवस्थित रूप से बंगला-साहित्य का परिचय दिया गया है। व्यक्तियों के परिचय को हमने उतना महत्व नहीं दिया, जितना कि उनके साहित्य को। साहित्य के विकास की जानकारी की दृष्टि से यही हमें अधिक ठीक लगा।

—मन्मथनाथ गुप्त

विषय-सूची

बंगला साहित्य-दर्शन

बंगला साहित्य-दर्शन

: १ :

बंगला भाषा का विकास

जिस भूखंड को हम इस समय बंगाल कहते हैं और जिसमें भारत क पश्चिमी बंगाल और पाकिस्तान का पूर्वी बंगाल है वह सदा न तो एक देश ही था और न उसमें एक जाति ही बसती थी। हम बिल्कुल प्रागैतिहासिक युग की बात नहीं कहते, ज्ञात ऐतिहासिक युग में भी बंगाल एक देश नहीं था बंगाल तीन नदियों बल्कि एक नदी की दो शाखाओं याने पद्मा और भागीरथी तथा ब्रह्मपुत्र से चार भागों में बंटा हुआ था। ईसा के कई सौ वर्ष पहले उत्तर-मध्य बंगाल में पुंड्र, ब्रह्मपुत्र के पूर्व तथा पद्मा के उत्तर में बंग और राढ़ और उनके दक्षिण में भागीरथी के पश्चिम में सुह्म नामक कबीले रहते थे। इनके अतिरिक्त और भी कई कबीले थे जैसे कैवर्त या केवट जो सारे भूखंड में फैले हुए थे, दूसरी तरफ चंडाल या चांडाल, डोम, हाड़ी, बागदी बाउरी, चूहाड़ आदि कई कबीले थे।

बाद को जब बंगाल का आर्यीकरण हुआ तो इन कबीलों में से कई वर्ण-मूलक हिन्दू समाज में जातियों के रूप में प्रस्तरीभूत हो गये।

जो चार मुख्य कबीले पहले गिनाये गए हैं, उनका किसी-न-किसी रूप में महाभारत में उल्लेख मिलता है। महाभारत में यह बताया गया है कि अंग, बंग, कलिंग, पुंड्र और सुह्म भाई-भाई थे, और वे राजा बलि की स्त्री के गर्भ में दीर्घतमा ऋषि के औरस से उत्पन्न थे। पार्जिटर तथा श्री सुनीतिकुमार चट्टो-पाध्याय का ऐसा अनुमान है कि इस अनुश्रुति की तह में शायद यह बात है कि ये कबीले एक ही शाखा से उत्पन्न थे या उनमें निकट सम्बन्ध था। यह संबंध किसी भी हालत में पड़ोसियों का संबंध तो था ही, संभव है उससे अधिक भी हो।

सुनीतिबाबू ने लिखा है कि बंगाल के ये प्राचीन कबीले द्राविड़ भाषा-भाषी थे और वे सुसंगठित होने के अतिरिक्त सुसंस्कृत भी थे। उनका कहना है, "बर्मा और स्याम के प्राचीन इतिहास से ज्ञात होता है कि जिस समय तिब्बती चीनी कबीले (बर्मी और ताई) रंगमंच पर नहीं आये थे, उस समय इन

भू-भागों में केवल मोनखमेर लोग बसे हुए थे और बंगाल तथा कलिंग से द्राविड़ लोग आकर स्याम तथा बर्मा में शासक बन रहे थे। बाद में जब भारत के इन अनार्यों ने ब्राह्मण्य धर्म को अपना लिया, तब उनके राजाओं ने उत्तर भारत के प्राचीन आर्य राजघरानों से संबंध होने का दावा किया (ऐसा ही बाद में नये राजपूत वंशों के संबंध में भी हुआ), और उन्होंने ईसा-जन्म के बाद संस्कृत भाषा और साथ-ही-साथ हस्तिनापुर और अयोध्या की परम्पराओं को ग्रहण किया।"

आगे चलकर बंगाल में तिब्बती-चीनी कबीले भी आये। तिब्बती-चीनी की तिब्बती-बर्मी शाखा से बोडो नामक कबीला आसाम और पूर्वी बंगाल में और इसके बाद उत्तरी बंगाल में फैल गया। यह अनुमान है कि आसाम और पूर्वी बंगाल में तिब्बती-बर्मी लोग ईसा-जन्म के कुछ पहले ही फैले होंगे, पर यह तारीख और बाद की भी हो सकती है।

यह तो सुनिश्चित है कि आधुनिक बंगाल में ईसा-पूर्व सहस्र वर्ष तक आर्य भाषाओं का प्रचार नहीं था। पर जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है, इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि उस समय इस भूखंड में बसे हुए लोग किसी भी प्रकार आर्यों के मुकाबले में असभ्य थे। ई० पू० चतुर्थ शताब्दी के अन्त में लिखित कौटिल्य के अर्थशास्त्र में तुड्र, सुवर्णकुड्य और बंग में उत्पन्न रेशम तथा अन्य वस्तुओं की प्रशंसा की गई है। इसमें से पुंड्र की स्थिति तो हम पहले ही बता चुके हैं। सुवर्णकुड्य को मुर्शिदाबाद या कर्ण सुवर्ण के रूप में निर्दिष्ट किया गया है। हमें बंगला भाषा की उत्पत्ति के संक्षिप्त इतिहास में इस विषय में अधिक ब्यौरे में जाने की न तो आवश्यकता है, और न गुंजाइश ही है।

हम बाकी ब्यौरों को छोड़कर यह कह सकते हैं कि मौर्य-विजय के पहले बंगाल आर्य भाषा के प्रभाव में नहीं आया और उसके पहले बंगाल में विभिन्न अनार्यभाषाओं का प्रचलन था। पर इन भाषाओं का कोई साहित्य सुरक्षित नहीं है, और शायद सुरक्षित रहने लायक उनमें कोई विशेष सामग्री रही भी न हो।

हम केवल बंगाल के संदर्भ में सारी बात कह रहे हैं, इससे किसी साधारण पाठक को यह गलतफहमी न हो कि बंगाल ही में यह प्रक्रिया हुई, इसलिए हम श्री सुनीतिकुमार की पुस्तक से ही उद्धरण देकर इस संबंध में कुछ स्पष्टीकरण

करेंगे। वह अपनी पुस्तक 'जाति, संस्कृति और साहित्य' में लिखते हैं—

"भारत के सुसभ्य, अर्द्धसभ्य और असभ्य सब तरह के अनार्य आदिम निवासियों के साथ आर्यों का प्रथम सम्पर्क शायद संघर्षमूलक था। पर अनार्य भारत में आर्यों का उपनिवेश स्थापित हो जाने के बाद आर्य और अनार्य दोनों परस्परिक संबंधों से प्रभावित हुए। आर्य विदेश से आये हुए थे और पार्थिव सभ्यता में वे बहुत ऊंचाई पर नहीं थे। आर्यो की भाषा ने आकर द्राविड़ और अस्ट्रिक भाषाओं को निष्प्रभ बना दिया। उत्तर भारत के कोल और द्राविड़ अनार्यों में एका लानेवाली भाषा का अभाव था, आर्य जाति ने अपनी विजेता की मर्यादा को काम में लगाकर अपनी भाषा को यह गौरव दिया। धीरे-धीरे ई० पू० १५०० से ई० पू० ५०० तक गांधार से विदेह और चंपा—बंगाल की पश्चिम सीमा तक प्रायः समस्त उत्तर भारत में आर्य भाषा की जय का डंका बज गया, और आर्य तथा अनार्य यानी द्राविड़ और अस्ट्रिक मिलकर उत्तर भारत अर्थात् पंजाब और बिहार तक गंगा घाटी के सब लोग हिन्दू जाति में परिणत हुए। अनार्यों ने आर्यो की भाषा और आर्यों के धर्म यानी वैदिक धर्म और वैदिक याग-यज्ञादि अनुष्ठानों को अपना लिया। अनार्यो ने आर्यो के पुरोहित ब्राह्मणों की शिक्षा को मान ली। पर अनार्यो का न तो धर्म ही मरा और न इतिहास-पुराण ही मरा। उत्तर भारत के गंगा के किनारे की आर्य सभ्यता का प्रवर्तन इसी तरह से हुआ। इसमें आर्यों की तुलना में अनार्यों का दान अधिक है, पर आर्यो की भाषा ही इस नई सभ्यता की वाहन बनी।"

उत्तर भारत में आर्य भाषा की विजय हो जाने के बाद बंगाल में आर्यभाषा की विजय का समय आया। ऐसा अनुमान किया जाता है कि बंगाल में गुप्त-साम्राज्य के विस्तार के साथ-साथ बंगाल अन्तिम रूप मे उत्तर भारत या आर्य भारत के साथ संयुक्त हो गया। मौर्य-विजय से यह प्रक्रिया आरभ हुई थी। इसका अर्थ यह है कि ई० पू० ३०० से ५०० ई० तक यानी ८०० वर्ष तक यह प्रक्रिया जारी रही, और बंगाल का आर्यीकरण, सुनीतिबाबू के अनुसार, अस्ट्रिक और द्राविड भाषी जनता ने इन ८०० वर्षों में अपनी अनार्य भाषाओं को त्यागकर धीरे-धीरे आर्य भाषा अर्थात् मगध के प्राकृत को ग्रहण करके किया। वह लिखते हैं "उत्तर भारत का ब्राह्मण्य धर्म और सभ्यता या उसके साथ ब्राह्मण्य परम्पराओं को याने संस्कृत भाषा में ग्रथित आर्यों और अनार्यों के इतिहास और

पुराण को बंगाल के लोगों ने भी ग्रहण किया। बौद्ध और जैन मतवाद भी इसी प्रकार से बंगाल में आये और प्रचारित हुए।"

हम आगे भी सुनीतिबाबू का उद्धरण देंगे, क्योंकि उन्होंने ही इस संबंध में सब से अधिक खोज की है, और उन्होंने बंगला भाषा की उत्पत्ति और विकास के संबंध में जो विराट ग्रंथ लिखा है, वह किसी भी भारतीय भाषा पर लिखित सबसे अच्छी पुस्तक है। वह लिखते हैं कि समुद्रगुप्त के एक शिला-लेख से यह पता लगता है कि शायद कामरूप के साथ-साथ पूर्वी बंगाल भी उनके अधीन था। ऐसा ज्ञात होता है कि जो ब्राह्मण उत्तर भारत से जाकर इन नये उपनिवेशों में बसते थे, वे मध्यदेशविनिर्गत रूप में उल्लिखित है, और उन्हें धर्म-प्रचार तथा यज्ञादि करने के लिए जागीरें दी जाती थीं। ये लोग एक तरह से ब्राह्मण्य धर्म के पादरी थे और इनके कारण राजशक्ति को बल मिलता था। ये लोग धर्म-प्रचार के अतिरिक्त भाषा-प्रचार भी करते थे, और चूंकि उनकी भाषा अधीनस्थ लोगों की भाषा के मुकाबले में अधिक उन्नत थी, और उसमें साहित्य उत्पन्न हो चुका था, इसलिए कालान्तर में उनकी भाषा ने अनार्य भाषाओं को परास्त कर दिया, इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

जिस समय चीनी पर्यटक फाहियान पांचवी शताब्दी में बंगाल में आये, उस समय बंगाल के कम-से-कम पश्चिम और उत्तर में आर्य संस्कृति और भाषा का प्रचार हो चुका था। फाहियान ताम्रलिप्ति में दो वर्ष तक रहे और वहां वह हस्तलिखित पुस्तकों की नकलें तैयार करते रहे। इससे यह प्रमाणित है कि बंगाल में आर्य भाषा के प्रचार का कार्य पंचम शताब्दी के आरंभ में ही बहुत आगे बढ़ चुका था, तभी तो फाहियान ने अपने पर्यटन के दो वर्ष यहां व्यतीत किये।

इसके बाद जिस समय सप्तम शताब्दी के पूर्वार्द्ध में दूसरे प्रसिद्ध चीनी पर्यटक ह्यूनसांग भारत में पधारे, उस समय वह बंगाल में भी गये थे। सौभाग्य से उन्होंने अपने पर्यटन का विस्तृत विवरण लिखा है और उस विवरण में उन्होंने प्रचलित भाषाओं के संबंध में भी कुछ लिखा है। उन्होंने अंग और काजंगल से गंगा पारकर पुंड्रवर्द्धन या उत्तरी मध्य बंगाल में पदार्पण किया। वहां उन्होंने देखा कि न केवल महायान और हीनयान बौद्ध धर्म का प्रचार है, अपितु साथ-ही-साथ ब्राह्मण्य धर्म और जैन धर्म का भी प्रचार है। यहां यह

स्मरण रखा जाय कि धर्मों के साथ-साथ भाषाओं का भी प्रचार होता रहा। इसलिए यह समझ लेना चाहिए कि यदि इन धर्मों का प्रचार था तो साथ ही संस्कृत-प्राकृत का प्रचार रहा होगा।

पुंड्रवर्द्धन का भ्रमण समाप्त कर ह्यूनसांग कामरूप या पश्चिमी आसाम और उत्तर-पूर्व बंगाल में गये। वहां की भाषा के संबंध में उन्होंने यह लिखा है कि मध्य देश की भाषा से कुछ भिन्न है। कामरूप के बाद वह पूर्वी बंगाल में गये। वहां भी ब्राह्मण्य धर्म और दूसरे धर्मों का प्रचार था। वहां से वह कर्ण सुवर्ण या मुर्शिदाबाद जिले में गये। इस स्थान के संबंध में उन्होंने लिखा है कि यहां के लोगों में अभी ऐसे लोग भी थे, जो इतर धर्म मानते थे। वहां से ह्यूनसांग ताम्रलिप्ति गये, वहां बौद्ध और ब्राह्मण्य धर्म का प्रचार था। इसके बाद ह्यूनसांग आजकल के दक्षिण-पूर्व मेदिनीपुर जिले में गये, और इसके पश्चात वह उड़ीसा में गये। उनके अनुसार मेदिनीपुर से लेकर इन सारे स्थानों में ऐसी भाषा बोली जाती थी, जो मध्य देश की भाषा से स्वरूप तथा उच्चारण में भिन्न थी। इसपर यह अनुमान किया गया है कि इन स्थानों में अभी तक द्राविड़ भाषाएं बोली जाती थीं।

ह्यूनसांग के सारे विवरण का विश्लेषण करते हुए डा० चटर्जी ने लिखा है—"ह्यूनसांग के यात्रा-विवरण से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सप्तम् शताब्दी ईस्वी तक सारे बंगाल में आर्य भाषा का प्रचार हो चुका था, और पश्चिमी आसाम में भी इसका प्रवेश हो चुका था, पर अभी तक उत्तरी उड़ीसा की जनता में इसका प्रचार नहीं हुआ था। साथ ही यह बड़ी कौतूहल-जनक बात है कि उनकी भाषा मध्य देश की भाषा से कुछ भिन्न थी। ह्यूनसांग पुंड्रवर्द्धन या कर्ण सुवर्ण की भाषा के संबंध में कुछ नहीं कहते, इससे यह मान लिया जा सकता है कि इन इलाकों की भाषा और मगध की भाषा एक ही थी, और मगध ही उस युग के चीनी पर्यटक द्वारा लिखित मध्य देश था। अब कोई भी यह आशा कर सकता है कि सप्तम शताब्दी में उत्तरी मध्य बंगाल यानी उस युग के पुंड्रवर्द्धन और उत्तरी बंगाल और पश्चिमी आसाम यानी उस युग के कामरूप में एक ही भाषा प्रचलित होगी, क्योंकि इन इलाकों में, साथ ही बंगाल के अन्य इलाकों में, पंद्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी में शब्दरूप-विचार-शास्त्र की दृष्टि से करीब-करीब वही भाषा प्रचलित थी, जैसा कि बंगला और आसामी के उस

समय के प्राप्त रूपों में देखा जा सकता है। ह्यूनसांग ने जिस कुछ भिन्नता की बात कही है और जिसके अनुसार कामरूप की भाषा में और मध्यदेश की भाषा में कुछ भिन्नता थी, उसका शायद मतलब यह है कि आर्य उच्चारणों को एक हद तक परिवर्तित कर दिया गया था, जैसा कि आसामी और साथ ही उत्तर और पूर्व बंगाल की चलित भाषाओं मे पाया जाता है। शायद इस प्रकार कामरूप की भाषा का मध्य देश की भाषा के साथ जो कुछ प्रभेद बताया गया है और ऐसा ज्ञात होता है कि यह प्रभेद पुंड्रवर्द्धन तथा बंगाल के अन्य भागों की भाषा से भी था, उससे मतलब आर्य उच्चारणों के उन परिवर्तनों से है, जो इस समय आसाम तथा उत्तरी और पूर्वी बंगाल की बोलियों की विशेषता है।"[1]

इसके बाद सुनीतिबाबू ने उन उच्चारण-संबंधी प्रमाणों को पेश किया है, जिनके ब्यौरे में जाना यहां उचित न होगा। भाषा की दृष्टि से देखने पर आर्यीकरण के बाद बंगाल मागधी भाषा के दायरे में आ गया। मागधी से उत्पन्न भाषाओं को तीन भागो में बांटा गया है—(१) पूर्वी मागधी—बंगला, आसामी, उड़िया, (२) मध्य मागधी—मैथिली, मगही (३) पश्चिमी मागधी—भोजपुरी, नागपुरी।

ग्रियर्सन ने इस संबंध में एक दूसरे ही वर्गीकरण को अपनाया है। वे द्वितीय तथा तृतीय वर्ग के अंतर्गत बोलियों को बिहारी नाम देते है, और उन्हें एक ही बोली के मामूली रूप से परिवर्तित रूप मानते है, पर डा० चटर्जी का यह विचार है कि भोजपुरी और मैथिली-मगही के रूपों में जो अत्यधिक भेद है, उसे देखते हुए कम-से-कम आधुनिक सोपान में उन्हें अलग भाषा मानना उचित होगा।

कैसे यह मागधी परिवार बल्कि मागधी अपभ्रंश का परिवार धीरे-धीरे अलग हो गया और उसमें से बंगला, आसामी, उड़िया, मैथिली चार स्वतंत्र भाषाओं और मगही तथा भोजपुरी की उत्पत्ति हुई, जिन्होंने कम-से-कम साहित्यिक दृष्टि से अपनेको खड़ी बोली में निमज्जित कर लिया, यह भाषाशास्त्र का एक गहन विषय है। यहांपर हम इतना ही बता सकते हैं कि ऐसा समझने का कारण है कि सातवीं शताब्दी के मध्य में यानी ह्यूनसांग के समय में आधुनिक

[1] देखिये, 'जाति, संस्कृति और साहित्य', पृष्ठ ७९

बिहार, बंगाल और पश्चिमी आसाम में एक ही भाषा बोली जाती थी। आसामी और बंगला इस समय भी बहुत-कुछ एक है, इसी प्रकार उड़िया, आसामी और बंगला से मिलती-जुलती भाषा है। रही मैथिली, सो वह भी बंगला, आसामी और उड़िया से कई बातों में समता रखती है।[1] इस प्रसंग में यह एक बहुत दिलचस्प बात है कि भाषा की दृष्टि से आधुनिक बिहार, जिसमें मिथिला भी आता है, उस युग में बंगाल, आसाम यहांतक कि उड़ीसा के अधिक निकट था, पर अब खड़ी बोली को साहित्यिक भाषा के रूप में अपनाने के बाद उसकी भाषा की दिशा पूर्वाभिमुखी न रहकर पश्चिम की ओर हो गई है।

सच तो यह है कि सातवीं शताब्दी में अंग और मिथिला से ही आर्यीकरण के प्रभाव, जिसमें भाषा भी थी, आधुनिक बंगाल, आसाम और उड़ीसा में फैले और उन्हींसे आर्यीकृत बंगाल, आसाम और उड़ीसा का जन्म हुआ।

यहांपर यह बताना संभव नहीं है कि कैसे आगामी तीन-चार शताब्दियों में बंगला भाषा का एक पृथक् ढांचा बना। यह न समझा जाय कि इस संबंध में कुछ अधिक उपकरण प्राप्त हैं। जो उपकरण प्राप्त भी हैं, वह मुख्यत: भाषा-शास्त्र-संबंधी है, और इस प्रकार की पुस्तक के लिए उपयुक्त नहीं हैं। ऐसा मालूम होता है कि आठवीं से लेकर ग्यारहवीं शताब्दी तक सारे आर्य भारत में भाषा-संबंधी परिवर्तन हो रहे थे। हम जिस भूखण्ड के संबंध में आलोचना कर रहे है, उसमें इन तीन शताब्दियों में प्राकबंगला, प्राकमैथिली, प्राकउड़िया का युग कहा जा सकता है। उस युग में बंगला, मैथिली, उड़िया की विशेषताएं सामने आती जा रही थीं, पर वे अभी तक पृथक् नहीं हुई थीं।

भाषाशास्त्र की गवाही के अनुसार यह अनुमान सत्य मालूम होता है कि पहले तो मागधी अपभ्रंश की उपर्युक्त प्रकार से शाखाएं बनीं और फिर उन्हीं में जैसे पूर्व मागधी में बंगला, आसामी और उड़िया रूपी शाखाएं फूटीं। मेदिनीपुर में इस समय जो बोली प्रचलित है, उसके अध्ययन के बाद यह कहा जा सकता है कि यह बंगला और उड़िया के बीच की अथवा दोनों को संयुक्त करने वाली एक बोली है।

अभी तक जो प्रमाण उपलब्ध हैं, उनसे यह कहना संभव नहीं है कि ठीक

---

[1] देखिये, 'जाति, संस्कृति और साहित्य', पृष्ठ ९१

किस समय बंगला, आसामी और उड़िया में भेद उत्पन्न हुआ, पर जैसा कि बताया जा चुका है तीन शताब्दियों में यानी आठवीं से लेकर ग्यारहवीं तक पृथक्करण की यह प्रक्रिया इतनी दूर तक पहुंच गई कि इनका अलग-अलग रूप स्पष्ट हो गया। यद्यपि यह कहा गया है कि इस समय इन भाषाओं के अलगाव-संबंधी प्रमाण उपलब्ध नहीं है, पर वास्तविकता यह है कि भविष्य में अधिक प्रमाण उपलब्ध होने पर भी यह कहना संभव नहीं होगा कि अमुक साल में यह अलगाव हुआ। सच तो यह है कि ऐसी प्रतिक्रियाएं सैकड़ों वर्षों में संपूर्ण होती हैं, इस कारण इस संबंध में शताब्दियों में ही बातचीत की जा सकती है।

: २ :

प्राक मुस्लिम बंगला और उसका साहित्य

ग्यारहवीं शताब्दी में बंगला का निजी अस्तित्व स्थापित हो चुका था। डा० सुनीतिकुमार चटर्जी का यह कथन है कि ग्यारहवी शताब्दी में भी बंगला के साथ उड़िया का पृथक्करण अभी असंपूर्ण था। कुछ प्रमाण ऐसे है। कि प्राचीन बंगला के युग में अर्थात् दसवीं, ग्यारहवीं तथा बारहवीं शताब्दियों में पश्चिमी बंगला की ओर झुकाव हुआ, जिससे आधुनिक स्टैंडर्ड बंगला को अपना निर्दिष्ट चरित्र प्राप्त हुआ और पड़ोस की उड़िया तथा अन्य बोलियों से उसका पृथक्करण हुआ।[1]

बंगला के जो सबसे प्राचीन नमूने प्राप्त हैं, वे ये हैं—

(१) प्राचीन पुस्तकों तथा अभिलेखों में कुछ स्थानों के नाम आते हैं। इन नामों में जिस ढंग से बाद को चलकर परिवर्तन हुए हैं, उससे यह पता लगता है कि उच्चारण आदि में परिवर्तन कौन-सी दिशा में जा रहा था। इस संबंध में जो-जो उपकरण प्राप्त है, वह इतना थोड़ा है कि वह दूसरे उपकरणों के साथ-साथ ही कुछ काम दे सकता है। शिलालेखों तथा प्राचीन पुस्तकों में कुछ स्थानों

---

[1] देखिये, 'जाति, संस्कृति और साहित्य', पृष्ठ ६८

के नाम पांचवीं शताब्दी से पाये जाते है बाद को ग्यारहवीं शताब्दी की रचना 'रामचरित' में उनसे मिलते-जुलते नाम पाये जाते हैं। 'रामचरित' संध्याकर नन्दी की रचना है।

(२) सर्वानन्द नामक एक बंगाली पंडित ने लगभग ११५६ ई० में अमरकोष पर एक टीका लिखी थी। इसमें पंडितप्रवर ने अपने भाष्य को सुबोध्य बनाने के लिए कोई तीनसौ ऐसे शब्द डाल दिये, जो संस्कृत नहीं थे और बंगला मालूम होते हैं। इस टीका का नाम 'टीका सर्वस्व' था। मज़े की बात यह है कि यह टीका बंगाल से लुप्त हो गई, पर यह सुदूर मालाबार में सुरक्षित रही और वहीं से यह संपादित होकर प्रकाशित हुई। इस पुस्तक को बंगला भाषा के इतिहास की दृष्टि से बहुत अधिक महत्व दिया गया है और इसमें जो असंस्कृत शब्द आते हैं, वे प्राचीन बंगला के शब्द हैं। इस विशेष उपकरण का ऐतिहासिक तथा भाषाशास्त्रीय मूल्य बहुत अधिक होने पर भी हमें इससे केवल शब्दों का ही ज्ञान होता है, पर किसी भाषा को जानने के लिए उसकी वाक्यविन्यासपद्धति से परिचय बहुत जरूरी है, जिसका इसमें अभाव है।

(३) चर्यापद या चर्या-साहित्य। इस संबंध में ४७ गीत प्राप्त हैं। यद्यपि पुस्तक में ५० गीत थे, तथापि बीच के कुछ पृष्ठ उड़ जाने के कारण केवल ४७ गीत ही प्राप्त हुए। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने इन गीतों का आविष्कार नेपाल में किया। उनके अनुसार ये बारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ के हैं, पर श्री राखालदास बनर्जी ने इन्हे चौदहवी शताब्दी के अन्त की रचना बताया है।

भाषा और साहित्य दोनों के इतिहास की दृष्टि से इन गीतों का बहुत महत्व है। इसके अतिरिक्त उनसे उस समय की परिस्थिति का भी पता चलता है। सहजिया-पंथ के सिद्धों ने इनकी रचना की। यहां इस पंथ के संबंध में कुछ बताने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि सहजियापंथ के गुरु गोरखनाथ और मत्स्येन्द्रनाथ आदि के संबंध में हिंदी-साहित्य के इतिहासों में भी बहुत-कुछ आता है। यहां पर इतना ही बताना यथेष्ट होगा कि यद्यपि इन गीतों को बंगला भाषा के कुछ इतिहासकारों ने बंगला बताया है, तथापि उन्हें समान रूप से हिंदी की रचना भी कहा जा सकता है, और ऐसा कहा भी गया है। हम पहले ही बता चुके हैं कि भाषा की दृष्टि से ह्यूनसांग के समय में ही बंगाल और बिहार एक हो चुके थे। फिर प्राकबंगला रचनाओं को या बंगला की आदिम रचनाओं को हिंदी कहना

या हिंदी की उस समय की रचनाओं को बंगला समझना कोई आश्चर्य की बात नहीं है ।

दोहाकोष नामक दो रचनाएं भी बंगला भाषा के इतिहास की दृष्टि से बड़े महत्व की है, पर उनका महत्व चर्यापदों से कहीं कम इस कारण है कि वे अपभ्रंश में है और उनमें अभी बंगला की विशेषताएं दृष्टिगोचर नहीं है, जैसी कि चर्यापदों में दिखाई देती है । इनका भी विषय वही है जो चर्यापदों का है ।

'चर्याचर्यविनिश्चय' नाम से एक प्राचीन ग्रन्थ प्राप्त हुआ है, जिसमें प्राकृत भाषा में कविताएं है और संस्कृत में उनकी टीका है । टीका के अन्दर यत्र-तत्र प्राचीन बंगला तथा पश्चिमी अपभ्रंश में कुछ उदाहरण दिये गए है । इनमे भी रहस्यमय विषयों का वर्णन है । सुनीतिबाबू के अनुसार चर्यापदों और दोहाकोष-में दो विभिन्न बोलियां है । चर्यापदों में संबंधकारक का एर और अर, संप्रदान का रे, अधिकरण का त, मबंध स्थापित करनेवाले शब्द मांझ, अन्तर, सांग है, साथ ही बिहारी अल और अब के बदले क्रमशः भूत और भविष्य के लिए क्रियापद के बाद इल और इब इत्यादि है । दोहाकोषों में बोली तो वही है, जिसे एक तरह का पश्चिमी या सौरसेनी अपभ्रंश बताया गया है ।

चर्यापदों की भाषा के संबंध में सुनीतिबाबू का यह सुनिश्चित मत है कि वे प्राचीन बंगला में है । वे इस मत के समर्थन में भाषाशास्त्र-संबंधी बहुत लंबे प्रामाण देते है, जिनका वर्णन यहांपर संभव नहीं । उनका यह भी कहना है कि चर्यापदों की भाषा पश्चिमी बंगाल की किसी बोली पर आधारित है। भाषा-गत प्रमाण के अतिरिक्त पूर्वी बंगाल के लोगों पर भी दो जगह पर मन्तव्य है, जो किसी भी प्रकार प्रशंसात्मक नहीं हैं । इस बात का भी प्रमाण है कि उस युग में पश्चिमी बंगाल के साहित्यकार पूर्वी बंगाल के लोगों के विरुद्ध कटाक्ष करते थे, जैसे कि बारहवी सदी के विद्वान सर्वानन्द ने अमरकोष पर टीका लिखते हुए किया था । उसमें उन्होंने सूखी मछली खानेवाले इतर बंगालियों पर कटाक्ष किया था ।

चर्यापदों में मात्रावृत्त का प्रयोग है, पयार छन्द का नहीं, जो बंगाल का विशेष छन्द हैं । उस समय तक पयार का विकास नहीं हुआ था, या ऐसा हो सकता है कि देहातों में पयार का प्रचलन हुआ हो, पर साहित्य में तबतक उसका प्रवेश न हुआ हो ।

रहा यह कि चर्यापदों का समय क्या है, इस संबंध में डा० चटर्जी का मत यह है कि भाषाशास्त्र की दृष्टि से यह लगभग १२०० ई० की रचना होगी। एक बात यह भी स्मरण रहे कि चर्यापद विभिन्न व्यक्तियों की रचनाएं हैं। इनके रचयिताओं की संख्या २२ है, और ये २२ रचयिता उन ८४ सिद्धों में आ जाते है, जो तिब्बत और नेपाल के महायान बौद्धों में पूजित हैं। नेपाल में अब भी ये पद गाये जाते हैं। तिब्बती भाषा में भी इनका अनुवाद है। इन सिद्धों में से एक लुईपा या लुईपाद दीपंकर श्रीज्ञान के समसामयिक थे, और उनके संबंध में यह ज्ञात है कि वह ५८ साल की उम्र में १०३८ ई० में तिब्बत गये। इस कारण लुईपा के साहित्यिक जीवन के समय को दशम शताब्दी का उत्तरार्द्ध बताया गया है। अभी तक चर्यापदों में उन्हीकी रचनाओं को सबसे प्राचीन माना गया है। जो हो, चर्यापदों को १२०० ई० के मानने में किसी गलती की संभावना नहीं है।

प्राकबंगला के अन्य अवशेषों मे 'प्राकृत पैगल' की रचनाएं और कविताएं उल्लेखनीय है। इस संग्रह में ६०० ई० से लेकर १४०० ई० तक की प्रचलित कविताएं संग्रहीत है। यह संग्रह अपभ्रंश तथा प्राक बंगला रचनाओं का है। इस संग्रह को अंतिम रूप चौदहवी शताब्दी में प्राप्त हुआ। इसमें से कुछ ही कविताओं के संबंध में यह दावा किया गया है कि वे प्राक बंगला में हैं, पर ऐसा मालूम होता है कि भले ही ये कविताएं बंगला में रही हों, इनको जिस रूप में इस संग्रह में स्थान दिया गया है, वह कुछ बदला हुआ है। स्मरण रहे कि अभी तक भाषाओं के विकास का वह सोपान था, जब कुछ विभक्ति, प्रत्यय बदल देने पर ही एक भाषा की रचना दूसरी भाषा की रचना बन सकती थी।

बंगला भाषा के विकास के संबंध में जयदेव के 'गीत गोविंद' का भी उल्लेख किया गया है। 'गीत गोविन्द' संस्कृत में प्राप्त है और यह बारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध की रचना है। भला एक इतने सुप्रसिद्ध सस्कृत ग्रंथ का बंगला भाषा से क्या संबंध हो सकता है, यह पूछा जा सकता है। पर संबंध यों निकल आता है कि कुछ विद्वान् जैसे जर्मन विद्वान् पिशल और मजुमदार यह सन्देह करते हैं कि 'गीत गोविन्द' पूर्व में प्रचलित पश्चिमी अपभ्रंश में या प्राचीन बंगला में लिखा गया था, और उसे बड़ी जनप्रियता प्राप्त हुई थी। पूर्वोल्लिखित 'प्राकृत-पैगल' में जयदेव से मिलती-जुलती कुछ अवहत्त कविताएं पाई गई हैं। इससे इस

अनुमान को बल मिलता है

ऐसा अनुमान किया जाता है कि जयदेव की लिखी हुई कविताएं पंडित-समाज को इतनी पसंद आई कि उन्होंने उन्हें थोड़ा-बहुत परिवर्तित करके संस्कृत बना दिया। यह याद रखने की बात है कि उस समय की लौकिक भाषा संस्कृत से बहुत दूर नहीं थी, और उसमें मामूली परिवर्तन करने पर वह संस्कृत बन सकती थी। इस सबंध में उदाहरण के तौर पर यह बताया गया है कि जैसे प्राचीन इटालियन को थोड़ा बदलने पर ही वह लैटिन बन सकती थी, उसी प्रकार से उस समय की लौकिक भाषा की रचना स्वल्प आयास से संस्कृत वन सकती थी।

जयदेव की ये संस्कृतीकृत कविताएं सारे भारत में 'गीत गोविन्द' के नाम से प्रसिद्ध हुईं और वे संस्कृत-साहित्य में अनूठी मानी जाती हैं। जब बाद में सोलहवीं शताब्दी में वैष्णव धर्म का जोर हुआ तो 'गीत गोविन्द' को धार्मिक महत्व प्राप्त हुआ। यह रचना उन दिनों की हालत को देखते हुए बहुत जल्दी प्रसिद्ध हुई और १४९९ तक उसे इतनी मर्यादा प्राप्त हो गई कि एक अभिलेख में यह उल्लेख मिलता है कि पुरी में जगन्नाथ की मूर्ति के आगे इसका गायन ज़रूरी बताया गया है।

यह बताया जाता है कि जयदेव की शैली का बंगला गीति-कविता पर बहुत अधिक असर पड़ा, साथ ही यह भी माना गया है कि जयदेव ने जिस भाषा में मौलिक रूप से इसकी रचना की थी, उस रूप में वह हम तक पहुंच नहीं सकती थी। संस्कृत में हो जाने के कारण ही उसकी रक्षा हुई है। जो हो, 'गीत गोविंद' को बंगला भाषा के इतिहास में ऊपर बताये हुए कारणों से बहुत महत्व प्राप्त है। यह भी बताया जाता है कि यदि 'गीत गोविंद' अपने मौलिक लौकिक रूप में होता और हम तक पहुंचता तो बहुत परिवर्तित होकर पहुंचता, जैसा कि बाद के कई ग्रन्थों की दशा हुई। जो भी नकल करता गया, वही समयानुसार उसकी भाषा में 'सुधार' करता गया। नतीजा यह हुआ कि प्राचीन बंगला की रचनाएं इतनी परिवर्तित होकर हमारे सामने आई कि उन्हें प्राचीन करके पहचानना असंभव है।

चर्यापदों के संबंध में यह बात नहीं हो सकी या 'श्रीकृष्ण-कीर्तन' का इस प्रकार आधुनिकीकरण नहीं हो सका, इसका कारण, जैसा कि सुनीतिबाबू ने बताया है, यह है कि ये रचनाएं पुरानी पोथियों में दबी पड़ी रहीं और वे नकल करनेवाले

सुधारकों के प्रकोप से बचे रहे। इस प्रकार 'श्रीकृष्ण-कीर्तन' हमें मौलिक रूप में प्राप्त है। इसके रचयिता चंडीदास है। यहीं से हम बंगला साहित्य के ऐसे सोपान में प्रवेश करते हैं, जहां से उसका बंगला होना किसी प्रकार संदिग्ध नहीं है। पर आगे के इतिहास का वर्णन करने के पहले हम एक बार फिर पीछे की ओर लौटेंगे।

'डाकार्णव' नाम का एक ग्रन्थ इस प्रसंग में उल्लेखनीय है। डाक नाम के किसी व्यक्ति ने, या संभव है बहुत-से व्यक्तियों ने, इसकी रचना की। डा०दिनेश सेन के अनुसार इसमें दसवीं शताब्दी के बंगला का उदाहरण मिलता है। ऐसा मालूम होता है कि इसी ग्रंथ के कई रूप प्राप्त है। कुछ पंक्तियां ऐसी है, जिनका कोई अर्थ ही पल्ले नही पड़ता। शायद इसके रचयिता बौद्ध थे। मज़े की बात यह है कि इसमें बौद्ध पुट के साथ-साथ चार्वाक की प्रसिद्ध उक्तियों के ढंग की वाणी भी मौजूद है। धार्मिक ढंग के वचन इस प्रकार है—

धर्म करिते जबे जानि, पाखरि दिया राखिब पानि।
गाछ रुइले बडो धर्म···
जे देइ भात शाला पानि शालि, शे न जाई यमेर पुरी।

—जो धर्म करना चाहता है, वह पोखरा खुदावे। पेड़ लगाना बहुत बड़ा धर्म है। जो क्षेत्र या पौशाला स्थापित करता है, वह यमपुरी नहीं जाता।

यह स्पष्ट है कि यहां यमपुरी से मतलब नरक से है। ऊपर जो वचन उद्धृत किये गए हैं, वे धार्मिक ढंग के हैं, पर इन्हें देखिये—

भालो द्रव्य जखोन पाबो, कालिकारे तुलिया ना थोबो।
दधि दुग्ध करिया भोग, औषध दिया खंडाबो रोग।
बले डाक एई संसार, आपन भइले किसेर आर ?

—जब अच्छा माल मिलेगा तो उसे कल के लिए रख नहीं देना है। दही-दूध-भोग करके यदि कोई रोग हो गया तो दवा से उसे मारेंगे। डाक कहता है कि यही तो संसार है। जब आप ही मर गये तो फिर और कौन-सी बात है!

यह स्पष्ट है कि डाक के वचनों में हर तरह का संग्रह है और वह किसी

एक मतवाद की पुस्तक नहीं है। डाक के वचनों की तरह खना के वचन भी प्राचीन बंगला साहित्य की एक अमर निधि इस अर्थ में हैं कि अब इतनी शताब्दियों के बाद भी उनके वचन लोगों में कहावतों के रूप में अनायास प्रचलित हैं। अवश्य वे अपने प्राचीन रूप में प्रचलित न होकर सुधरे हुए रूप में प्रचलित हैं। खना के वचन मुख्यत: खेती-संबंधी हैं। कुछ नमूने इस प्रकार हैं—

दिने रोद राते जल, ताते धानेर बाडे वल।

—यदि दिन को धूप रहे और रात को पानी बरसे तो धान ज़ोर करता है।

यदि बरे आगने, राजा नामेन मांगने

—यदि अगहन में बरसे तो राजा रोटी को तरसे।

ऊपर के उदाहरणों से यह ज्ञात होगा कि खना के वचन क्यों जनप्रिय थे। मकान बनाने के संबंध में भी खना अपनी राय बता गये हैं—

पूबे हांस, पश्चिमे बांस
उत्तरे बाग दक्षिणे फांक

—पूरब की तरफ तो हंस हो याने तालाब रहे, पश्चिम की तरफ बांसों की झाड़ रहे, उत्तर में बाग हो और दक्षिण में खुला रहे।

उस युग की सामाजिक धारणाएं भी डाक के वचनां में पढ़ी जा सकती हैं, जैसे एक स्थान में लिखा है कि "जब पति घर में बैठता है और स्त्री बाहर बैठकर मुस्कराती रहती है, ऐसी स्त्री के साथ जिसका वास है, उसके जीवन को कोई आशा नहीं है। जो स्त्री घर के अंदर चूल्हा होने पर भी बाहर खाना पकाती है, बालों को कुछ फुलाकर बांधती है, बार-बार मुड़-मुड़कर पीछे की ओर देखती है, राहगीर को तिरछी निगाह से देखती है, इत्यादि, उस स्त्री को घर में नहीं रखना चाहिए।"

डाक के वचनों में दवा-दारू, पथ्य-कुपथ्य का भी वर्णन है, जैसे एक बारहमासी है जिसमें कहा गया है कि कातिक में जिमीकंद और अगहन में बेल, पूस में कांजी, माघ में तेल, फागुन में अदरक, चैत में कड़वी चीज़, वैशाख में नीम और नालिता नाम की एक वस्तु, जेठ में मट्ठा और आषाढ़ में दही, सावन में खील, भादों में ताड़ और आश्विन में खीरा लाभदायक होता है।

यह द्रष्टव्य है कि साहित्य उस समय लोगों की किसी-न-किसी प्रकार की

आवश्यकता की पूर्ति करता रहा। खना और डाक के वचन इतने अधिक प्रचलित हैं कि इनके साथ किसी और रचना की इस संबंध में तुलना करना उचित नहीं ज्ञात होता।

खना को उज्जयिनी के राजा विक्रमादित्य के दरबार के वराहमिहिर की स्त्री बतलाया गया है, पर यह बात सही नहीं मालूम देती। इसी प्रकार डाक एक ग्वाला माना गया है, जो संभव है सही हो। असल बात यह है कि इनका पूर्ण परिचय तो क्या, कुछ भी परिचय उपलब्ध नहीं है।

बंगाल में हिंदू धर्म के साथ-साथ बौद्ध धर्म का भी बहुत दिनों तक जोर रहा। पर धीरे-धीरे बौद्ध धर्म का प्रचार घटने लगा और उसके स्थान पर हिंदू धर्म का प्रचार होने लगा। साहित्य में इसका एक प्रभाव यह हुआ कि कई बौद्ध ग्रंथ हिंदू धर्म-ग्रंथों के रूप में बदल गये। बुद्ध को शिव के रूप में बदल दिया गया, और धर्म के स्थान पर धर्मठाकुर की पूजा होने लगी। संघ को शंख में बदल दिया गया। पर इतना बदलने पर भी, जैसा कि श्री दिनेशसेन ने बताया है, इस प्रकार के साहित्य में कई ऐसे अंश रह गये, जिनसे प्रमाणित होता है कि ये ग्रंथ मौलिक रूप से बौद्ध ग्रंथ थे। फिर भी इन असंगतियों के बावजूद धर्मठाकुर की पूजा प्रचलित हुई और धर्ममंगल आदि कई ग्रंथ प्रचलित रहे, जिनमें धर्मठाकुर की पूजा का प्रचार किया गया।

धर्मठाकुर की पूजा के संबंध में शून्य पुराण में एक पंक्ति ऐसी आती है, जिससे स्पष्ट हो जाता है कि धर्मराज यज्ञ की निंदा करते हैं। इसके अलावा और भी अन्य उल्लेख ऐसे हैं, जिनसे इस पुराण पर चढ़े हुए बौद्ध रंग का पता लगता है। एक स्थान पर कहा गया है—'सिंहले श्री धर्मराज वहुत सम्मान।' यानी सिंहल में श्री धर्मराज का बहुत सम्मान है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि किस धर्म से इस पुराण का पहले संबंध था।

शून्यवाद बौद्ध धर्म से उत्पन्न बल्कि बाद के दिनों में उसीके अंतर्गत एक मतवाद था, जिसमें सब चीज़ों की उत्पत्ति शून्य से बतलाई गई है। धर्ममंगल में इसी मतवाद का प्रचार मिलता है। धर्मठाकुर के मंदिरों में हाडी, डोम आदि कथित नीच जाति के लोग पुरोहित थे और हम पहले ही बतला चुके हैं कि ये कथित नीच जाति के लोग प्राक आर्य युग के हैं। इससे हम समझते हैं कि धर्मठाकुर की पूजा में केवल बौद्ध ही नहीं, कुछ प्राक आर्य या आर्येतर प्रभाव भी होंगे।

एक बहुत मजे की बात यह है कि यद्यपि धर्मठाकुर की पूजा को संपूर्ण रूप से हिंदू सांचे में ढाल दिया गया है, फिर भी डा० दिनेशसेन ने बतलाया है कि कम-से-कम १६४० ई० तक ब्राह्मणों को यह हिम्मत नहीं हुई कि धर्मठाकुर के उपासकों के साथ अधिक हेल-मेल बढ़ावें। बात यह है कि उस समय तक धर्मठाकुर की पूजा हिंदू धर्म के बाहर समझी जाती थी। मैं समझता हूं कि इस बात की व्याख्या की जरूरत है कि धर्मठाकुर की पूजा को प्रायः संपूर्ण रूप से हिंदू बना लेने पर भी ब्राह्मण उससे अलग क्यों रहे तथा वे ऐसा क्यों समझते रहे कि इन उपासकों के साथ मिलने से धर्म नष्ट हो जायगा या जाति चली जायगी। हमारी समझ में इसकी व्याख्या यही हो सकती है कि सिद्धांत रूप में धर्मठाकुर की पूजा बहुत-कुछ हिंदू हो जाने पर भी इसके पुरोहित-वर्ग, साथ ही इसका वातावरण, एक बड़ी हद तक अहिंदू रहा, इसी कारण ब्राह्मण इससे अलग रहते रहे।

बंगाल में धर्म-पूजा के सबसे बड़े प्रतिपादक रामाई पंडित माने गये, जो शून्य पुराण के रचयिता थे। रामाई पंडित का जन्म वैशाख शुक्ल के दिन हुआ था, पर वर्ष का ठीक पता नहीं है। कुछ प्रमाण ऐसे मिले हैं जिनसे यह कहा जा सकता है कि वह दशवीं शताब्दी ई० के अन्त की ओर पैदा हुए। रामाई पंडित के वंशधर यह दावा करते हैं कि रामाई ब्राह्मण थे, पर यह बात विश्वसनीय नहीं है। रामाई पंडित के वंशधर अब भी मैना नामक स्थान के एक मंदिर में पुरोहिती करते हैं और वे डोम पंडित कहलाते हैं। यद्यपि उनकी इज्ज़त किसी ब्राह्मण से कम नहीं है, तथापि वे ब्राह्मण नहीं माने जाते। कई बार ऐसा हुआ है कि किसी संत की मर्यादा बढ़ाने के लिए उन्हें ब्राह्मण बता दिया गया, पर वस्तुस्थिति कुछ और ही थी।

रामाई पंडित ब्राह्मण थे, फिर भी उनके वंशधर डोम कैसे हो गये, इसकी व्याख्या करने के लिए धर्मठाकुर के उपासकों में कई प्रकार की अनुश्रुतियां प्रचलित हैं। एक तो यह है कि स्वयं धर्मठाकुर ने रामाई पंडित को यह शाप दिया था कि ऊंची जाति का कोई व्यक्ति तुम्हारा पानी नहीं पियेगा। दूसरी अनुश्रुति यह है कि रामाई पंडित ने अपने पुत्र धर्मदास को यह शाप दिया था कि तुम जातिच्युत होकर डोम हो जाओ। यह कहीं नहीं बताया गया कि आखिर यह शाप किस अपराध के कारण दिया गया। इन बातों से यह स्पष्ट है कि रामाई

पंडित के ब्राह्मण होनेवाली बात मनगढ़ंत और बाद की उपज है। शून्य पुराण में जो कहीं-कहीं रामाई पंडित के साथ द्विज शब्द आता है, वह क्षेपक है।

रामाई पंडित का कोई प्रामाणिक जीवन-चरित नहीं मिलता। यह कहा जाता है कि उन्होंने ८० साल की उम्र में शादी की और उनका धर्मदास नाम से एक पुत्र हुआ, जिसके चार पुत्र हुए। शून्य पुराण में आदिम शून्य का वर्णन यों किया गया है—

नहीं रेख, नहीं रूप, नहीं छिल वन्न, चिन
रवि, शशि नहि छिल, नहीं छिल राति दिन।
नहि छिल जल, थल, नहिं छिल आकाश,
मेरु मंदार ना छिल, ना छिल कैलाश।
नहि छिष्टि छिल, आर नहिं सुर, नर,
ब्रह्मा, विष्टु ना छिल, न छिल अंबर।

जो उद्धरण दिया गया, उसमें यदि यह बता दिया जाय कि छिल शब्द का अर्थ 'था' है, तो उसे समझने में कोई विशेष कठिनाई न होगी।

शून्य पुराण में शिव, विष्णु, ब्रह्मा आदि पौराणिक देवताओं के नाम आते हैं, पर उनका चेहरा बदला हुआ है और उनके काम भी भिन्न हैं। इस पुस्तक में कुछ गद्य अंश भी आते हैं, जिनसे उस समय की भाषा का और भी विशद ज्ञान होता है। बाद को क्षेपक के रूप में इसमें एक अध्याय जोड़ा गया, जिसमें बौद्ध धर्म के पतन, हिन्दू धर्म के उत्थान, यहांतक कि ब्राह्मणों और मुसलमानों की एक लड़ाई का भी उल्लेख आता है। यह लड़ाई जाजपुर में हुई, ऐसा बताया जाता है। इस युद्ध-वर्णन की विशेषता यह है कि इसमें मुसलमानों को देवी और देवताओं का अवतार बतलाया गया है, जो ब्राह्मणों को इस कारण सजा देने आये कि उन्होंने सतधर्मियों याने बौद्धों पर अत्याचार किया था।

ऐसा अनुमान है कि यह क्षेपक ३०० वर्ष बाद सहदेव चक्रवर्ती के द्वारा रचित होकर जोड़ा गया। सहदेव चक्रवर्ती धर्ममंगल के अन्यतम रचयिताओं में माने गए हैं। इस युद्ध-वर्णन में यह बताया गया है कि धर्म जब बैकुंठ में ब्राह्मणों के अत्याचारों से दुखी हुए तो वे यवन का रूप धारणकर, काली टोपी लगाकर खुदा का नाम धारणकर आगे बढ़े। सब देवता पायजामा पहने हुए थे। ब्रह्मा मुहम्मद बन गए, विष्णु पैग़म्बर बने, शिव आदम बने, गणेश गाज़ी बने,

कार्तिक काज़ी बने, नारद शेख बने और इन्द्र मौलाना बने। चंडिका हयाबीबी बनी और पद्मावती नूर बीबी बनी। सबने मिलकर मंदिरों और मठों को लूट लिया।

इसमें जिस जाजपुर की लड़ाई का उल्लेख है, उसका कुछ ऐतिहासिक पता नहीं मिलता। जो कुछ भी हो, इस उल्लेख की अन्तर्निहित बातें सत्य मालूम देती हैं। इसमें की पहली बात तो यह है कि बंगाल में ब्राह्मणों ने बौद्धों पर इतना अत्याचार किया था कि जब मुसलमान आये तो बौद्धों ने मुसलमानों का साथ दिया। विदेशी मुसलमान त्राणकर्ता के रूप में नहीं आये थे, इसलिए उनका भी दमन-चक्र चला, पर बौद्धों ने हिंदू बनने के बजाय मुसलमान बनना स्वीकार किया। यही कारण है कि बंगाल में मुसलमानों की संख्या अधिक हो गई। बौद्ध हिंदुओं से बहुत चिढ़े हुए थे।

हम पहले ही धर्ममंगल कविताओं का उल्लेख कर चुके हैं। यह एक संग्रह है। जिन कवियों की कविताएं इसमें संगृहीत हैं, उनमें **मयूर भट्ट** सबसे प्राचीन हैं। मयूर भट्ट का काल-निर्णय अभी नहीं हुआ है, पर वह मुस्लिम-विजय के कुछ पहले रहे होंगे। मयूर भट्ट के संबंध में कहा जाता है कि वह ब्राह्मण-परिवार के थे। धर्ममंगल-संबंधी कविताओं में ग्यारहवीं सदी के एक राजा लाऊसेन की वीरता की कहानियां वर्णित हैं। यह कहानी मोटे तौर पर यों है कि सोमघोष नाम से गौड़ेश्वर के राजमहल में एक नौकर था। यह राजा का प्रियपात्र हो गया और उसे ढाकुर में एक जागीर मिली। सोमघोष का लड़का इचाई घोष काली का पूजक था और वह एक नामी योद्धा बन गया। धीरे-धीरे वह इतना शक्तिशाली हो गया कि उसने गौड़ेश्वर के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। सोमघोष लड़के को समझाते रहे, पर उसने पिता की बात नहीं मानी। मजबूरी से गौड़ेश्वर ने उसके विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया और मैनागढ़ के राजा कर्णसेन को उसके विरुद्ध लड़ने को भेजा। कर्णसेन युद्ध में हार गया और उसके चार पुत्र मारे गये। जब वह हारकर अपनी राजधानी में पहुंचा तो रानी भी पुत्र-शोक से मर गई। इसी हालत में कर्णसेन गौड़ेश्वर के पास गया तो गौड़ेश्वर को बड़ा दुःख हुआ और मानो उसका दुःख दूर करने के लिए गौड़ेश्वर ने अपनी सुन्दरी साली का ब्याह कर्णसेन से कर दिया। इसी विवाह से लाऊसेन उत्पन्न हुआ। जब लाऊसेन बड़ा हुआ तब उसने कामरूप के राजा तक को हराया। लाऊसेन ने गौड़ेश्वर की आज्ञा

से राजा हरिपाल को भी हराया। हरिपाल पर चढ़ाई का कारण यह था कि उसने गौड़ेश्वर से अपनी कन्या की शादी करने से इनकार किया था। इस लड़ाई में स्वयं राजकुमारी सेना का संचालन कर रही थी।

पर वह हार गई, और यद्यपि लड़ाई का आरंभ गौड़ेश्वर को कन्यादान करने से इनकार करने पर हुआ था, फिर भी गौड़ेश्वर ने विजय की खुशी में राजकुमारी का ब्याह लाऊसेन से कर दिया। लाऊसेन इतना प्रबल हो गया कि गौड़ेश्वर के प्रधान मंत्री ने भी उसके विरुद्ध षड़यंत्र करना शुरू किया। काव्य में इन षड़यंत्रों के लंबे वर्णन भरे पड़े हैं और यह दिखाया गया है कि किस प्रकार लाऊसेन हर बार बचते रहे। धर्मठाकुर को लाऊसेन ने किस प्रकार अत्यंत कठिन व्रतों से रिझाया, इसका भी वर्णन बहुत विशद है। लाऊसेन के अतिरिक्त कालू डोम की स्त्री लोखा डोमनी और उसके पुत्र शक की भक्ति और त्याग की कहानी भी इसमें आती है। लाऊसेन के चरित्र को उभारकर सामने लाने के लिए उसे जिन प्रलोभनों का सामना कराया जाता है, उससे भी उस युग के जीवन पर, विशेषकर राजाओं के जीवन पर, रोशनी पड़ती है।

लाऊसेन, इचाई घोष आदि व्यक्ति ऐतिहासिक थे और उनके राजमहलों के खंडहर अभी देखे जा सकते हैं। जैसा कि हम पहले बता चुके, धर्ममंगल के कवियों में मयूर भट्ट सबसे प्राचीन हैं और डा० दिनेश सेन के अनुसार मयूर भट्ट का समय बारहवीं शताब्दी है। भाषा की दृष्टि से धर्ममंगल की कविताएं जिस रूप में हमें मिली हैं, वे बाद की ठहरती हैं, पर ऐसा इस कारण है कि हमें जो रूप देखने को मिला है, वह बहुत-कुछ परिवर्तित और आधुनिकीकृत है। आधुनिकीकरण के बावजूद इन कविताओं में ऐसे आंतरिक प्रमाण मौजूद हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि उनमें से कम-से-कम एक बहुत बड़ा अंश, जितना मालूम पड़ता है, उससे कहीं प्राचीनतर है। उनके अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि मौलिक रूप में वे और प्राचीन रहे होंगे।

'माणिकचंद्र राजार गान' ग्यारहवीं शताब्दी की रचना मालूम पड़ती है। कविता की दृष्टि से यह कोई ऊंची रचना नहीं है। इसमें हाड़ी सिद्ध के करिश्मों का वर्णन है, और अलिफ़ लैला की तरह असम्भव वीरता का वर्णन यत्रतत्र है। देवता और मनुष्य हेलमेल से विचरते और रहते हुए दिखाये जाते हैं। इन असंभव बातों के होने पर भी जहां-तहां समसामयिक समाज के संबंध में

सूचनाएं प्राप्त हो जाती हैं, जैसे उन दिनों व्यापार विनिमय से होता था और लगान कौड़ियों में अदा किया जाता था। धनी लोग सोने की थाली में पचासों तरह का पकवान खाते थे। इस पुस्तक की उपमाओं आदि से भी डा० सेन यह निष्कर्ष निकालते हैं कि इसके कवि संस्कृत-साहित्य आदि से अपरिचित थे। उदाहरणस्वरूप राजा गोपीचंद की रानी के दांतों की उपमा शोले से दी जाती है। उस समय की भाषा का कुछ नमूना यों है—

जिस समय गोपीचंद यति बनकर अपनी स्त्री उदुना को छोड़ने लगता है, तो वह कहती है—

ना जाइयो ना जाइयो राजा दूर देशांतर,
कारे लागिया बांधिलाम शीतल मंदिर घर।
निंदेर स्वपने राजा देवो दरिशन,
पालंके फेलाइब हस्त नाई प्रानेर धन
आमि नारि रोदन करिब खाली घर मंदिरे
अमाके संगे करि लइया जाओ।

—"हे राजा, दूर देशांतर में न चले जाओ। जो तुम चले जाओगे तो मैंने किस के लिए शीतल मंदिर, घर बांधा ? जो तुम चले जाओगे तो नींद में कभी-कभी दर्शन हो जाया करेगा, पर जब नींद में पलंग पर हाथ डालूंगी तो देखूंगी कि मेरे प्राणों का धन जा चुका। मैं अबला नारी खाली घर में रोती रहूंगी, मुझे साथ ले चलो।"

बाद के साहित्य में कहीं-कहीं राजा गोपीचंद का उल्लेख गोविंदचंद्र के रूप में किया गया है। दुर्लभ मल्लिक नामक बाद के युग के एक कवि ने इसी नाम से राजा का उल्लेख किया है। दुर्लभ मल्लिक के काव्य में शून्यवाद का प्रभाव भी यथेष्ट मात्रा में देखा जा सकता है। इसमें हाड़िपासिद्ध को शून्यवाद का प्रचार करते हुए दिखाया गया है। राजा गोपीचंद के संसार-त्याग की कथा बहुत-से कवियों के द्वारा गाई गई, यहांतक कि दूसरी भाषाओं में भी उसकी प्रतिध्वनि सुनी जा सकती है।

कम-से-कम बंगाल में शैव मतवाद के आगे ही बौद्ध धर्म परास्त हुआ, इसलिए शिव के संबंध में भी प्राचीन बंगला साहित्य में बहुत उल्लेख आते हैं। शिव के संबंध में जो कथाएं अन्यत्र प्रचलित हैं, उनके अतिरिक्त शिव को अक्सर

प्राचीन बंगला कविताओं में धान के खेतों में हाथ बटाते हुए और स्वयं खेती करते हुए दिखलाया गया है। शून्य पुराण में भी एक प्रसंग आता है, जिसमें शिव से कहा जाता है—भीख पर जीवन निर्वाह करने के कारण अक्सर तुम्हें भूखों मरना पड़ता है, इसलिए तुम ऐसा क्यों नहीं करते कि एक अच्छी-सी जमीन लेकर खेती में जुट जाओ। यदि अच्छा खेत न मिले तो पानी देकर उसे ठीक कर सकते हो। जब घर में चावल होगा तो रोज खाना खाने में आनंद भी आयेगा। भगवन्, भूख की ज्वाला कबतक सहोगे ? तुम कपास की खेती क्यों नहीं करते ? बाघ की खाल पहनकर कबतक चलोगे ? अपने शरीर पर भभूत क्यों लगाते हो ? इसके बदले सरसों और तिल की खेती क्यों नहीं करते, जिससे कि लगाने के लिए तेल हो जाय ? तरकारियां भी काफी बो लेना। और केला लगाना न भूलना, जिससे कि धर्मठाकुर की पूजा के सब सामान मिल जायं।

बाद के युग के साहित्य में शिव का यह खेतिहर रूप बार-बार आता है, और शिव खेती के संबंध में बहुत ब्यौरेवार उपदेश देते हैं, जैसे कब खेत तैयार किया जाय, कैसे किया जाय, निराई कैसे की जाय, इत्यादि।

: ३ :

चंडीदास और विद्यापति

इसके बाद हम अधिक ब्यौरे में न जाकर **चंडीदास** पर आते हैं, जो बंगला के प्रथम महत्वपूर्ण कवि कहे जा सकते हैं। चंडीदास की रचनाओं में एक उल्लेख से यह निष्कर्ष निकाला गया है कि १४०३ ई० के पहले ही वह करीब एक हज़ार गीत लिख चुके थे। यों तो इनका जन्म वीरभूमि जिले के छातना नामक गांव में हुआ था, पर वह बहुत कम उम्र में ही नानूर नामक गांव में जाकर बस गये थे। वहीं पर वह वासुलि देवी के मन्दिर में पुरोहित का काम करते रहे। कवि होने के अतिरिक्त एक प्रेमिक के रूप में चंडीदास की ख्याति यहांतक हो गई कि उनके नाम पर 'पागला चंडी' या पागल चंडी शब्द की उत्पत्ति हुई।

ऐसा मालूम होता है कि चंडीदास रामी नाम की एक धोबिन के प्रेमिक थे। बात बहुत ही साधारण है, पर इस प्रेम के वर्णन में बड़ी-बड़ी अजीब बातें कही गई हैं। कहा जाता है कि जिस दिन रामी के साथ मिलन के नक्षत्र आ गये, उस दिन चंडीदास को इसका आभास पहले ही हो गया था। वह मछली बाजार में मछली खरीदने गये हुए थे। वहां वह मोल-तोल कर रहे थे कि इतने में एक ग्राहक आया, जिसे मछलीवाली ने कविवर से ठहराये हुए दाम से कम दाम पर बड़ी खुशी से मछली दे दी। इसपर कविवर ने मछलीवाली से इस प्रकार भेद-बुद्धिमूलक व्यवहार का कारण पूंछा। तब मछलीवाली मुस्कराकर बोली—उसकी बात बिल्कुल भिन्न है, हम लोगों में परस्पर प्रेम है।

कविवर इस उत्तर के मथितार्थ पर सोचते रहे, और उसी दिन संयोग से रामी धोबिन उनके सामने पड़ गई और वह उसके प्रेम में व्याकुल हो गये। अब चंडीदास ने सार्वजनिक रूप से अपने गीतों में उस धोबिन का उल्लेख शुरू किया, इससे हिंदू समाज में बड़ी खलबली मची और उन्हें मंदिर के पुजारी के पद से हटा दिया गया, यहांतक कि उन्हें जाति से भी निकाल दिया गया। चंडीदास के भाई नकुल बीच में पड़े और किसी तरह यह तय पाया कि यदि चंडीदास ब्रह्मभोज दें तो उन्हें फिर से जाति में ले लिया जायगा। चंडीदास भोज देने पर राजी हो गये, पर उधर इस भोज की खबर रामी के पास पहुंची। रामी इस खबर से बहुत दुःखी हुई और वह रोती-धोती हुई उस स्थान पर पहुंची, जहां ब्राह्मण भोजन करने में लगे हुए थे। वहां जो उसने चंडीदास को देखा तो वह और भी रोने लगी। इसपर चंडीदास सारी परिस्थिति को भूल-कर रामी के सामने इस प्रकार पहुंचे, जैसे कोई भक्त देवी के सामने जाता है। कहा जाता है कि इस समय कुछ ब्राह्मणों ने धोबिन के पीछे चतुर्भुजी जगदंबा को देखा।

मालूम होता है कि सब ब्राह्मणों ने चतुर्भुजी जगदंबा को नहीं देखा, और केवल धोबिन को ही देखा। इसका नतीजा यह हुआ कि चंडीदास फिर जातिच्युत कर दिये गए। अब तो चंडीदास और भी खुलकर सामने आये और उन्होंने खुल्लमखुल्ला धोबिन को वेदमाता गायत्री करके सम्बोधन करना शुरू किया। ब्राह्मण और भी नाराज हुए और उनकी जिन्दगी दूभर कर दी गई, फिर भी उनके गीतों में ऐसा जादू था कि जब वह गाते थे तो जनता उमड़ पड़ती थी।

ऐसा कहा जाता है कि वह जिस समय गांव में लोगों को कीर्तन सुना रहे थे, उस समय छत गिर पड़ी और उनकी मृत्यु हो गई।

चंडीदास की कविता का मुख्य विषय कृष्ण और राधा है, जिसमें पूर्वराग, दौत्य, अभिसार, संभोग-मिलन, अन्तिम विच्छेद और उसके बाद भाव-सम्मेलन या मानसिक रूप से मिलन है। चंडीदास का प्रचार बंगाल में किसी भी प्रकार उससे कम नहीं है, जितना हिंदी-भाषी प्रांतों में सूर या तुलसी का है। काव्य की दृष्टि से भी उनकी रचनाएं बहुत उच्चकोटि की हैं और उस ढंग की किसी भाषा की रचना के साथ उसकी तुलना की जा सकती है। इस छोटी-सी पुस्तक में उनके काव्य की सम्यक् आलोचना नहीं की जा सकती, फिर भी उन्होंने कृष्ण की बांसुरी के संबंध में जो बात कही है—'कानेर भितर दिया मरमे पशिल गो, आकुल करिल मन प्रान' याने कान के अन्दर से होती हुई, मर्म में प्रविष्ट होकर मन और प्राण को आकुल कर देती है, वही बात उनकी कविता के संबंध में भी लागू होती है। चंडीदास को और भी अधिक श्रेय इसलिए मिलना चाहिए कि उनके समय में भाषा अविकसित थी, इस कारण उन्हें एक तरफ तो भाषा का निर्माण करना पड़ा, दूसरी तरफ उसमें चमत्कारपूर्ण कविता लिखनी पड़ी।

चंडीदास तथा इस प्रकार के उस युग के कवियों की कविता को कूतने में एक बात यह याद रखनी चाहिए कि यदि कोई तुल ही जाय तो इनकी सारी कविताओं को आंशिक रूप से पूर्ववर्ती विशेषकर संस्कृत काव्य की छाया, अनुकरण या जूठन प्रमाणित कर सकता है। इससे न तो चंडीदास बरी हैं और न हिंदी के प्राचीन महाकवि। इसलिए हम उस कसौटी को तो छोड़ ही देते हैं। अवश्य यहां यह बता दें कि छाया और अनुकरण के बावजूद उस युग के दूसरी भाषाओं के कवियों की तरह उनमें मौलिकता भी बहुत थी। चंडीदास का रूप-वर्णन लीजिये—

सुधा छानिया केबा ओ सुधा ढेलेछे गो
ते मति श्यामेर चिकन देहा
अंजन गंजिया केबा खंजन आनिल रे
चांद निगाड़ी कइल थेहा —इत्यादि

—"किसने अमत को छान करके उस अमत को ढाला है. श्याम की चिकनी देह

उसीकी तरह है। कौन अंजन लगाकर खंजन ले आया और फिर चांद का सत निकाला, उसका सत निकालकर मुंह बनाया। गुड़हुल को निचोड़कर कपोल बनाये गए। बिम्बफल को हराकर किसने होंठ बनाये और हाथी की संड को लजानेवाले भुजदंड बनाये।"

ढूंढ़ने पर इस प्रकार का वर्णन सब प्राचीन संस्कृत तथा हिन्दी कवियों की रचनाओं में प्राप्त हो सकता है, पर यह याद रहे कि चंडीदास का समय चौदहवीं शताब्दी और कुछ ही हद तक पन्द्रहवीं शताब्दी था। फिर भी ऐसे वर्णनों में कोई विचित्रता नहीं है। पर भारत के प्राचीन कवियों की रचनाओं में अधिकतर इसी प्रकार के वर्णन भरे पड़े हैं।

एक और उदाहरण लीजिये—

राधार कि होइलो अंतर व्यथा
सेजे बोसिया एकले थाकये बिरले
ना शुने काहार कथा —इत्यादि

—'राधा को कितनी मानसिक व्यथा है। वह अकेली बैठी है, उसे एकांत पसंद है, वह किसीकी बात नहीं सुनती। जैसे ध्यान लगा रही हो, बादल की तरफ देख रही है, आंखों की पुतलियां स्थिर हैं। वह खाने में रुचि नहीं रखती और जोगिनों की तरह लाल कपड़ा पहने हुए हैं। वह जूड़ा खोलकर फूलों को डाल देती है और फिर अपने लटकते हुए बालों को देखती है। वह आकुल नयनों से बादल की तरफ ताककर कुछ बड़बड़ाती है। वह इकटक मोर और मोरनी के कंठ को देखती है। चंडीदास कहता है कि सांवरे के साथ नया परिचय मालूम होता है।"

ऊपर हम जो कुछ कह आये हैं, वह इस कविता पर भी लागू होता है। फिर भी चंडीदास की कुछ रचनाएं ऐसी प्राप्त होती हैं, जिनमे मौलिकता इस माने में बहुत अधिक है कि अनुप्रेरणा काव्यों से न लेकर शायद लोक-साहित्य और स्वानुभव से ली गई है। चुटीली भाषा के कारण वह जो कुछ कहते हैं, वह बहुत ही मर्मस्पर्शी बन गया है।

ऐमन पीरिति कभू देखि नाइ सुनि,
पराने परान बांधा आपना आपनि —इत्यादि

—"ऐसा प्रेम न कहीं देखा गया न सुना गया, प्राणों से प्राण अपने-आप बंधा

हुआ है। एक-दूसरे की गोद में पड़े हुए हैं, फिर भी विछोह की बात सोचकर दोनों रो रहे हैं। बात यह है कि एक पल के लिए भी एक-दूसरे को न देखें, तो मरने लगते हैं। जल के बिना मीन जैसे कभी नहीं जीती, वैसे ही यह प्रेम है। ऐसा प्रेम मनुष्यों में कभी देखा नहीं गया। कहते हैं, सूर्य और कमल का प्रेम है, पर कमल तो ठंड में मरता रहता है और सूर्य गुलछर्रे उड़ाता है। चातक और बादल के प्रेम के साथ भी इसकी तुलना नहीं हो सकती, क्योंकि चातक भले ही मर जाय, समय न आने पर बादल एक बूंद भी पानी नहीं देता। पुष्प और मधुकर की भी इस प्रेम से तुलना नहीं की जा सकती, क्योंकि यदि मधुकर स्वयं न आवे, तो पुष्प नहीं जाता। चकोर और चंद्रमा ये तो कुछ भी नहीं हैं। चंडीदास का कहना है कि तीनों भुवन में ऐसा प्रेम नहीं देखा गया।

एक और पद लीजिये—

बधु तुमि से आमार प्रान
देह मन आदि तोहारे सपेछि
कुल शील जाति मान
अखिलेर नाथ तुमि हे कालिया
योगिर आराध्य धन।
गोप ग्वालिन हम अति दीना
ना जानि भजन पूजन।
कलंकी बलिया डाके सबलोके
ताहाते नाहिक दुःख
तोमार लागिया कलंकेर हार
गलाय परिते सुख

—"प्रियतम तुम मेरे प्राण हो। मैंने देह, मन, कुल, शील, जाति, मान सब तुम्हें सौंप दिया। हे अखिल के नाथ श्याम, तुम योगियों के आराध्य धन हो। हम गोपियां हैं, बड़ी दीन हैं, भजन-पूजन कुछ नहीं जानतीं। सब लोग हमपर कलंक लगाते हैं, पर उसका मलाल नहीं है। तुम्हारे लिए कलंक का हार गले में धारण करना सुख की बात है।"

चंडीदास की कविता को कथक सैकड़ों वर्षों से सुना रहे हैं और गायक

गा रहे हैं। वह श्री चैतन्य महाप्रभु के प्रभाव के कारण बंगाल के बाहर विशेषकर उड़ीसा और आसाम में, प्रचारित हुई।

विद्यापति

विद्यापति भी उसी प्रकार से बंगाल के कवि समझे जाते हैं, जिस प्रकार से चंडीदास समझे जाते हैं। उनकी कविताओं का भी बंगाल में उसी प्रकार से प्रचार और प्रसार रहा है, जिस प्रकार से चंडीदास की रचनाओं का प्रचार है। बंगाली उनको बंगला कवि ही समझते रहे हैं और कोई वजह नहीं कि आगे उन्हें ऐसा न समझें। श्री प्रियरंजन सेन इस सम्बन्ध में लिखते हैं—"संस्कृत के परदे को हटाकर भाषा के अपरूप सौंदर्य को लेकर विद्यापति आ खड़े हुए। उनका घर मिथिला में था और जिस भाषा में उन्होंने काव्य-रचना की, वह शुद्ध बंगला नहीं है, फिर भी वह बंगाल के ही कवि हैं। कहींपर उनका प्रभाव इतना व्याप्त नहीं हुआ, जितना बंगाल में हुआ और बाद को जिस तरह श्री चैतन्य महाप्रभु ने उनकी काव्यसाधना को मूर्त्त किया, वैसा भी कहीं संभव नहीं हुआ। विद्यापति बंगला भाषा के ही कवि हैं, यद्यपि मैथिल साहित्य के पक्ष में डिग्री हो चुकी है।"[१]

इसमें संदेह नहीं कि विद्यापति ने मैथिल भाषा में रचना की, पर बंगाल में उनकी रचनाओं का जो संस्करण प्रचलित है, वह मैथिल में प्राप्त संस्करण से कुछ भिन्न है। ऐसा अनुमान करना अनुचित न होगा कि बंगालियों के द्वारा गाये जाते-जाते मूल रचना का बंगीकरण हुआ। साहित्य के इतिहास में इस प्रकार की बात अज्ञात नहीं है। श्री दिनेश सेन का तो यहांतक कहना है कि बंगाल में प्रचलित विद्यापति की रचनाएं कहीं-कहीं मिथिला में सुरक्षित उनके मैथिल संस्करण से उच्चकोटि के हैं। विद्यापति के नाम से प्रचलित कई उत्कृष्ट रचनाएं जैसे :

जनम अवाध हम रूप नेहारिनु
नयन न तिरपित भेल

बंगाल में ही पाइ जाती हैं और मिथिला में उनका कोई पता नहीं है। अनु-

१ बांगला साहित्येर खसड़ा, पृ० ५६

श्रुति यह है कि जसोर के राजा प्रतापादित्य के चाचा वसंतराय ने विद्यापति का बंगला संस्करण तैयार किया। जो कुछ भी हो, इस बंगला संस्करण के कारण विद्यापति को केवल रियायती तौर पर नहीं, एक विशुद्ध बंगला कवि भी माना जा सकता है। यहांपर हम एक बात यह भी कह दें कि यों हिंदी के संग्रहों में विद्यापति एक प्राचीन हिंदी कवि करके दिखाये जाते हैं, पर हिंदी के नवरत्नों तक में उनकी गिनती नहीं है। हम यह कहने का साहस करते हैं कि विद्यापति की उचित कद्र हिंदी में नहीं हुई हैं। मेरा निजी मत यह है कि वह सूर या तुलसी से किसी प्रकार घटकर नहीं हैं।

विद्यापति की जीवनी के ब्यौरे में जाने की आवश्यकता नहीं है। हिंदी के संग्रहों में भी उनकी जीवनी पढ़ी जा सकती है। विद्यापति चौदहवीं सदी के अंत की ओर पैदा हुए और ऐसा समझा जाता है कि वह बहुत दीर्घजीवी रहे। विद्यापति राजा शिवसिंह के सभा-कवि थे। कहा जाता है, वह रानी से प्रेम करते थे, जो उसी प्रकार था, जैसे नक्षत्र के लिए पतंग का प्रेम है। कहा जाता है कि विद्यापति और चंडीदास में गंगा-किनारे भेंट भी हुई थी। विद्यापति का बंगीकरण किसी-किसी क्षेत्र में इतना अधिक हुआ कि उनकी बंगीकृत रचनाओं को बंगला के अलावा कुछ समझना मुश्किल है। प्रत्येक बंगाली के निकट सुपरिचित इन पंक्तियों को देखिये—

मरिब मरिब साख, निचय मरिब
कानु हेन गुण निधि, कारे दिये जाबो।
तोमरा जतेक सखि, आछ मझु संगे,
मरणकाले कृष्णनाम लिख अमार अंगे।
ना पुड़िओ राधा अंग, ना भासाइयो जले,
मरिले बांधिया रेख, तमालेर डाले।

चंडीदास और विद्यापति की तुलना करते हुए डा० सेन कहते हैं, "ऐसा मालूम होता है कि चंडीदास तो प्रकृति से अनुप्रेरित हैं, उनकी पुकार आत्मा की गहराइयों से उठी हुई पुकार है। नतीजा यह है कि साहित्यिक अलंकरण पर ध्यान नहीं दिया जाता, कविता एक स्वाभाविक सोते से उमड़कर निकल पड़ती है और उसके विशुद्ध सोते में कोई मिलावट नहीं है। पर विद्यापति एक आत्मज्ञान-सम्पन्न कवि और सुलझे हुए विद्वान् हैं। उनकी उपमाएं और उत्प्रेक्षाएं प्रतिभा

से उज्ज्वल कवि-कीर्ति के रूप में हैं। उनकी कविताएं फौरन कर्णों को मुग्ध कर लेती हैं और जिस साहस के साथ वह रंग भरते हैं, उनसे आंखें चकाचौंध हो जाती हैं।··· चंडीदास उच्चतर मंडलों के पक्षी हैं, जहां संभव है, पार्थिव सौंदर्य कम हो, पर वह स्वर्ग के अधिक निकट है। इसके विपरीत विद्यापति दिन भर सूर्य-चुंबित कुंजों और पुष्पोद्यानों में विचरते रहते हैं, पर संध्या समय वह ऊंचे उड़ते हैं और वह चंडीदास को पकड़ लेते हैं।"[1] श्री अन्नदाशंकर राय और लीला राय ने भी विद्यापति के सम्बन्ध में यह लिखा है, "यद्यपि विद्यापति ऐहिक और विदग्ध थे, फिर भी उनमें चंडीदास की आध्यात्मिक अंतर्दृष्टि और भावनागत गहराई का अभाव है, जिसकी पूर्ति वह छन्द और वाक्य-विन्यास पर अद्भुत अधिकार से कर देते हैं। वह जिस प्रकार सौंदर्य को उसके सब स्वरूपों में चित्रित करते हैं, उससे वह निश्चित रूप से एक महाकवि प्रमाणित होते हैं।"[2]

इस संबंध में यह भी स्मरण रखने योग्य है कि कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ विद्यापति से बहुत प्रभावित हुए। अन्नदाशंकर के अनुसार प्राचीन कवियों में वह कालिदास और विद्यापति से ही अधिक प्रभावित हुए।

: ४ :

धार्मिक साहित्य

चंडीदास और विद्यापति के बाद बंगला में पुराणों पर आधारित बहुत अधिक साहित्य उपलब्ध होता है। इस युग में धार्मिक कथाओं को लेकर काव्य-रचना की परिपाटी बहुत अधिक चल पड़ती है। ये काव्य मंगलगायनों के रूप में सामन्तों की हवेली से लेकर किसान की कुटिया तक सर्वत्र पहुंचते थे। मंगल-गायन का रिवाज अब भी प्रचलित है। एक मुख्य गायक होता है और आठ-दस साथ देनेवाले होते हैं, जो मुख्य गायक को घेरकर अर्धचन्द्राकार रूप में बैठते हैं। श्रोता हज़ारों की संख्या तक पहुंच जाते हैं। बंगाल के पाल राजाओं के युग

---

[1] बंगला भाषा और साहित्य का इतिहास (सेन), पृ० १४६

[2] बंगला साहित्य (पी. ई. एन.), पृ० १५

में मंगलगायकों को बहुत अधिक प्रोत्साहन मिला। पौराणिक विषयों में कई ऐसे विषय भी आ जाते थे, जो सच कहा जाय तो पौराणिक नहीं हैं और केवल बंगाल में ही प्रचारित हैं।

स्वाभाविक रूप से मंगलगायकों में बराबर ऐसे विषयों की खोज बनी रहती थी, जिनसे वे अपने श्रोताओं को मुग्ध कर सकें। इससे नये साहित्य की, अवश्य एक विशेष प्रकार के साहित्य की सृष्टि की ओर लोगों का ध्यान गया। कई बार ऐसा भी हुआ कि ये मंगलगायक अच्छे कवि भी प्रमाणित हुए। हरिश्चन्द्र-शैव्या, नल-दमयन्ती आदि उत्तर भारत में सुपरिचित पौराणिक कहानियों के अतिरिक्त बेहुला, चंडीमंगल, मनसामंगल आदि बहुत-सी कहानियों के काव्य में संस्करण प्रकाशित हुए। प्रकाशित हुए से मतलब प्रकाश में आये हैं।

इन्हीं मंगलगायकों से अथवा उनके साहित्य से अनुप्रेरित होकर जिन लोगों ने स्थायी साहित्य की सृष्टि की, उनमें से कुछ ही के विषय में यहांपर विवरण दिया जा सकता है।

बंगला रामायण के लेखक **कृत्तिवास** का जन्म १३४६ ई० की फरवरी में हुआ। कहा जाता है कि उनके पूर्वपुरुष ७३२ ई० में राजा आदिसूर के युग में कन्नौज से आये थे। कृत्तिवास के पूर्वपुरुष कई सौ वर्षों तक इधर-उधर रहने के बाद चौबीस परगना के फुलिया नामक गांव में बस गये। कृत्तिवास संस्कृत काव्य और व्याकरण में पांडित्य प्राप्त करने के बाद गौड़ के राजा से मिलने गये। वहां राजा ने उनका आदर-सत्कार किया और उनसे कहा कि कुछ मांगो, पर उन्होंने यह कहकर कुछ लेने से इनकार कर दिया कि मांगना मेरी रीति नहीं है। राजा ने उन्हें सप्तकांड रामायण लिखने के लिए कहा और उन्होंने उसे करना सहर्ष स्वीकार किया।

कृत्तिवास की जो रामायण इस समय प्रचलित है, वह उनकी लिखी हुई असली रामायण से बहुत भिन्न हो गई है। क्षेपकों की भरमार है, इसके अतिरिक्त उसकी भाषा में बहुत परिवर्तन किया गया। एक तरफ यह जहां बहुत दुःख की बात है, वहीं पर इन्हीं परिवर्तनों का परिणाम यह है कि आज भी कृत्तिवास की रामायण उतनी ही जीवित है, जितनी वह कृत्तिवास के समय में रही होगी। दिनेश सेन ने यह बहुत सुंदर बात कही है कि कृत्तिवास की रामायण करीब-करीब उस युग की रचना है, जिस युग में चासर ने 'कैंटरबरी

टेल्स' लिखा था, पर जहां शेषोक्त पुस्तक केवल पुस्तकालयों की अल्मारियों में बंद पड़ी रहती हैं और केवल सुधीजन ही उसे पढ़ते हैं, वहां कृत्तिवास की रामायण घर-घर में नित्य पाठ्य साहित्य बना हुआ है।

बहुत प्रयत्न करने पर भी कृत्तिवास की मौलिक रामायण का उद्धार कठिन मालूम होता है, पर कृत्तिवास के संस्करणों ने बंगाल की जो सेवा की है, उसको देखते हुए दिनेश सेन ऐसे विद्वान् भी यह कहते हैं कि इन सेवाओं को देखते हुए कृत्तिवास की असली रामायण की विलुप्ति पर शोक करना कहां-तक उचित होगा। उनका कहना है कि जनता ने अवश्य ही कृत्तिवास की रामायण के उन अंशों को बचा लिया होगा, जो सुंदर और दिलचस्प थे, इसके अलावा समय की आवश्यकता के अनुसार शैली का सरलीकरण तथा आधुनिकीकरण हुआ होगा। रहे क्षेपक, सो उस युग के विचारों को स्थान देने के लिए जोड़े गये होंगे। ऐसा समझा जाता है कि वैष्णव कवियों ने इस पुस्तक में भक्ति का उपादान जोड़ दिया होगा।

मज़े की बात यह है कि परस्पर-विरोधी वैष्णव और शाक्त दोनों मत के लोगों ने कृत्तिवास के नाम से अपने-अपने वक्तव्य जोड़ दिये हैं। ऐसा करने से कृत्तिवास का भी भला हुआ और उनका भी भला हुआ। कृत्तिवास के नाम से उनकी बातें जनता तक पहुंचीं और इन क्षेपकों के कारण कृतिवास सब संप्रदायों में प्रिय बने रहे। उत्तर भारत में तुलसी की रामायण जिस चाव से पढ़ी जाती है, उसी चाव से बंगाल में कृत्तिवास की रामायण पढ़ी जाती है।

कृत्तिवास के बाद भी बहुत-से बंगाली कवियों ने रामायण को अपना विषय बनाया, पर वे कृत्तिवास की जनप्रियता प्राप्त न कर सके। कई लोगों ने रामायण के किसी एक विषय को लेकर जैसे सीता का बनवास या लक्ष्मण-दिग्विजय ऐसे विषय को लेकर काव्य-रचना की।

रामायण की तरह महाभारत के भी बंगला संस्करण तैयार हुए। महाभारत के सबसे प्राचीन बंगला संस्करण के रचयिता के रूप में **संजय** का नाम उल्लेखनीय है। संजय ने महाभारत को बहुत संक्षेप में लिखा, पर बाद में क्षेपकों के कारण उनका महाभारत एक बहुत बड़ा ग्रंथ हो गया। ऐसा समझा जाता है कि संजय कृत्तिवास के ही समसामयिक थे। संजय की कविता साधारण है, पर उनके क्षेपककारों में कई, जैसे राजेंद्रदास और गोपीनाथ दत्त ऊंचे दर्जे

के कवि थे।

महाभारत के अन्य रचयिताओं में **नसरतखां** नामक एक कवि हो गये हैं, पर उनका महाभारत अब प्राप्त नहीं है। यह भी पता चलता है कि परागलखां नामक एक सामंत की आज्ञा पर कवीन्द्र **परमेश्वर** ने एक महाभारत लिखा, जिसका समय १४६४ ई० से १५२५ ई० है। यह द्रष्टव्य है कि मुसलमानों ने हिंदुओं के धार्मिक साहित्य के सृजन में सक्रिय हाथ बटाया।

महाभारतकारों में **काशीराम दास** सबसे प्रसिद्ध हुए हैं। उनका महाभारत उसी प्रकार से अबतक पढ़ा जाता है, जिस प्रकार से कृत्तिवास की रामायण पढ़ी जाती है। जिस प्रकार से प्रचलित कृत्तिवासी रामायण में केवल कृत्तिवास का नाम-ही-नाम है, एक हद तक काशीराम दास के महाभारत का भी वही हाल है। उसमें न मालूम कितने क्षेपक जोड़े गये हैं और कितने परिवर्तन हुए हैं। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि काशीराम दास ने स्वयं कुछ हद तक अपने से पूर्ववर्ती महाभारतकार **नित्यानंद घोष** के महाभारत को अपना लिया।

ऐसा समझा जाता है कि पूर्वी बंगाल में संजय और कवीन्द्र परमेश्वर-रचित महाभारत तथा पश्चिमी बंगाल में नित्यानंद का महाभारत प्रचलित था। काशीराम दास ने इन सबको समाप्त कर दिया और जैसाकि बताया जा चुका, वह ऐसा तभी कर पाये, जब उन्होंने नित्यानंद को आत्मसात् कर लिया। डा० दिनेश सेन ने यह दिखलाया है कि नित्यानंद की रचना को अपनाते समय काशीराम दास ने कुछ मामूली परिवर्तन कर लिये। कई बार वह पूर्ववर्ती महाभारतकार की रचना को अपनाते समय उसे इस प्रकार परिवर्तित कर देते हैं कि वह एक नई चीज़ हो जाती है। इसके अलावा वह अपने महाभारत में ऐसे विषयों का वर्णन करते हैं, जो पहले के बंगला महाभारतों में पाये नहीं जाते। उन स्थलों में उनकी मौलिक प्रतिभा का जौहर दृष्टिगोचर होता है। उनकी शैली की एक विशेषता यह है कि वह दार्शनिक गुत्थियों में न पड़कर केवल कहानी कहते हैं। देव-द्विज में उनकी असीम भक्ति है। उनकी रचना में पुनरुक्ति और अतिरंजन की भरमार है। फिर भी उनके महाभारत में वे सब तत्व हैं, जिनसे कोई रचना जनप्रिय हो सकती है। भाषा में होने पर भी पंडितों ने उनके ग्रंथ को संस्कृत ग्रंथों की तरह पवित्र इसलिए मान लिया कि इससे उनके

शासन और शोषण को बल मिलता था। काशीराम दास का महाभारत बंगाल में एक शास्त्र के रूप में हो गया।

काशीराम दास के संबंध में ऐसा पता चलता है कि वह मेदिनीपुर जिले के आवाशगड़ा नामक गांव में पाठशाला के शिक्षक थे। वह सिंगी नामक गांव के रहनेवाले थे, जहां कहा जाता है केशेपुकुर नाम से एक तालाब है, जिसका नाम उन्हींके नाम पर (काशी से केशे बना है) रखा गया था। काशीराम दास सोलहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में पैदा हुए थे और सत्रहवीं सदी के मध्य तक जीवित रहे।

जहां हिन्दी में केवल रामायण (तुलसीकृत) घर-घर पहुंची हुई है, वहां बंगाल में कृत्तिवास की रामायण और काशीराम दास का महाभारत दोनों समान रूप से प्रचलित हैं। हिन्दी में महाभारत का कोई भी जनप्रिय संस्करण नहीं हुआ। कई लोगों का ऐसा विचार है कि कृत्तिवास और काशीराम दास ने सैकड़ों वर्षों तक बंगालियों के चरित्र का निर्माण किया। इसमें सन्देह नहीं कि उनका प्रभाव बहुत व्यापक रहा।

बंगला में भागवत के भी संस्करण हुए, पर वे इतने जनप्रिय नहीं हो सके। राजा हुसेनशाह के आदेशानुसार **मालाधर वसु** ने १४७३ ई० में भागवत की रचना शुरू की और १४८० तक श्रीकृष्ण विजय नाम से इसे समाप्त कर दिया। इस कृति के लिए मुसलमान राजा ने उन्हें गुणराजखां की उपाधि दी। मालाधर वसु ने कोई शाब्दिक अनुवाद नहीं किया, और इसमें राधा का वर्णन है, जबकि भागवत में राधा का कहीं पता नहीं है। इस प्रकार 'श्रीकृष्ण विजय' एक मौलिक रचना कही जा सकती है। भागवत पर आंशिक रूप से और भी कवियों ने लिखा, पर कोई भी मालाधर वसु की तरह प्रसिद्ध नहीं हुआ।

चंडी के बंगला अनुवादकों में **भवानीप्रसाद कर** सोलहवीं शताब्दी में थे। वह जन्मान्ध थे, फिर भी आश्चर्य की बात यह है कि अनुवाद मूल के बहुत निकट है। अन्ध कवि भवानीप्रसाद कोई ऊंचे दर्जे के कवि नहीं थे, अक्सर उनका तुक बेतुका होता था, फिर भी कहीं-कहीं उन्होंने मूल संस्कृत को जिस प्रकार कायम रखा है, वह विशेष रूप से ध्यान देनेयोग्य है। संस्कृति के उन

श्लोकों का, जिनमें देवी की स्तुति की गई है, उनका वे कैसे अनुवाद करते हैं—

जेहि देवि बुद्धि रूपे, सर्वभूते थाके,
नमस्कार नमस्कार नमस्कार ताके।
जेहि देवि दया रूपे सर्वभूते थाके
नमस्कार नमस्कार नमस्कार ताके। —इत्यादि

बाद के युग में और बहुत-से लोगों ने चंडी का अनुवाद किया, जिनमें **रूपनारायण घोष** (जन्म १५७६ ई०), **ब्रजलाल** (समय वही), **यदुनाथ** (सत्रहवीं सदी का उत्तरार्द्ध) विशेष उल्लेखनीय हैं। इन सबके सम्बन्ध में एक बात यह उल्लेखयोग्य है कि यद्यपि ये लोग मुख्यतः अनुवादक थे, फिर भी इनमें सर्वत्र मौलिक प्रतिभा दृष्टिगोचर होती है।

बाद को चलकर शाक्त और वैष्णव सम्प्रदायों का जोर हुआ और साहित्य भी इन्हीं लीकों पर चलने लगा। यद्यपि शक्ति-पूजा सारे भारत में प्रचलित है, तथापि बंगाल में चंडी की पूजा कुछ ऐसे रूपों में हुई, जो अन्यत्र अप्रचलित है। दलाई चंडी, लखाई चंडी, बाँसुली, मनसा देवी कुछ ऐसी देवियां हैं, जिनकी पूजा बंगाल ही में होती रही। मनसा देवी सर्प देवी है। इन देवियों के संबंध में जो साहित्य इस समय प्राप्त है, वह बहुत प्राचीन नहीं है, पर ऐसा ज्ञात होता है कि इस विषय में बहुत प्राचीन साहित्य था, जो बाद के साहित्य के अन्तर्भुक्त कर लिया गया। श्रावण के महीने में मनसा देवी की पूजा होती है।

मनसा मंगल की कहानी का सार यह है कि शिवजी ने मनसा देवी से यह कहा कि चम्पक नगर के चांद सौदागर तुम्हारी पूजा करें, तभी तुम लोगों से पूजा प्राप्त कर सकोगी। इसपर मनसा देवी ने पहले चांद सौदागर को समझाया, पर वह नहीं माना। इसके विपरीत उसने कई बार देवी पर डंडा लेकर हमला कर दिया। चांद सौदागर शिव के पूजक थे, उन्होंने मनसा की पूजा को स्वीकार नहीं किया। इसपर देवी कुपित हो गई और अपने सांपों को आज्ञा दी कि चांद सौदागर के गुआबाड़ी नामक नन्दन कानन से होड़ करनेवाले उद्यान को नष्ट कर दें। उद्यान के पहरेदार चांद सौदागर के पास गये, उन्होंने आकर मंत्र के द्वारा उद्यान को फिर ज्यों-का-त्यों बना लिया।

देवी ने देखा कि डर-धमकी से काम नहीं निकलेगा तो वह एक सुन्दरी के रूप में चांद सौदागर के पास गई। चांद सौदागर उस सुन्दरी के जाल में फंस गये, पर उस सुन्दरी ने यह शर्त रखी कि जबतक स्वयं महाज्ञान मंत्र का त्याग-कर उसे सिखा नहीं देते, तबतक वह प्रसन्न नहीं होगी। चांद सौदागर ने उस स्त्री के जाल में आकर मंत्र-बल त्याग दिया। बस ऐसा करना था कि वह सुन्दरी अन्तर्धान हो गई। तब चांद सौदागर समझे कि सुन्दरी कौन थी। अब देवी ने उस उद्यान को फिर से नष्ट कर दिया। अबकी चांद सौदागर खुद तो कुछ कर न सके, पर उनके एक मित्र को भी महाज्ञान मंत्र आता था और उन्होंने आकर उद्यान को ठीक कर दिया। तब देवी ने छल और कौशल से उस मित्र को ही मार डाला। इसके बाद एक-एक करके चांद सौदागर के छहों पुत्र भी मारे गए।

चांद सौदागर की बीवी ने अपने पति को बहुत समझाया, पर चांद सौदागर नहीं माने। विधवा पतोहुओं के विलाप से वह बहुत परेशान हुए, अन्त में वह समुद्र-यात्रा के लिए निकले। रास्ते में मनसा देवी ने आंधी भेजकर उनके सब जहाजों को नष्ट कर दिया, केवल एक जहाज मधुकर बचा, जिसमें चांद सौदागर सवार थे। मनसा देवी ने इसे भी डुबाने का प्रयत्न किया, पर यह पानी के नीचे जाकर भी मछली की तरह ऊपर आता रहा। मनसा देवी ने अंत में हनुमानजी की सहायता ली और जहाज को डुबा दिया। चांद सौदागर डूबने लगे, पर मनसा देवी का उद्देश्य उन्हें मारना नहीं, बल्कि उनसे पूजा प्राप्त करना था, क्योंकि तभी दुनिया में उनकी पूजा हो सकती थी। मनसा देवी ने अपना पद्म फेंक दिया, और चांद सौदागर ने डूबते हुए उसकी तरफ हाथ बढ़ाया, पर ज्योंही उसे स्मरण हो आया कि मनसा देवी का एक नाम पद्मा भी है, त्योंही उन्होंने हाथ खींच लिया। इसपर मनसा देवी प्रकट हुई, और चांद सौदागर से बोली—अब तुम मान जाओ तो तुम्हारी सारी सम्पत्ति भी वापस आ जाय और छहों लड़के भी जीवित हो जायं। और लाभ भी होगा।

पर चांद सौदागर ने कहा कि जिन हाथों से महादेव की पूजा की है, उन हाथों से तुम्हारी पूजा करके मैं उन्हें अपवित्र नहीं करूंगा।

मनसा देवी उन्हें मार नहीं सकती थी, इसलिए तीन-चार दिन संघर्ष के बाद चांद किनारे पहुंच गये। चांद जिस देश में पहुंचे, वहांपर उनके मित्र

चंद्रकेतु का राज्य था। चांद एकदम नंग-धड़ंग थे, उन्होंने श्मशान से कुछ चीथड़े उठा लिये और किसी तरह लज्जा बचाकर वह चंद्रकेतु के महल में पहुंचे। मित्र ने उनका स्वागत किया और कई दिनों के बाद वह खाने के लिए बैठे। पर खाने के पहले मनसा देवी पर तर्क छिड़ गया और चांद को मालूम हुआ कि चंद्रकेतु मनसा देवी का पूजक है। इसपर उन्होंने खाना खाने से इन्कार किया और मित्र के दिये हुए वस्त्र उतारकर चीथड़े पहनकर निकल गये। इसके बाद वह भीख मांगकर कुछ खाद्य द्रव्य प्राप्त कर नहाने के लिए नदी में उतरे, पर इधर मनसा देवी के भेजे हुए चूहे ने सब चीजें चट कर ली थीं। तब चांद सौदागर को मजबूर होकर केले के छिलके से अपनी भूख शांत करनी पड़ी। इसके बाद वह एक ब्राह्मण के यहां नौकर हो गये। मनसा देवी ने उनके दिमाग पर असर डाला और वे खेत में जाकर फसल काटते समय अनाज को तो फेंकने लगे और जिस अंश को छोड़ना चाहिए, उसे रखने लगे। जब ब्राह्मण ने यह देखा तो उन्हें नौकरी से निकाल दिया। इसके बाद वह जंगल में लकड़ी काटने चले। उन्हें लकड़ियों की अच्छी पहचान थी, इसलिए लकड़हारे तो लकड़ी काटते रहे और वह चंदन बटोरते रहे।

वह चंदन लादकर बाजार की तरफ जा रहे थे कि मनसा देवी के इशारे से हनुमानजी ने अपने पैर की छिगुनी से उसे छू दिया, इससे वह इतना भारी हो गया कि चांद सौदागर को उसे छोड़कर चल देना पड़ा। इसपर वह पागल-से बड़बड़ाते हुए इधर-उधर भटकने लगे और एक ऐसी जगह पहुंचे, जहां चिड़ीमार जाल बिछाकर चिड़ियां पकड़ रहे थे। चिड़ियां जाल में आने ही वाली थीं कि वह बड़बड़ाते हुए, उछलते-कूदते, जाल के पास जा पहुंचे। इससे चिड़ियां उड़ गईं और चिड़ीमारों ने उन्हें बहुत पीटा।

इस प्रकार अनेक कष्ट उठाने के बाद वह अपने घर पहुंचे और साल भर के अन्दर उनके एक लड़का हुआ, जिसका नाम लक्ष्मींदर रखा गया। ज्योतिषियों ने यह बताया कि यह लड़का अपने विवाह के दिन सांप से डसा जाकर मर जायगा। बेहुला से उसकी शादी तय हो गई। चांद को तो मालूम था कि क्या होनेवाला है, पर वह रानी की इच्छा का विरोध न कर सके। चांद ने लड़के के लिए एक लोहे का मकान बनवाया, जिसमें सांप तो क्या, एक सूई भी नहीं घुस सकती थी। जहां-तहां मोर और नेवले पहरे पर रखे गए। सर्प

विष के सब प्रतिषेधक इकट्ठे कर दिये गए। संपेरे और कनफटे भी बुलाये गए।

मनसा देवी उस लोहार से मिली, जिसने मकान बनाया था और बोली कि तुम इसमें एक बाल की सांस छोड़ दो। लोहार बोला कि मैं तो काम कर चुका और मजदूरी भी पा चुका। पर जब मनसा देवी ने उसे धमकाया तो उसने जाकर मकान को देखने के बहाने एक छेद करके उसमें कोयला भर दिया।

जब लक्ष्मींदर अपनी दुलहिन के साथ शादी के लिए जा रहा था तो कई अशुभ लक्षण दिखाई पड़े। शादी हो गई और सब लोग चले गए, लक्ष्मींदर सो गया और बेहुला पहरे पर बैठी रही। एकाएक उसने देखा कि एक सांप कहीं से भीतर घुस आया। बेहुला ने उसे दूध पिलाने के बहाने पकड़ लिया। इसी प्रकार उसने कई सांप पकड़े। अन्त में बेहुला को भी नींद आ गई और एक सांप ने आकर लक्ष्मींदर को डस लिया। आगे कहानी यह है कि बेहुला ने मनसा देवी की पूजा करके अपने पति को बचाना चाहा, मनसा देवी पहले तो नहीं मानी, फिर पसीज गई, यहांतक कि लक्ष्मींदर के और भाई भी जीवित हो गये। जब सातों लड़के जाकर चांद सौदागर के सामने खड़े हो गये और बेहुला ने जोर डाला तो चांद सौदागर भी मनसा देवी के पूजक हो गये।

इस कहानी को लेकर बंगाल के बीसियों कवियों ने काव्य लिखे हैं। इस प्रसंग के पहले कवि मैमनसिंह निवासी **हरिदत्त** बारहवीं सदी में उत्पन्न हुए थे। उनकी कविता अच्छी नहीं थी और वह लुप्त हो गई, पर बाद के कवियों की रचनाओं में उनका उल्लेख मिलता है। **विजयगुप्त** ने (जन्म १४४८ ई०) जो 'मनसा-मंगल' लिखा, वह बहुत प्रसिद्ध हुआ। 'मनसा-मंगल' बहुत बड़ी पुस्तक है, और बंगाल के कई जिलों में एक धार्मिक पुस्तक समझी जाती है।

विजयगुप्त के समसामयिक **नारायणदेव** ने भी एक 'मनसा-मंगल' लिखा उनकी कविता कहीं-कहीं ऊंचे दर्जे की है। **क्षेमानंद** ने भी एक 'मनसा-मंगल' लिखा। औरों के मुकाबले में उनका मनसा-मंगल संक्षिप्त है, और उसमें केवल पांच हजार पंक्तियां हैं। शायद इसी कारण वह इतना प्रचारित हुआ। 'मनसा-मंगल' का विषय ऐसा था, जिसमें मध्ययुग की सफल कविता के सब उपादान आ सकते थे, इसीलिए कवियों ने इसकी तरफ इतना ध्यान दिया।

मंगला चंडी पर भी पाल्लीय रूप से बहुत-सी कहानियां बनीं और उनपर

बंगाल के बहुत से कवियों ने बहुत-से काव्य लिखे। पर मंगला चंडी पर जिन कवियों ने लिखा, उनमें से **कवि कंकरण मुकुंदराम चक्रवर्ती** बहुत ऊंचे दर्जे के कवि हो गये हैं। चरित्र-चित्रण और कविता दोनों दृष्टियों से वे बंगला-साहित्य में अमर स्थान रखते हैं। अध्यापक कावेल और डा० ग्रियर्सन ने उनकी रचना की बहुत प्रशंसा की है। डा० ग्रियर्सन का कहना है कि उनकी कविता हृदय से निकली हुई थी, स्कूल से निकली हुई नहीं, और उसमें ऊंचे दर्जे की कविता और वर्णन-शक्ति पाई जाती है। अन्नदाशंकर राय का कहना है कि वह पद्य में जन्मजात कहानीकार और उच्चकोटि के व्यंग्य लिखनेवाले थे, साथ ही वह एक अच्छे निरीक्षक थे। 'उनके चरित्र आज भी जीवित हैं, और आप कहीं भी बंगाल के देहात में उनसे मिल सकते हैं।'

मुकुन्द वर्धमान ज़िले के एक गांव के रहनेवाले थे। उन दिनों वहां एक ऐसा मुसलमान शासक था, जो लोगों को बहुत सताता था। उसके अत्याचारों से घबड़ाकर मुकुन्दराम श्रीमंतखां नामक एक व्यक्ति की सहायता से अपने गांव से भाग गए। कई दिनों तक भूख-प्यास से जर्जर रहने के बाद उन्होंने चंडी की पूजा की। स्वप्न में चंडी ने उनको दर्शन दिया और कविता के नियम बताकर एक पुस्तक लिखने के लिए कहा। इसके बाद वह ब्राह्मण भूमि आरा में गये, वहां राजा बांकुराराय ने उन्हें आश्रय दिया। प्रमाणों से ऐसा ज्ञात होता है कि उन्होंने चंडी काव्य की रचना १५८९ ई० के पहले ही खत्म कर दी थी। मुकुन्दराम की रचना कितनी बड़ी थी, इसका अनुमान इससे लग सकता है कि उसमें पचीस हजार पंक्तियों से अधिक सामग्री है। अध्यापक कावेल ने इसके काफी अंश का अनुवाद अंग्रेज़ी में किया है। उनकी रचना इतनी जनप्रिय इस कारण हुई कि उसमें उस युग में फैली हुई बुराइयों के सम्बन्ध में इंगित है। एक कवि, जो अपने घर और गांव से अत्याचारों के कारण भगाया गया, उसके लिए कुछ कड़ुवापन स्वाभाविक था। उनकी विशेषता इस बात में है कि वह आलंकारिक ढंग से वर्णन न करके जीवन से मसाला लेते हैं। बंगाली जीवन के सभी पहलू उनकी रचना में चित्रित हैं, इस दृष्टि से वह एक ऐतिहासिक महत्त्व का ग्रंथ भी कहा जा सकता है।

धर्म के अन्य अंगों तथा विषयों को लेकर भी बहुत-सी कविताएं और काव्य लिखे गए, पर उनके ब्यौरे में जाने की कोई आवश्यकता नहीं है। **चैतन्य**

महाप्रभु एक धार्मिक नेता थे, पर साहित्य पर उनका प्रभाव बहुत अधिक पड़ा। नवद्वीप बंगाल में संस्कृत साहित्य का केंद्र था। वहांपर बड़ी-बड़ी पाठशालाएं थीं, जहां दूर-दूर से लोग विद्या प्राप्त करने के लिए आते थे। चैतन्य महाप्रभु १४८६ ई० में मीनापुर में पैदा हुए थे। चैतन्य महाप्रभु के पूर्वपुरुष उड़ीसा के जाजपुर के रहनेवाले थे, पर एक राजा के अत्याचार के कारण श्री हट्ट के एक गांव में जाकर बस गये थे। चैतन्य महाप्रभु के पिता जगन्नाथ मिश्र नवद्वीप में शिक्षा प्राप्त करते हुए वहीं बस गये, और शची देवी से उनका विवाह हुआ। चैतन्य महाप्रभु का नाम विश्वम्भर था, पर उन्हें निमाई कहकर पुकारा जाता था। उनके बड़े भाई विश्वरूप शादी होने के एक रात पहले घर से भाग खड़े हुए। शची देवी इस बात से इतनी दुखी हुई कि उन्होंने छोटे लड़के को शिक्षा देने के विरुद्ध राय दी, क्योंकि उनके मतानुसार शिक्षा से वैराग्य उत्पन्न होता था। जो कुछ भी हो, यह बात नहीं चली और निमाई पढ़ने बैठाये गए। वह जिस विषय को भी पढ़ते, उसीमें पारंगत हो जाते और कुछ ही वर्षों में एक प्रख्यात विद्वान हो गये। थोड़े दिनों में उन्होंने एक टोल या पाठशाला भी खोल ली। इन्हीं दिनों केशव काश्मीरी नाम से एक पंडित दिग्विजय करते हुए नवद्वीप आये। सभा बुलाई गई और उसमें निमाई ने केशव काश्मीरी को परास्त कर दिया। इसके बाद वह गृहस्थ हो गये, पर अधिक दिन निभ नहीं सके और वह संन्यासी हो गये। फिर तो वह धर्ममत प्रचार करते हुए दक्षिण भारत तक गये। ४८ वर्ष की उम्र में उनका देहांत हुआ। वैष्णव धर्म को उनसे बल मिला और वह स्वयं अवतार मान लिये गए।

चैतन्य महाप्रभु उस युग में इतने प्रसिद्ध हुए तथा उन्होंने जनता को इतना प्रभावित किया कि उन्हींकी जीवनी को लेकर बंगला में एक नये ढंग के साहित्य का उदय हुआ, जिसे जीवनी-साहित्य कह सकते हैं। **कालिदास** नामक एक शिष्य ने 'चैतन्य चरितामृत' नाम से एक ग्रंथ लिखा, जो बहुत प्रसिद्ध हुआ। चैतन्य महाप्रभु-प्रचारित वैष्णव धर्म इस कारण शायद जनता में बहुत जल्दी फैल गया कि महाप्रभु ने व्यवहार में शूद्र और ब्राह्मण में कोई फर्क नहीं रखा। उनके कई शूद्र भक्त इतने ऊंचे माने गये कि ब्राह्मण भक्त सर्वदा उनके पैर छूते रहते थे। एक ब्राह्मण **नरहरि चक्रवर्ती** ने शूद्र **नरोत्तम** की जीवनी लिखी और उसमें नरोत्तम के प्रति ऐसी भक्ति दिखाई, मानो वह भी एक छोटा-मोटा चैतन्य हो।

इस प्रकार बंगाल के साहित्य में और जीवन में एक नई धारा बही और इस धारा का वाहन संस्कृत नहीं, बंगला बनी। चैतन्य महाप्रभु ने चंडीदास और विद्यापति का प्रचार किया और इस प्रकार एक नये युग का प्रवर्तन हुआ।

महाप्रभु चैतन्य के साथ जो लोग दक्षिण की यात्रा में गये थे, उनमें **गोविंद** नाम का एक लोहार भी था। यह अपनी स्त्री से लड़कर घर से निकल गया था, इसने महाप्रभु के अनजान में कुछ संस्मरण पद्य में लिखे। ये संस्मरण 'कड़चा' के नाम से प्रसिद्ध हैं और इन संस्मरणों से उस युग का बहुत सुंदर वर्णन मिलता है। वैष्णव साहित्य में इस 'कड़चा' का बहुत ऊंचा स्थान है। गोविंद लोहार की रचना में कहीं संकीर्णता नहीं है, इसका कारण यह है कि महाप्रभु में संकीर्णता नहीं थी। 'कड़चा' से यह भी पता लगता है कि चैतन्य महाप्रभु कथित अछूतों को विशेषकर अपने साथ लेने की चेष्टा करते थे।

वृंदावनदास (जन्म १५०७ ई०) ने भी चैतन्य महाप्रभु के जीवन पर 'चैतन्य भागवत' लिखा। इसमें पच्चीस हजार पंक्तियां हैं। 'चैतन्य भागवत' में महाप्रभु को विष्णु का अवतार दिखाया गया है, और इसीलिए इसका नाम भागवत रखा गया। 'चैतन्य भागवत' में उस युग का अच्छा वर्णन भी मिलता है।

जयानंद (जन्म १५१३ ई०) ने भी चैतन्य महाप्रभु पर एक ग्रंथ लिखा, जिसका नाम 'चैतन्य मंगल' पड़ा। पर इन सबसे अधिक प्रभावशाली लेखक **कृष्णदास** (जन्म १५१७ ई०) हो गये और उनकी रचना 'चैतन्य चरितामृत' इस प्रकार की रचनाओं में सबसे सफल प्रमाणित हुई। कृष्णदास उच्च शिक्षा-प्राप्त थे और उन्होंने वृंदावन की यात्रा भी की थी। जिस समय वह ७९ साल की उम्र के थे, उन्होंने 'चैतन्य चरितामृत' की रचना आरम्भ की। कई लोगों ने उपकरण देकर उनकी सहायता की, फिर भी उनकी रचना के लिए सारा श्रेय उन्हींको प्राप्त है। बहुत दिनों तक बंगाल के बाहर रहने के कारण उनकी भाषा में हिंदी का पुट यथेष्ट है। संस्कृत के बड़े-बड़े शब्द भी उनकी रचना में आते हैं, इस कारण उनकी भाषा अन्य वैष्णव कवियों की तरह प्रसाद गुणयुक्त नहीं है। 'चैतन्य चरितामृत' में कुल मिलाकर १५,०५० छन्द हैं, और तीन खंड हैं। चैतन्य महाप्रभु की अन्य जीवनियों के मुकाबले में इसमें अंतिम

हिस्से का वर्णन विस्तृत है। वैष्णव सिद्धांतों का भी इसमें लम्बा प्रकरण है और यद्यपि इसका प्रचार ग्राम लोगों में है, फिर भी यह विद्वानों की चीज है।

और भी बहुत-से लोगों ने चैतन्य महाप्रभु पर लिखा, जिनमें **लोचनदास** (जन्म १५२३ ई०) का 'चैतन्य मंगल' उल्लेखनीय है। चैतन्य के अन्य साथियों में भी कुछ साहित्य तैयार हुआ। इसके अतिरिक्त वैष्णवों के सिद्धांतों को लेते हुए बहुत-सी पुस्तकें लिखी गईं। वैष्णवों के लिए कुछ विशेष भजन भी लिखे गये, जिनको पद कहते हैं। यह तो हम पहले ही बता चुके हैं कि वैष्णवों ने चंडीदास और विद्यापति के पदों को अपनाया।

चंडीदास और विद्यापति के बाद सबसे बड़े पदकर्ता **गोविंददास** (१५३७-१६१२ ई०) माने गये हैं। गोविंददास के पिता महाप्रभु चैतन्य के विशिष्ट साथी थे, पर वह जहां रहते थे, वहां शाक्तों का ज़ोर था, इसलिए उन्हें गांव छोड़कर अन्यत्र बसना पड़ा। गोविंददास के संबंध में भी यह अनुश्रुति है कि वह पहले शाक्त थे, पर एक बार ४० साल की उम्र में वह पेचिश से बुरी तरह पीड़ित हुए। बचने की कोई आशा नहीं थी, पर एक वैष्णव ने उन्हें बचा लिया, इससे वह वैष्णव बन गये। उन्होंने कथित ब्रज बोली में भी पद लिखे। ब्रज बोली को ब्रजभाषा के साथ एक करके न समझा जाय। बंगाल के वैष्णवों ने ब्रज की यात्रा करते-करते एक नई बोली ही बना डाली, जिसका नाम उन्होंने ब्रज बोली रखा। इस बोली का मैथिल से बहुत निकट संबंध है। जो कुछ भी हो, गोविंददास कविवर चंडीदास और विद्यापति के बाद ही उस युग के सबसे ऊंचे कवि माने जाते हैं। उन्होंने बंगला में भी लिखा है, पर यहां हम उनकी ब्रज-बोली की रचना का नमूना देंगे—

जहां जहां अरुण चरण चलि जात, तहं तहं धरनि हइय मझुगात
जो सरवर पहुं निति निति नाह, हल भरि सलिल होई तथि माह
जो दरपण पहुं निज मुख चाह, मझु अंग जोति होई तथि माह।
जो बीजन पहुं बीजइ गात, मझु अंग तहि होई मृदु वात।
जंह पहुं भरमइ जलधर श्याम, मझु अंग गगन होई तछु ठाम।

—'जहां-जहां उनके सुंदर चरण पड़ते हैं, मेरा शरीर वहीं की जमीन हो जाय। जहां-जहां जिस सरोवर में कृष्ण स्नान करते हैं, मैं उसका पानी हो जाऊं। जिस दर्पण में वह अपना मुख देखते हैं, मेरा अंग उसकी चमक हो जाय। जिस

पंखे को वह झलते हैं, मैं उसकी मन्द बयार हो जाऊं। जहां-जहां जलधर श्याम मंडराते हैं, मैं वहीं का आकाश बन जाऊं।'

गोविंददास के बाद **ज्ञानदास और बलरामदास** भी उल्लेखनीय हैं, यों तो और भी बहुत-से लोगों ने ब्रज बोली तथा बंगला में पद लिखे।

यह स्मरण रहे कि महाप्रभु चैतन्यदेव के बाद जिस प्रकार उनके नाम से एक सम्प्रदाय बन गया, चैतन्यदेव उस प्रकार का कोई संप्रदाय बनाना नहीं चाहते थे। हम यहां इस झगड़े में न पड़कर इतना ही बतायेंगे कि वैष्णवों के उत्थान का सबसे बड़ा परिणाम यह हुआ कि बंगला भाषा केवल लौकिक भाषा न रहकर वैष्णवों की धार्मिक भाषा हो गई। यह बात यहांतक स्वीकृत हो गई कि बंगला धार्मिक पुस्तकों की टीकाएं संस्कृत में लिखी गई, और संस्कृत पुस्तकों में बंगला पुस्तकों के उद्धरण दिये गए जैसा कि **श्री दिनेश सेन** ने बताया, बंगला को वही मर्यादा दी गई, जो बौद्धों के कारण पाली को प्राप्त हुई थी। कहना न होगा कि बंगला की वृद्धि तथा प्रसार के लिए यह एक बहुत बड़ा कारण सिद्ध हुआ।

उन्हीं दिनों बंगाल में शाक्तों का भी जोर हुआ, पर उनमें चैतन्य महाप्रभु की तरह कोई नेता उत्पन्न न हो सकने के कारण साहित्य में उनका दान अधिक न हो सका। फिर भी वैष्णवों के विरुद्ध कुछ व्यंग्य कविता आदि लिखी गई।

कुछ लोग यह दावा करते हैं कि महाप्रभु चैतन्य कीर्तन के प्रवर्तक हैं, पर यह बात सत्य नहीं ज्ञात होती। महाप्रभु चैतन्य के पहले ही राजा लक्ष्मणसेन के दरबार में जयदेव के गीत कीर्तन के रूप में गाये जाते थे। जो हो, इतना मानना कोई अत्युक्ति नहीं है कि चैतन्य महाप्रभु ने कीर्तन में एक नई जान फूंकी और उसे जनता की चीज़ बना दिया। संभव है, इसीसे इस अनुश्रुति का उद्भव हुआ हो कि चैतन्य महाप्रभु कीर्तन के प्रवर्तक हैं। बंगला कविता को जन-प्रिय बनाने में कीर्तन का बहुत बड़ा हाथ रहा।

यहां यह बता दिया जाय कि उस युग में हिंदी और बंगला का अटूट सम्बन्ध था और बंगला में बराबर हिंदी शब्द भरे गये। यह तो हम पहले ही बता चुके हैं कि ब्रज के साथ निकटता स्थापित करने के लिए बंगाली कवियों ने ब्रज बोली नाम की एक बोली ही बना डाली और उसमें एक अच्छे-खासे

साहित्य की सृष्टि हुई। वैष्णवों का यह युग बंगाल में अठारहवीं सदी तक चलता रहा।

इसके बाद हम यह देखते हैं कि वैष्णव साहित्य का उतना जोर नहीं रह गया, यहांतक कि अठारहवीं सदी के राजा कृष्णचन्द्र जो उस युग के बंगला के प्रसिद्ध पृष्ठपोषक थे, वैष्णवों के कुछ विरोधी रहे। उनके समय में कविता की बड़ी उन्नति हुई और अबतक कविता का उद्देश्य जहां बहुत-कुछ धार्मिक था, अब राजा तथा उसके सामंतों को खुश करने का साधन बन गई। इस मोड़ की बात को श्री दिनेश सेन ने बड़े मार्मिक शब्दों में बताया है। उनका कहना है— 'अब कवियों के लिए राजमहल के द्वार खुल गए, इसलिए वे अब इस बात की परवा नहीं करते थे कि स्वर्ग के द्वार उनके लिए बन्द हो गये।' दूसरे शब्दों में अब उस कविता की सृष्टि हुई, जिसे हम दरबारी कह सकते हैं।

काव्य के विषय बहुत-कुछ वही रहे, पर उनके संबंध में वक्तव्य का ढंग बदल गया। नैषध-चरित, दशकुमार-चरित, हर्ष-चरित आदि संस्कृत काव्यों को आदर्श के रूप में माना गया और उस तरह के काव्य लिखे जाने लगे। अत्युक्तियों और अतिरंजित वर्णनों की भरमार हो गई। शृंगार रस की प्रधानता हो गई और नख-शिख-वर्णन यानी अतिरंजित ढंग से स्त्रियों के सौंदर्य का वर्णन साहित्य की विशेषता हो गई। इसी युग में राजा कृष्णचन्द्र के **राजकवि भारत-चन्द्र राय** का उद्भव हुआ। भारतचंद्र एक बहुत शक्तिशाली कवि थे। उन्होंने अपने विद्यासुंदर तथा अन्य काव्यों में शृंगार रस को ही प्रधानता दी है, पर भाषा की जादूगरी, सुंदर अभिव्यक्ति, चुस्त छंद आदि में जो उन्होंने कमाल दिखलाया, वह बंगला साहित्य में अभूतपूर्व था। वह कोई दार्शनिक कवि नहीं थे, पर इसके अलावा वह भारत के किसी भी प्राचीन कवि के मुकाबले में अच्छी तरह खड़े हो सकते हैं। उन्होंने संस्कृत साहित्य का अच्छी तरह अध्ययन किया था और उन्होंने अपने सामने यही उद्देश्य रखकर काव्य की रचना की कि वह संस्कृत काव्यों के मुकाबले में कुछ लिखेंगे। भारतचन्द्र को बहुत अधिक सफलता मिली। इतनी अधिक सफलता मिली कि उनके बाद के कवियों में सैकड़ों ने उनका अनु-करण किया, इस प्रकार उनकी शैली को सार्वजनिक मान्यता प्राप्त हुई। उनके संबंध में बाद को और लिखेंगे।

सैयद अलावल (जन्म १६१८ ई०) भी इस युग के बहुत बड़े कवि हुए।

उन्होंने मुहम्मद जायसी के पद्मावत का अनुवाद बंगला में किया। अलावल फरीदपुर-स्थित जलालपुर के नवाब के मंत्री शमशेर कुतुब के पुत्र थे। जब वह नौजवान ही थे, उस समय वह अपने पिता के साथ समुद्र-यात्रा में गये। रास्ते में पुर्तगाली डाकुओं ने हमला किया, और उनके पिता मारे गये। वह बाल-बाल बच गये। किसी प्रकार भागकर वह अराकान पहुंचे, वहां उन्हें मुस्लिम प्रधान मंत्री भागन ठाकुर का आश्रय मिला। वहीं वह बहुत सालों तक रहे और उन्होंने अपने आश्रयदाता की आज्ञा के अनुसार 'पद्मावत' का बंगला में अनुवाद किया। जब यह अनुवाद हो गया तो उन्हें दो फारसी पुस्तकों 'सैफुल्मुक' और 'बदी उज्जमाण' के अनुवाद की आज्ञा मिली, पर वह कुछ ही अनुवाद कर पाये थे कि उनके आश्रयदाता की मृत्यु हो गई। इसके बाद उन्होंने लिखना छोड़ दिया, पर राजनैतिक उथल-पुथल मे किसीके कहने पर वह जेल भेज दिये गए। यह १६५८ ई० की घटना है। बड़ी मुश्किल से वह जेल से छूटे। एक मुस्लिम सामन्त ने फिर उनमें दिलचस्पी ली और उन्होंने उन दो फारसी पुस्तकों का अनुवाद समाप्त कर दिया। इसके अतिरिक्त उन्होंने राधाकृष्ण तथा सती मैना आदि विषयों पर बहुत-सी कविताएं लिखीं।

अलावल ने मुख्यतः अनुवाद के क्षेत्र में काम किया, पर यह कहा जाता है कि उन्होंने जिन काव्यों का अनुवाद किया, वे उन्हें मूल से सुंदर बनाने में समर्थ हुए। अलावल भी भारतचंद्र राय के ढर्रे पर चले और यद्यपि वह भारतचंद्र से कुछ छोटे माने गये हैं, फिर भी वह उस युग के बंगला कवियों में सर्वश्रेष्ठ हैं। यह एक बहुत ही दिलचस्प बात है कि फारसी के विद्वान् होते हुए भी उन्होंने अपनी बंगला रचनाओं में संस्कृत शब्द बहुत अधिक भरे हैं। भारतचंद्र और अलावल इस प्रकार बंगला में एक नये युग की सूचना करते हैं। अलावल की विशेषताओं में एक यह भी है कि वह जब किसी हिंदू देवता-देवी या त्योहार अथवा रिवाज का वर्णन करते हैं, तो वह उसके ब्योरे में गलती नहीं करते।

अलावल की रचनाएं चटगांव और अराकान के इलाकों में उर्दू लिपि में प्राप्त हुई हैं। सम-सामयिक हिंदुओं में उनका प्रचार नहीं था, यद्यपि विषय आदि की दृष्टि से उनके साहित्य को हिंदू साहित्य ही कहा जायगा। पद्मावत की कथा हिंदी-भाषियों के लिए सुपरिचित है। यह रानी पद्मावती या पद्मिनी की गौरव-गाथा है। एक मुसलमान ने इस कहानी को मूल में लिखा, दूसरे मुसलमान ने

उसके अनुवाद के लिए तीसरे मुसलमान से कहा, मुसलमानों ने ही इस रचना को उर्दू लिपि में लिखकर उसको सुरक्षित रखा। इससे ज्ञात होता है कि सारे भारत में, जायस से लेकर अराकान तक इतिहास की घटनाओं को उनके गुण-दोष के कारण सराहा या बुरा-भला कहा जाता था। अलाउद्दीन खिलजी मुसलमान था, इस नाते उसने जो कुछ भी किया, वह सारे मुसलमानों के लिए पवित्र है, इस प्रकार की धारणा उस युग में नहीं थी, यद्यपि मुगलों का राज्य था। बाद को चलकर किन-किन कारणों से इस प्रकार की धारणा लुप्त हो गई, यह खोज का विषय है।

हम पहले ही बता चुके हैं कि भारतचंद्र ने विद्यासुंदर पर एक बहुत बढ़िया काव्य लिखा था। भारतचंद्र का जन्म १७२२ में हुगली जिले में हुआ। उनके पिता एक सामंत थे और उन्हें राजा की उपाधि मिली हुई थी, पर वह बर्दवान के राजा से किसी बात पर लड़ गये और उसीमें उनका सर्वनाश हो गया।

भारतचंद्र की कविता में ये सभी बातें हैं, जिन्हें कविता की बहिरंग परीक्षा करनेवाले तथा आलंकारिकगण पसंद करते हैं। विद्यासुंदर का रचना-काल १७५७ यानी प्लासी के युद्ध के कुछ साल पहले माना गया है। यह मजे की बात है कि यद्यपि भारतचंद्र ने अंग्रेजों के आने के पहले लिखा, फिर भी उनकी भाषा करीब-करीब आधुनिक है। भारतचंद्र राय के समय में ही बंगला भाषा का एकरूप बन चुका था, और यह कहा जा सकता है कि बाद को चल-कर मधुसूदन और बंकिम के जमाने में यही भाषा साहित्य की भाषा बनी। भारतचंद्र की कविता देव और बिहारी के ढंग की है और उनकी कविता मुख्यतः शृंगार रस की है। वह भाषा में पच्चीकारी को बहुत दूर तक ले गये हैं। उनकी कविता अपने जमाने में बहुत प्रसिद्ध हुई और बाद को भी इसका बहुत प्रचलन रहा। वैष्णव तथा अन्य पौराणिक विषयों पर लिखनेवालों की कविता ऊपर से आध्यात्मिक और नैतिक थी, भले ही भीतर से वह एक हद तक ऐहिक हों, पर भारतचंद्र की विद्यासुंदर आदि रचनाएं संपूर्ण रूप से ऐहिक थीं, और वह भी बिल्कुल शिश्नोदर-परायणता के अर्थ में। सामंतों और राजाओं के दरबार के लिए यह उपयुक्त कविता थी।

संक्षेप में, विद्यासुंदर काव्य की कहानी इस प्रकार है। कांजी या कांजीवरम् के राजा गुणसिंधु के पुत्र सुंदर ने यह सुना कि वर्द्धमान के राजा वीरसिंह की

कन्या विद्या बहुत सुंदरी है। उसकी ख्याति केवल रूप के संबंध में नहीं थी, बल्कि उसकी विद्या की ख्याति रूप से भी अधिक थी। विद्या की तरफ से यह घोषणा हुई थी कि जो मुझे शास्त्रार्थ में परास्त करेगा, मैं उसीसे शादी करूंगी। सुंदर ने अपने पिता से कुछ नहीं कहा और घोड़े पर चढ़कर राजा वीरसिंह की राजधानी में पहुंच गया। सुंदर ने अपने घोड़े को एक बाग के पेड़ से बांध दिया और इधर-उधर घूमने लगा कि आगे क्या किया जाय। इतने में राजा की मालिन हीरा फूल चुनती हुई उधर आ पहुंची, और सुंदर को देखकर समझ गई कि यह अवश्य कोई विशेष व्यक्ति है। सुंदर तो इस तलाश में था ही कि कोई उसे ठहरने को जगह दे। हीरा से उसने यह बताया कि वह एक पर्यटक है और कहीं ठहरना चाहता है। हीरा उसे ठहराने के लिए राजी हो गई।

सुंदर को यह जानकर खुशी हुई कि हीरा का काम नित्य प्रातःकाल विद्या को फूल और माला पहुंचाना है। सुंदर ने कहा कि जब मैं तुम्हारे यहां हूं तो मुझे भी कुछ करना चाहिए, और मैं एक माला बनाता हूं, जिसे तुम जाकर राजकुमारी को दे देना। सुंदर एक चतुर मालाकार था और उसने माला के रूप में एक संस्कृत का श्लोक तैयार कर दिया। हीरा अगले दिन कुछ देर से पहुंची तो राजकुमारी बहुत बिगड़ी। हीरा ने कहा कि रात भर मैं तुम्हारे लिए एक विशेष माला बनाती रही, जिसके कारण देर हो गई। राजकुमारी ने पूछा कि वह माला कहां है। तब हीरा ने माला आगे कर दी। राजकुमारी उस माला में गूंथे हुए श्लोक को पढ़कर यह समझ गई कि यह माला इसके द्वारा बनाई नहीं हो सकती। हीरा कसमें खाती रही कि माला उसीकी बनाई हुई है, पर अंत तक वह राजकुमारी की जिरह के सामने ठहर नहीं सकी, और उसे असली बात बतानी पड़ी। तब राजकुमारी ने मालिन से कहा कि मुझे किसी तरह राजकुमार का दर्शन कराओ, पर यह काम बहुत कठिन था, क्योंकि राजा के अंतःपुर में न तो कोई आ सकता था और न वहां से कोई जा सकता था।

आखिर यह निश्चय हुआ कि इसके लिए किसी कौशल का प्रयोग किया जाय। हीरा के कथनानुसार सुंदर ने जटा और दाढ़ी लगाकर एक साधु का रूप धारण किया और राजा वीरसिंह से जाकर बोला कि मैं विद्या से शास्त्रार्थ करना चाहता हूं। राजा को यह बात माननी पड़ी, क्योंकि विद्या की शर्त यह थी कि कोई भी व्यक्ति आकर शास्त्रार्थ कर सकता था। साधू ने यह भी कहा

कि वह और शास्त्रार्थ करनेवालों की तरह परदे के पीछे से शास्त्रार्थ नहीं करेगा, बल्कि आमने-सामने बैठकर शास्त्रार्थ करना चाहेगा। विद्या बड़ी विपत्ति में पड़ गई, क्योंकि वह प्रेमिका होने के अतिरिक्त एक विदुषी भी थी और प्रेम के लिए ही सही, शास्त्रार्थ में हारना नहीं चाहती थी, लेकिन इस मामले में हराने से भी काम नहीं बनता था। इसलिए वह शास्त्रार्थ की तारीख को टालती रही।

सुंदर इससे निराश न हुआ और उसने काली की पूजा शुरू की। काली ने प्रसन्न होकर उसे एक सींक-सी दे दी, जिससे सुंदर पत्थर भी खोद सकता था। इस सींक के सहारे सुंदर ने विद्या के कमरे तक एक सुरंग बनाई और वह विद्या के सामने पहुंच गया। विद्या की सखियां उसे देखकर घबड़ाई पर जब सुंदर ने कहा कि काली की कृपा से सींक मिली है तो उन लोगों ने इस रहस्य को छिपा रखना मंजूर किया।

पर सारी आफत तो विद्या को लेकर आई। विद्या को अपने ज्ञान का घमंड था, वह बोली—"मैं शादी तो उसीसे करूंगी, जो मुझे शास्त्रार्थ में पराजित करे।"

सुंदर इसपर राजी हो गया और काव्य, न्याय, धर्मशास्त्र, दर्शन आदि विषयों पर शास्त्रार्थ हुआ। सुंदर ने प्रत्येक विषय में अपनी प्रेमिका को हरा दिया, पर इससे जहां शास्त्रार्थ में उसकी जीत होती गई, वहां उसका हृदय हारता ही चला गया। अंत में परिस्थिति यह थी कि शास्त्रार्थ में तो सुंदर विजयी था, पर विद्या की विजय उससे कहीं सार्थक और विस्तृत थी।

अब कोई बाधा नहीं रही और दोनों में गंधर्व-विवाह हो गया। कानों-कान किसी को खबर नहीं हुई और सुंदर उस सुरंग के जरिये से नित्य विद्या से मिलता रहा। यहांपर भारतचंद्र ने प्रेम-क्रीड़ाओं का बड़ा दीर्घ वर्णन किया है, यहांतक कि विद्या को गर्भ रह गया और सखियां बहुत डर गईं। उन लोगों ने जाकर रानी से गर्भ रहने का हाल तो बता दिया, पर और कुछ नहीं बताया। रानी क्रोध में विद्या के पास पहुंची और उसने राजकुमारी को धमकाया। पर कोई नतीजा नहीं हुआ। तब रानी क्रोध में राजा के पास गई और उन्हें तरह-तरह से ताव दिलाने लगी, बोली—"जिसके घर में ऐसी बात हो सकती है, वह राजा कैसा है?"

राजा ने शहर कोतवाल को बुलाया और कहा कि यदि तुम चोर को नहीं पकड़ पाये तो तुम्हें बाल-बच्चों के साथ जीवित समाधि दी जायगी। कोतवाल ने सात दिन का समय मांगा और वह उसी समय से खोज करने लग गया। विद्या को उसके कमरे से हटा दिया गया। सिपाहियों को जल्दी ही उस सुरंग का पता लग गया, पर कोई भी सिपाही उसके अंदर दूर तक न जा सका। अंत में कालकेतु नामक एक कर्मचारी ने यह सुझाया कि हम लोग स्त्रियों के भेष में यहीं बने रहें, बहुत संभव है कि चोर खुद ही यहां आये। तदनुसार एक कर्मचारी विद्या बनकर बैठ गया और बारह अन्य कर्मचारी उसकी सखियां बनकर बैठ गये। इसके अतिरिक्त घर-घर में कर्मचारियों की स्त्रियां तथा अन्य स्त्रियां चोर की तलाश में घूमने लगीं।

विद्या को कोई मौका ही नहीं मिला कि सुंदर को खबर भेजे। सुंदर को केवल इतना पता लगा कि एक चोर की तलाश हो रही है। सुंदर अपने नित्य नियम के अनुसार संध्या के बाद विद्या के कमरे में पहुंच गया। कर्मचारियों ने कमरे में रोशनी इतनी धीमी कर दी थी कि चेहरा पहचान में न आवे। सुंदर ने विद्या के भेष में बैठे हुए कर्मचारी की ओर हाथ बढ़ाया, पर कर्मचारी ने मुंह फेर लिया और कपड़े से मुंह ढंक लिया। सुन्दर ने समझा कि देवी रूठी हुई है, इसलिए उसने आरजू-मिन्नत शुरू की। यहांपर काव्य में लंबा वर्णन आता है।

अंत में सुंदर पकड़ लिया गया और कर्मचारी अब हिम्मत करके सुरंग के अंदर से हीरा के घर पहुंच गये। हीरा ने बहुतेरा कहा कि उसे कुछ नहीं मालूम, पर उसे ज़ंजीरों में बांधकर राजा के सामने हाजिर किया गया। सुंदर तो पहले ही बांधकर हाजिर किया जा चुका था। राजा ने सुंदर से बहुत पूछा कि तुम कहां के रहनेवाले हो, कौन हो, पर सुंदर ने इसी प्रकार की बातें कहीं कि मेरा नाम विद्यापति है, मेरा घर विद्यानगर है, इत्यादि-इत्यादि। सुंदर ने स्वरचित पचास श्लोक भी सुनाये, जो 'चोर पंचाशत' के नाम से बंगला काव्य के ही अन्तर्गत हैं। इन श्लोकों के दो-दो अर्थ हैं। एक अर्थ में तो वे काली के स्तोत्र के रूप में हैं।

राजा सुंदर की विद्वत्ता से प्रभावित हुए, पर कुल-शील का पता न होने के कारण उन्होंने कहा—इसे मेरे सामने से वधस्थान में ले जाओ।

जब सुंदर वधस्थान में ले जाया जाने लगा तो नागरिकों की ओर से लोग यही कहने लगे कि सुंदर विद्या का उपयुक्त पति है। सुंदर ने जब देखा कि अंत निकट है तो उसने काली की सहायता मांगी। काली ने भूतों और पिशाचों की एक सेना भेजी, जिसने राजा की सेना को हरा दिया।

दरबार में एक शुक पक्षी था, उसने राजा को बतलाया कि सुंदर असल में कौन है। राजा यह सुनकर वधस्थान की ओर दौड़े और उन्होंने जाकर सुंदर को गले से लगा लिया। विवाह तो पहले ही हो चुका था, अब सार्वजनिक उत्सव हुआ। हीरा की जंजीरें खोल दी गई और उसे पुरस्कृत किया गया।

यही विद्यासागर की कहानी है। कहना न होगा कि इसमें कवि को अपने जौहर दिखाने का बहुत मौका था। इस संबंध में यह भी बता दिया जाय कि भारतचंद्र इस विषय पर लिखनेवाले पहले कवि नहीं थे। और भी बहुत-से कवि इस विषय पर लिख चुके थे। ऐसा मालूम होता है कि वर्द्धमान के राजा के साथ यह कहानी पहले जुड़ी हुई नहीं थी। यहां उन सारे लेखकों के वर्णन की आवश्यकता नहीं, जिन्होंने इस विषय पर लिखा। इतना ही कहना यथेष्ट होगा कि भारतचंद ने इस विषय को लेकर सबसे अच्छी रचना प्रस्तुत की। पहले ही हम बता चुके कि उनकी भाषा और शैली एक हद तक आधुनिक कही जा सकती है। उनके वर्णन बहुत चुभनेवाले और भाषा बड़ी सरस है।

भारतचंद्र से कुछ पहले **रामप्रसाद** नामक एक कवि हो गये, जो काली-सम्बन्धी कविताएं लिखने में बहुत प्रसिद्ध हो गये। यद्यपि उनकी कविताएं भक्ति-सम्बंधी हैं, तथापि उनमें ऐसी-ऐसी उपमाएं आदि आती हैं, जिन्हें गांव की जनता बहुत आसानी से समझ लेती है। यही शायद रामप्रसाद की ख्याति और जन-प्रियता का कारण है।

जैसे राजा कृष्णचंद्र ने अपने दरबार में कवियों को आश्रय दिया, उसी तरह से उनके सम-सामयिक विक्रमपुर के राजा राजवल्लभ साहित्य-रसिक थे। कृष्णचंद्र और राजा राजवल्लभ में होड़-सी चलती थी कि कौन किससे आगे निकल जाय। राजा कृष्णचंद्र ने शिवनिवास नाम से एक नगर स्थापित किया, तो राजवल्लभ ने राजनगर नाम से उससे बढ़कर नगर स्थापित किया। राजवल्लभ ने कई इमारतें भी बनवाई। उन्होंने साहित्य-रसिकों को अपने यहां स्थान भी दिया, पर भारतचंद्र की तरह कवि मिलना मुश्किल था, फिर भी **जयनारायण**

ग्रौर ग्रन्नदामयी की तरह कवि ग्रौर कवयित्री को प्रोत्साहित करने का श्रेय राजवल्लभ को प्राप्त हुग्रा। जयनारायण ग्रच्छे कवि थे, पर उनकी कविताग्रों में वह बात नहीं है, जो भारतचंद्र की कविताग्रों में है। ग्रन्नदामयी नामक कवयित्री भी जयनारायण की भानजी थीं। कहा जाता है कि हरिलीला नामक पुस्तक जयनारायण ग्रौर ग्रन्नदामयी की संयुक्त रचना है। ग्रन्नदामयी विदुषी थीं ग्रौर संस्कृत में उनका ज्ञान इतना ग्रधिक था कि एक बार जब राजा राजवल्लभ के दरबार में ग्रग्निष्टोम यज्ञ के सम्बन्ध में किसी बहुत ही जटिल नुक्ते पर बातचीत हो रही थी तो ग्रन्नदामयी ने वैदिक साहित्य से उद्धरण देकर सारे मामले को सुलझा दिया। ग्रन्नदामयी की रचनाग्रों से भी ज्ञात होता है कि वह संस्कृत की विदुषी थीं। एक कविता देखिये—

कतो चारु वक्त्रा, सुवेषा सुकेशा
सुनासा, सुहासा, सुवासा, सुभाषा :
कतो क्षीणमध्या, सुभंगा सुयोग्या,
रतिज्ञा, वशिज्ञा, मनोज्ञा, मदज्ञा
कोनो कामिनी कुंडले गंडघृष्टा,
प्रहृष्टा, सचेष्टा, केह ग्रोष्ठ दष्टा इत्यादि।

कहना न होगा इसमें 'कतो' ग्रौर 'कोनो' के ग्रतिरिक्त बाकी सभी संस्कृत है। यह एक विवाह-मण्डप का वर्णन है, जहां तरह-तरह की स्त्रियां मौजूद हैं। उस युग के लोगों ने इस कविता में रस लिया, इसके प्रमाण मौजूद हैं।

भारतचंद्र को जो ग्रभूतपूर्व सफलता मिली, इसके कारण बहुत-से उदीयमान कवि उस ग्रोर झुके ग्रौर शृंगार रस के काव्यों की बाढ़-सी ग्रा गई। इनमें से ग्रधिकतर पुस्तकें ग्रब लुप्त हैं, कुछ तो इस कारण लुप्त हैं कि ग्रश्लीलता के कारण उन्हें जब्त कर लिया गया। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में चंद्रकांत, कामिनीकुमार ग्रौर नयनतारा के उपाख्यानों का बहुत ग्रधिक प्रचार था, इसमें सन्देह नहीं। श्री दिनेश सेन ने लिखा है कि इन काव्यों के रचयिता भारतचन्द्र, जयनारायण तथा ग्रन्नदामयी की तरह विद्वान नहीं थे, पर वे शृंगाररसात्मक रचना को ग्रौर एक कदम ग्रागे ले गये। यह भी बता दिया जाय कि इन काव्यों के नायक किस प्रकार के होते थे। उल्लिखित श्री दिनेश सेन के ग्रनुसार लार्ड बायरन-कल्पित डान जुग्रान पात्र को किसी मुस्लिम नवाब के हरम में कुदा

दिया जाय तो उससे जो कहानी बनती है, वही कहानी इन लोगों की उपजीव्य थी।

चन्द्रकांत सचमुच ऐसा ही पात्र था। उसने एक राजा के अन्तःपुर में जो-जो कारनामे किये हैं, वे इसी प्रकार के हैं। यद्यपि इस प्रकार की रचना से जहां एक तरफ उस समय के पढ़े-लिखे वर्ग की रुचि का परिचय प्राप्त होता है, वहींपर हमें यह भी मानना पड़ेगा कि इन पुस्तकों के प्रचार ने बंगला साहित्य को और एक कदम आगे बढ़ाया और बंगला के गले में एक तरफ संस्कृत और दूसरी तरफ फारसी का जो फंदा था, वह बहुत-कुछ ढीला हुआ। इन कवियों का उद्देश्य अपने पाठकों का मनोरंजन था। इस कारण वे अधिक-से-अधिक जनता में पहुंचना चाहते थे। वे केवल संस्कृत तथा फारसी में रस लेने-वाले लोगों के लिए लिखना नहीं चाहते थे। वे बंगला जाननेवालों के ही लिए लिख रहे थे। इस प्रकार उनकी रचना में बड़े-बड़े संस्कृत शब्द और वाक्य नहीं मिलते। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि यद्यपि इन लोगों का साहित्य अंतर्गत वस्तु की दृष्टि से जनता का विरोधी पड़ता था, फिर भी उनका उद्देश्य विस्तृततर जनता में पहुंचना था, इस कारण उन्होंने ऐसी भाषा ग्रहण की, जो जनता की समझ में अच्छी तरह आ सकती थी।

इस युग में और जितने कवि हुए, उनका झुकाव भी अलंकार-बहुलता तथा शृंगार रस की ओर था। गिरिधर नामक एक कवि ने इसी युग में 'गीत गोविंद' का बंगला अनुवाद किया। यों तो इसके पहले ही 'गीत गोविंद' का पयार छंद में अनुवाद हो चुका था, पर गिरिधर ने जहांतक हो सका 'गीत गोविंद' के मौलिक नृत्यशील छंदों में अनुवाद किया। यही नहीं, उन्होंने मूल संस्कृत शब्दों को भी कायम रक्खा।

यमुना तीरे मंद बहे मारुत, तहाते बोसिया युवराज,
करे अभिसार, करि रति रस, मदन मनोहर वेशे।
गगने बिलंबन ना कर नितम्बिनी, चल-चल प्राणनाथ पासे
तुआ निज नाम श्याम करि संकेत, बजाय मुरली मृदु भाषे।
तुआ तनु परशि धूलि रेणु उड़त, ताहे पुनः पुनः प्रशंसे।

—इत्यादि

ऊपर जिन कवियों और काव्यों का उल्लेख किया गया है, वे कवि दरबारी

या कम-से-कम शहरी थे, पर देहातों के भी अपने-अपने कवि थे, जो अपने यहां की जनता को काव्य रस पिलाया करते थे। ये कवि अपने श्रोताओं को आनंद देने में ही अपनी पूरी सार्थकता मानते थे। वे इस बात की परवा नहीं करते थे कि उनको ख्याति प्राप्त होगी या नहीं। अक्सर तो कवियों के नाम भी श्रोताओं तक नहीं पहुंचते थे।

इन कवियों में एक तरह के कवि होते थे, जो कविवालों के रूप में संगठित थे। कविवालों की कविताओं में कृष्ण के गुण गाये गये हैं। कविवालों के दल में स्त्रियां तथा पुरुष दोनों होते थे। वे खड़े हो करके गाया करते थे, इसलिए इनको दांडा कवि या खड़े कवि भी कहते थे। राधाकृष्ण के अतिरिक्त शिव और पार्वती पर भी कविवाले रचनाएं तैयार करते थे। ऐसा मालूम होता है कि बहुत दिनों तक कविवालों के दल बंगाल के देहातों का दौरा करते रहे।

बाद को चलकर कविवालों में नये उपादान की सृष्टि हुई, जिससे वे और भी जनप्रिय हो गये। ऐसा मालूम होता है कि किसी स्थान पर कविवालों की एक टोली के साथ दूसरी टोली की मुठभेड़ हो गई। यह मुठभेड़ हाथापाई के रूप में नहीं, बल्कि कविता की लड़ाई के रूप में हुई। इससे लोगों को बड़ा रस आया और तब से कविवालों का कवितामय दंगल जनता के मनोरंजन का एक बहुत बड़ा साधन हो गया।

कविवालों में कई आशु कवि होते थे, और खड़े-खड़े जिस विषय पर जरूरत होती, उसपर कविता बना डालते थे। पचास साल पहले तक बंगाल के देहातों और कस्बों में कविवालों का ज़ोर था और छोटे-बड़े सब उनका तमाशा देखने जाते थे। साहित्य इनसे कहांतक आगे बढ़ा, इसमें संदेह है, पर साहित्य के वाहन भाषा के लिए कविवालों के भ्रमणों के द्वारा सारे बंगाल में एक तरह की भाषा का प्रचलन होने में सहायता मिली।

सोलहवीं सदी में एक कविवाले का पता मिलता है, जो जाति से मोची थे। उनका नाम रघु था। ऐसा मालूम होता है कि पहले केवल कथित छोटी जाति-वाले ही इसमें दिलचस्पी लेते थे, पर बाद को इनके द्वारा किये गए कार्यों को इतनी सफलता मिली कि बड़ी जातिवाले इसकी ओर आकृष्ट हुए। ये कविवाले देहात के ही लोग थे, अतएव उनकी रचनाओं में देहात की आत्मा सामने आ जाती है। देहात की छोटी-छोटी बातें इनकी रचनाओं में प्रतिफलित और प्रति-

बिम्बित दिखाई देती हैं। **राम बसु** कविवाले की एक रचना में स्त्री अपनी सखी से पति के प्रवास जाने का वर्णन करती है—"मन की वेदना मन में ही रह गई। जब वह प्रवास में जा रहे थे तो मैं बहुत-सी बातें कहना चाहती थी, पर शरम के कारण मर्म की बात कह न सकी। यदि मैं नारी होकर उनकी खुशामद करती तो सब लोग कहते कि यह निर्लज्ज है। विधाता को धिक्कार है कि उसने मुझे नारी का जन्म दिया। एक तो मेरा यौवनकाल है, उसपर वह वसन्त में गये।'···इत्यादि

इसमें कोई विचित्रता नहीं है, पर असली बात है भाषा की, जो बिल्कुल आधुनिक है। सोलहवीं सदी के मध्य के **रासु नरसिंह** की रचना में भी इसी प्रकार जो भाषा व्यवहृत हुई है, वह आधुनिक बंगला के यथेष्ट निकट है। उनकी एक कविता का अंश यों है—

सखि ए सकल प्रेम प्रेमनाथ,
इहा ते मजिये नाहि सुखेर उदय

और लीजिये—

कह सखि किछु प्रेमेर इ कथा, घुचाव आमार मनेर व्यथा,
करिले श्रवण, हय दिव्य ज्ञान, हेन प्रेम धन उपजे कोथा।

श्री दिनेश सेन ने कुछ प्रसिद्ध कविवालों के नाम गिनाये हैं। रघु के नाम का पहले ही उल्लेख किया जा चुका है। वह जाति से मोची थे और कलकत्ता के उसपार सलकिया के रहनेवाले थे। **रासुनरसिंह, गोजला गुई, लालु नंदलाल** उनके समसामयिक थे। इसके बाद **हरू ठाकुर** या **हरेकृष्ण दीर्घांगी** का नाम उल्लेखनीय है। उनका जन्म कलकत्ता के शिमला नामक स्थान में १७३८ में हुआ था। उन्होंने भी प्रेम के संबंध में गीत गाये, पर कई बार वह प्रेम को ऐहिक जगत से परे ले जाने की चेष्टा भी करते रहे। यद्यपि हरू ठाकुर एक प्रसिद्ध कविवाले हो गये, फिर भी वह पेशेवर कविवाले नहीं थे। कहा जाता है कि एक बार राजा नवकृष्ण ने खुश होकर उनको एक शाल भेंट कर दिया। इसपर उन्होंने फौरन यह शाल अपने साथ के एक कथित नीच जातिवाले ढोलकंची को दे दिया। १८१३ में हरू ठाकुर की मृत्यु हुई।

राम बसु के नाम का उल्लेख पहले ही किया जा चुका है। वह विरह-वर्णन में दक्ष माने जाते थे। **नित्यानंद बैरागी** भी एक सफल कविवाले थे।

उनका जन्म १७२१ में हुआ, वह १८११ में परलोक सिधार गये। उनके बाद भी कई प्रसिद्ध कविवाले हो गये, पर उनके नामों को गिनाने से कोई लाभ नहीं।

कविवालों में **ऐंटनी** नाम से एक पुर्तगाली बहुत प्रसिद्ध हो गये। पुर्तगाली होने पर भी वह तथा उनके भाई **केली** बंगाल में ही बस गये थे। उन लोगों ने व्यापार से बहुत धन कमाया था। ऐंटनी चंदननगर की एक विधवा ब्राह्मणी के प्रेम में पड़ गये और वे दोनों एक साथ रहने लगे। यद्यपि इन दोनों का विवाह नहीं हुआ, फिर भी वे पति-पत्नी के रूप में सम्मानजनक जीवन व्यतीत करते थे। ऐंटनी ने ब्राह्मणी के धार्मिक जीवन में कोई बाधा नहीं डाली और ब्राह्मणी हिंदू आचार से ही रहती रही। ऐंटनी के घर में सारे हिंदू त्योहार मनाये जाते थे, यहांतक कि ब्राह्मणी के अनुरोध पर ऐंटनी ने वऊ बाजार में एक काली मंदिर का निर्माण किया। यह काली फिरंगी काली कहलाती हैं।

ऐंटनी को बंगला भाषा का बहुत अच्छा ज्ञान हो गया था। उनके घर में हिंदू त्योहारां के अवसर पर कविवालों की लड़ाई हुआ करती थी। ऐंटनी इन लड़ाइयों में इतना रस लेते थे कि उन्होंने स्वयं कविवालों का एक दल बना लिया और एक आशु कवि गोरक्षनाथ को अपने दल में नौकर रख लिया। थोड़े दिन में ऐंटनी ने यह देखा कि वह स्वयं गोरक्षनाथ से अच्छी कविता कह लेते हैं इसलिए उन्होंने गोरक्षनाथ को अवकाश दे दिया, और वह स्वयं कविवाले बनकर रंगमंच पर उतरे। ऐसे अवसरों पर वह फिरंगियों के कपड़े छोड़कर उस जमाने के बंगाली लिबास धोती-चादर में हो जाते थे। ऐंटनी इतने जनप्रिय हुए कि उनके सामने दूसरे कविवाले ठहर नहीं पाये। ईसाई बने रहने पर भी ऐंटनी कविवालों के ढंग पर काली की स्तुति से मंगलाचरण करते थे।

भजन साधन जानि ने मां, निजे तो फिरंगी,
यदि दया करे कृपा कर हे शिवे मातंगी।

—'मैं भजन पूजन-नहीं जानता, मैं फिरंगी हूं, फिर भी हे शिवे मातंगी, मुझ-पर दया करो।'

कविवालों की लड़ाई में भद्दी भाषा का व्यवहार निषिद्ध नहीं था, व्यक्तिगत मामले भी उठाये जा सकते थे। एक बार दूसरे कविवाले **ठाकुरसिंह** ने ऐंटनी को इस प्रकार सम्बोधित किया—'सुनो-सुनो जी ऐंटनी, मैं तुमसे एक बात जानना चाहता हूं, तुम्हारे बदन पर यह धोती-चादर क्यों है, कुर्ता कहां गया ?'

सुनो हे ऐंटनी, आमेय एकटि कथा जानते चाई,
एसे ए देशे वेशे, तोमार गाये केनी कुर्ति नाई।

इसके उत्तर में ऐंटनी ने सीधे गाली देते हुए कहा—

ए इ बांगलाय बंगालीर वेशे आनंदे आछि,
हये ठाकरेंसिएर बापेर जामाइ कुर्ती टोपी छेड़ेछि।

—'बंगाल में मैं बंगाली कपड़ों में आनंद से हूं, ठाकुरसिंह के बाप का दामाद बनकर मैंने कुर्ता-टोपी छोड़ दी।'

दूसरे शब्दों में ऐंटनी ने अपनेको पूछनेवाले का बहनोई बतलाया। इस पर जो मनोरंजन हुआ होगा, उसकी कल्पना की जा सकती है। हो सकता है कि इस प्रकार कविवाले जो कुछ देते थे, उसे साहित्य या कला की श्रेणी में मुश्किल से रखा जा सकता है, पर जब साहित्य और कला अपना काम नहीं कर रहे थे, तो ये कविवाले देहातों में कम-से-कम एक प्रकार के सामूहिक जीवन को कायम रख रहे थे। इस संबंध में और एक बात ध्यान योग्य है कि सामंतों और छोटे राजाओं के दरबार में उन दिनों जिस प्रकार शृंगार रसात्मक अश्लील कविताओं का बोलबाला हो रहा था, उनके मुकाबले में क्या कविवालों की कविताएं बहुत निकृष्ट थीं ? हम यहांपर निकृष्ट शब्द को कला या साहित्य की दृष्टि से प्रयोग नहीं कर रहे हैं, यहां तो नैतिक सतह पर बात कही जा रही है। इसमें संदेह नहीं कि सामन्तों और राजाओं के दरबारों में जो कविताएं पढ़ी जाती थीं, उनमें कला की दृष्टि से उत्कृष्टता पाई जाती थी, पर एक तो वे अधिकांशतः चर्वित चर्वण होती थीं और दूसरे जबकि वे ऐसी नहीं होती थीं, उनमें कोई उदात्त उद्देश्य नहीं होता था।

हम आगे कविवालों की रचनाओं के कुछ और नमूने देंगे, जिससे कि यह ज्ञात हो जाय कि कविवाले उच्चतर सतह पर भी जाते थे। पहले एक कविता की दो पंक्तियां उद्धृत की गई हैं, उसीकी पूरी कविता लीजिये—

सखि ए सकल प्रेम प्रेम नाय
इहा ते मजिये नाहि सुखेर उदय
सुहृदभंजन, लोकरंजन, कलंकभाजन होते हय,
ऐमन पिरिति कोरि, जाते तोर, हृदि के ऐहि के आर पारत्रिके।
श्रीनंदनंदन दुःखभंजन, सदा राखि मन तार पाय

अमिय त्यजे गरल भजे उपजे कि सुख,
कलंक घोषण, जगते मरण हते अधिक

—'सखी, इस प्रकार का प्रेम नहीं कहलाता। इसमें फंसकर सुख नहीं मिलता। दोस्ती टूट जाती है, लोग बुरा-भला कहते हैं, कलंक लगता है। ऐसा प्रेम क्यों न किया जाय, जिसमें इस लोक और परलोक दोनों में मजे हों। श्रीनंदनंदन दुःखभंजन हैं, हमेशा उनके चरणों में चित्त रखें। अमृत छोड़कर हलाहल को अपनाने से भला क्या सुख मिलेगा ? और कलंक का लगना तो मरने से भी बढ़कर है।'

क्या यह कहा जा सकता है कि इस प्रकार की कविता किसी प्रकार से अन्य कवियों की आध्यात्मिक कविता से निकृष्ट है ? इश्कमिजाजी और इश्कहकीक़ी का कैसा सुंदर वर्णन है। केवल कविवालों की रचना है, इसलिए इसे निकृष्ट तो नहीं कहा जा सकता, बल्कि इसकी उत्कृष्टता इस बात में है कि यह जनता की समझ में अधिक शीघ्र आयेगी। हम यहांपर उन झगड़ों में नहीं पड़ते कि कथित इश्कहकीकी उसी प्रकार से जनता के लिए अफीम है, जिस प्रकार से अश्लीलता या इतरता है। हम तो यहांपर कविवालों की कविता की तुलना उन कवियों की कविता से कर रहे हैं, जो भद्र समझे जाते हैं।

गतानुगतिक ढंग से ये कविवाले प्रकृति-वर्णन में भी भद्र कवियों से पीछे नहीं थे। एक उदाहरण लीजिये—

सुधीर धारे वहिछे एई घोरतरा रजनी,
ए समये प्राण सखी रे, कोथाय गुण मणि, घन गरजे घन सुनि,
मयूर मयूरी हरषित, हेरि चातक चातकिनी।
ए कदम्ब केतकी चम्पक जाति सेउति शेफालिके,
प्राणे ते प्राणे ते मोह जन्माय प्राणनाथे गृहे ना देखे
विद्युत खद्योत दिवा ज्योतिमय प्रकाशे दिन मणि
प्रिये मुखे मुख दिये सारि शुक थाके दिवस रजनी।

—'यह घोर रजनी मानो एक नदी है और वह मन्द धार से बहती है। इस समय हे प्राणसखी, प्रीतम प्यारे कहां हैं ? बार-बार बादल गरज रहे हैं। मोर और मोरनी हर्षित हैं। मैं चातक चातकी, कदम्ब केतकी तथा तरह-तरह के फूलों को देखती हूं। सुगन्ध से मन मोहान्ध हो जाता है, क्योंकि साजन घर पर

नहीं हैं। बीच-बीच में बिजली कौंधती है और जुगनू चमकते हैं, ऐसा मालूम होता है, जैसे दिन हो गया हो, तोता और मैना दिन-रात अपनी साथिन की चोंच से चोंच सटाये हुए पड़े रहते हैं।'

यह कहा जा सकता है कि ऐसी कविताओं में कोई खास रस नहीं है और बहुत घिसी-पिटी हैं, पर यह बात तो उस युग की सारी भारतीय कविता के सम्बन्ध में कही जा सकती है। यदि प्रकृति-वर्णन है तो वही चातक और चकोर, कुमुद और कमल, कदम्ब और केतकी; यदि भक्ति-रस है, तो वही गज-ग्राह, अजामिल और गणिका, सुदामा के तंदुल और शबरी के बेर, यही सर्वत्र मिलेगा। यदि बेचारे कविवालों ने अपने भद्र बड़भैयों का अनुकरण किया तो इसके लिए उनको बुरा-भला कहना उचित नहीं होगा।

रहा यह कि कविवालों को जनता को खुश करने के लिए कभी-कभी उल्टी छलांगें आदि मारनी पड़ती थीं, यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। दरबारी कवि भी तो अपने प्रभुओं की काम-प्रवृत्ति को उत्तेजित करने के लिए कभी खुल्लमखुल्ला और कभी राधा-कृष्ण की आड़ लेकर शृंगार रस को चरम सीमा तक पहुंचाते थे।

रामप्रसाद सेन का नाम पहले आ चुका है। श्यामाविषयक पद कहने में उनसे बढ़कर कोई नहीं हुआ। उनका जन्म १७१८ में हुआ था। पहले-पहल वह भी दरबारी कवियों के ढंग पर चले। उन्होंने भी विद्यासुन्दर पर लिखा, पर इसके तुरन्त बाद भारतचंद्र इस क्षेत्र में आ गये और उनकी रचना के सामने रामप्रसाद सेन का विद्यासुन्दर फीका पड़ गया। इसके बाद ही रामप्रसाद अपने गांव में लौट गये और वहां आध्यात्मिक जीवन बिताने लगे। वे जिस स्थान पर बैठकर योगाभ्यास करते थे, वह अब भी सुरक्षित है।

उनके पिता का नाम रामराय सेन था। कहते हैं, रिश्तेदारों की बेई-मानी के कारण उनका बचपन बहुत गरीबी में बीता था। जिस समय वह किशोर थे, उस समय उन्हें एक जमींदार के यहां बही लिखने के काम के लिए भेजा गया। अभी वह उम्मीदवार ही थे कि एक दिन देखा गया कि एक बही में गीत-ही-गीत लिखे हुए हैं। जब जमींदार को इस बात का पता लगा और उन्हें यह मालूम हुआ कि ये गीत रामप्रसाद के लिखे हुए हैं, तब उन्होंने रामप्रसाद के लिए तीस रुपये मासिक की वृत्ति बांध दी। रामप्रसाद को राजा

कृष्णचंद्र से भी बाद को चलकर एक वृत्ति मिली। इसके अतिरिक्त १०० बीघे जमीन माफी भी मिली।

रामप्रसाद सेन ने काली पर जो भजन लिखे, वे बहुत ही जनप्रिय हुए, और उनपर भाष्य किये गए। उनके भजनों को वही मर्यादा प्राप्त हुई, जो शास्त्रों को प्राप्त है। उनके भजनों में कहीं-कहीं बड़ी उदात्त भावनाएं हैं—

वारे-वारे जतो दुःख दियो छो, दिते छो तारा,
से केवल दया तव जेनेछि मां दुःख हारा।

—हे तारा, तुमने बार-बार मुझे जो दुःख दिया है और दे रही हो, वह तुम्हारी ही कृपा है।'

एक और भजन लीजिये, जिसमें वह काली-पूजा की आडम्बरयुक्त पद्धति की निन्दा करते हैं। उसमें वह कहते हैं—'मन, तू इतनी चिन्ता में क्यों पड़ा है ? बस एक बार काली कहकर ध्यान में बैठ जा।'

जांक जमके करले पूजा, अहंकार हय मने,
तुइ लुकिये तारे करबि पूजा, जानबे नारे जगत जने।
धातु पाषाण माटिर मूर्ति काज कि रे तोर से गठने,
तुमि मनमय प्रतिमा गड़ि बसाओ हृदि पद्मासने।

—'आडम्बर से पूजा करने पर मन में अहंकार पैदा होता है। धातु, पत्थर, मिट्टी की मूरत से तुझे क्या काम ? तू छिपकर पूजा कर कि किसीको कानों-कान खबर न हो और मनोमय प्रतिमा बनाकर हृदय के पद्मासन में स्थापित कर। तुझे अरवा, चावल और केला आदि के भोग लगाने की क्या जरूरत, तू भक्ति-रस से सिक्त कर उन्हें तृप्त कर। चारों तरफ बत्तियों, झाड़ों की क्या ज़रूरत है, तू अपने मन की मणि जला और उसे दिन-रात जलने दे।'

वे अन्य कविताओं में भी आडम्बर से पूजा करने, तीर्थ-यात्रा, मन्दिर में दर्शनार्थ गमन आदि को अनावश्यक बतलाते हैं। इस प्रकार यह समझना कठिन नहीं है कि वह जनप्रिय क्यों हुए। पूजा में आडम्बर और प्रदर्शन की अधिकता हो जाने के कारण वह धनियों का क्षेत्र बनकर रह गई थी। रामप्रसाद सेन ने पूजा को इन बातों से उबारकर उसे साधारण जनता की चीज बना दिया। यही नहीं, उनके गीतों का यह प्रभाव हुआ कि निर्धन भक्त धनी आडम्बरकारी से श्रेष्ठ हो गया। धर्म की अन्तर्गत वस्तु तो वही रही, पर उसके ऊपरी रूप

में फर्क आ गया। रामप्रसाद सेन बंगाल के घर-घर में छा गये।

उनकी कविताओं के भाव बहुत ही सरल हैं। एक बच्चा भी उन्हें समझ सकता है। यूरोपियन महिला भगिनी निवेदिता ने रामप्रसाद की कृतियों के सम्बन्ध में ठीक ही कहा है कि उनकी रचनाओं में बालक की भावुकताएं व्यक्त होती हैं। वह कहती हैं—'शायद सारे साहित्य में वही एक महान् कवि हैं, जिनकी प्रतिभा एक बालक की भावुकताओं को मूर्त करने में लग जाती है। हमारी अपनी यानी अंग्रेजी कविता में विलियम ब्लेक शायद उनके निकट आते हैं, पर ब्लेक किसी भी तरह रामप्रसाद से श्रेष्ठ नहीं हैं। कवि राबर्ट बर्न ऊंच-नीच-भाव के प्रति सम्पूर्ण रूप से उदासीन हैं, और कवि ह्विटमैन साधारण चीज़ों को गौरवान्वित करके पेश करने के लिए प्रसिद्ध हैं, इस नाते ये दोनों कवि रामप्रसाद सेन से मिलते-जुलते हैं। पर रामप्रसाद शिशुता के जिस श्वेत उत्ताप तक पहुंचे, उसको देखते हुए वह अद्वितीय हैं। उम्र के कारण उनकी कविता में कोई फर्क नहीं आता। उम्र से केवल आत्मविश्वास और संतुलन आता है। एक बच्चे की तरह वह कभी तो गंभीर हैं और कभी प्रफुल्ल हैं, कभी झगड़े पर उतारू हैं तो कभी निराश हैं। पर जहां बच्चे में ये सारी बातें कोई विशेष उद्देश्य नहीं रखतीं, वहां रामप्रसाद में उद्देश्य की गम्भीर निविड़ता है। जो वाक्य उन्होंने कहा, उसमें उन्होंने जगन्माता के गौरव का गान किया।'

शिशु-भाव की एक कविता लीजिये—

अब मैं मां-मां करके और नहीं पुकारूंगा,
मां, तुमने न मालूम मुझे कितनी यातनाएं दी हैं और दे रही हो।
मैं गृहवासी था, तुमने मुझे संन्यासी बनाकर दम लिया,
हे खुले बालवाली, और तू क्या कर सकती है।
यही न होगा कि दर-दर भीख मांगूंगा,
मां मर जाने पर क्या कोई लड़का नहीं जीता!
रामप्रसाद तो अपनी मां का ही बेटा था,
पर तू तो मां होकर मेरी शत्रु बन गई।
मां के रहते हुए लड़के को यह दुःख मिले?
तो फिर मां के रहने से क्या फायदा?

एक कविता में वह कहते हैं—

हे माता, तू मुझे किस अपराध में
मुझे इस लंबी मियाद के लिए संसार रूपी कारागार में रखती है ?
सवेरे ही उठकर मेरा खटना शुरू हो जाता है,
मैं सारी दुनिया घूम डालता हूं··· इत्यादि

रामप्रसाद सेन की मृत्यु १७७५ में हुई।

रामप्रसाद सेन के कई अनुकरणकारी हुए, जिनमें श्री दिनेश सेन ने इन लोगों का उल्लेख किया है—(१) नाटोर के **महाराजा रामकृष्ण,** ये एक बड़े भक्त राजा माने गए है। इन्होंने काली भक्तिमूलक पद कहे। (२) **कमलाकांत भट्टाचार्य।** वह वर्द्धमान के महाराजा तेजश्चंद्र के गुरु थे। वह कालना के अंबिका-नगर के अधिवासी थे, पर १८०० ई० में वर्द्धमान के कोटलहाटा में आ गये। उन्होंने भी भक्तिरस-मूलक भजन लिखे। (३) **दीवान रघुनाथराय।** (४) **दीवान रामदुलाल नंदी।**

कविवालों की तरह यात्रावाले यानी यात्रा के रचयिता भी बंगला साहित्य को समृद्ध कर गये हैं। जहां कविवाले केवल कविता कहते थे, वहां यात्रावाले जो कुछ कहते थे, उसका अभिनय भी करके दिखलाते थे। यात्रा में किसी प्रकार के पर्दे नहीं होते थे। अभिनय के पहले खोल और करताल बजाकर लोगों को एकत्र किया जाता था, फिर अभिनय शुरू होता था। लड़के साड़ी पहनकर स्त्रियों का पार्ट अदा करते थे। श्री दिनेश सेन ने अपनी पुस्तक में बराबर यात्रा की बुराई की है और उसे एक हास्यास्पद रूप में पेश करने की चेष्टा की है। यह उनकी नासमझी ही सूचित करती है। यात्रा एक तरह से खुली हवा के रंगमंच थे और उनसे लाखों लोगों का मनोरंजन होता था। मध्ययुगीन बंगाल के सांस्कृतिक जीवन में वह एक बड़ी खाई की पूर्ति करती थी। यात्रा-वालों के जरिये से गांववालों में सर्व-सामान्य संस्कृति और भाषा फैलती थी। यात्रावाले पौराणिक कहानियों के अतिरिक्त विद्यासुंदर की कहानी भी प्रदर्शित करते थे। दुःख है कि यात्रावालों का कोई इतिहास नहीं प्राप्त होता, पर ऐसा कहा जा सकता है कि चैतन्य महाप्रभु के युग में यात्रा हुआ करती थी।

गत दो-ढाईसौ वर्षों में कई अच्छे यात्रावाले हो गये हैं, जिनमें **परमानंद**

अधिकारी वीरभूमि में ढाईसौ वर्ष पहले मौजूद थे। यात्रावालों को अक्सर पुरस्कार में बहुत अधिक धन भी मिलता था। नदिया के भाजनघाटा के **कृष्ण-कमल** (जन्म १८१०) एक बहुत प्रसिद्ध यात्रावाले हो गये हैं। उन्होंने 'स्वप्न विलास' नाम से एक पुस्तक भी लिखी, जिसकी बीस हजार प्रतियां बहुत जल्दी बिक गईं। वह बहुत अच्छे गानेवाले भी थे। उनकी मृत्यु १८८८ में हुई।

: ५ :

प्राक-ब्रिटिश युग के मुख्य बंगला कवि

अब हम अपेक्षाकृत आधुनिक युग में पदार्पण करते हैं। अभी तक अंग्रेजी साहित्य का प्रभाव बंगला पर नहीं पड़ा था। इस युग में जो कवि हुए, उनमें दाशरथी राय, रामनिधि गुप्त और ईश्वरचन्द्र गुप्त थे।

दाशरथी राय का जन्म १८०४ के वर्द्धमान के एक गांव में हुआ। उनके घर की हालत इतनी खराब थी कि वह अपने मामा के साथ रहते थे। वहीं वह तीन रुपये महीने की तनख्वाह पर एक नील बागान में नौकर हो गये। यह काम करते समय अकाबाई या अक्षयापातिनी नाम की एक स्त्री के प्रेम में वह फंस गये। कहते हैं, यह स्त्री एक कुख्यात स्त्री थी। पर वह स्त्री उच्चाकांक्षा रखनेवाली थी, उसने कविवालों का एक दल संगठित किया, और अब दाशरथी राय पर यह भार पड़ा कि वह इन कविवालों के लिए कविता की रचना करें। इस रूप में वह काफी चमके और उनकी सुप्त कवि-प्रतिभा जाग उठी। दूसरे कविवालों को जब भी मौका लगता था, वह उनकी बुराई करते थे और चूंकि कविवालों में मुंह पर बुराई करने की प्रथा थी, इसलिए कई बार उनकी भरी सभा में हँसी उड़ाई गई। उनके रिश्तेदार भी उनके पीछे पड़े और अंत में उन्हें कविवालों का साथ छोड़ना पड़ा।

दाशरथी राय ने एक नये ढंग का काव्य निकाला, जिसका नाम पांचाली पड़ा। उनकी कविता बहुत अधिक जनप्रिय हुई। अधिकतर वह राधाकृष्ण के ही विषय को लेकर चले, पर बाद में उन्होंने विधवा-विवाह आदि विषय भी लिये। कविवालों के साथ रहने का यह असर हो गया था कि वह जनता की रुचि को अच्छी तरह

समझते थे, इसके अतिरिक्त वह आवृत्ति की कला में भी पटु थे। कहां तो नील बागान में तीन रुपये मासिक पर नौकर थे, पर अब वह अपनी पांचाली सुनाने के लिए एक रात में तीन रुपये लेने लगे। बढ़ते-बढ़ते उनका पारिश्रमिक प्रतिदिन १५०) रु० हो गया, जिसका नतीजा यह हुआ कि वे १८५७ में एक धनी व्यक्ति के रूप में मरे।

उनकी कविता में अनुप्रास, यमक आदि अलंकारों की भरमार होती थी। बात से बात बनाना और बात में बात निकालना, यह उनकी विशेषता थी। जनता उनकी कविता बहुत पसंद करती थी। कई बार तो वह मौके पर परिस्थिति को देखकर कविता बनाकर सुना देते थे। एक नमूना लीजिये—

पंडित का भूषण धर्म और ज्ञान, मेघ का भूषण बिजली,
सती का भूषण पति, रत्न का भूषण ज्योति।
मिट्टी का भूषण अनाज, योगी का भूषण भस्म,
वृक्ष का भूषण फल, नदी का भूषण जल।
जल का भूषण कमल, कमल का भूषण मधुकर,
मधुकर का भूषण गुंजन, दोनों परस्पर प्रेमबद्ध।
शरीर का भूषण चक्षु, जिससे जगत देखा जाता है,
दाता का भूषण दान, और साथ ही मिष्टभाषण।

ऊपर जो अनुवाद पेश किया गया, उसमें मूल का सौन्दर्य नहीं आ सका, क्योंकि मूल का सौंदर्य बहुत-कुछ अनुप्रास, तुक और भाषा के ऐश्वर्य में है। यह कल्पना की जा सकती है कि जिस समय दाशरथी राय ऐसी कविताएं जनता के सामने पेश करते थे, एक के बाद एक आश्चर्य के कारण जनता में खूब वाहवाही होती होगी। इस कविता की एक-एक उक्ति एक सूक्ति के रूप में है, और जब इतनी सूक्तियां एक साथ पिरोकर अल्पज्ञ श्रोताओं के सामने एक साथ आती थीं तो वह उन्हें अभिभूत कर देती थीं। इस कविता की एक विशेषता यह भी है कि इसमें मौलिकता बहुत अधिक है। दाशरथी राय तथा उनके समसामयिक साहित्यकारों ने बंगला साहित्य के क्षेत्र को जिस तरह बनाया, शायद वही इस बात के लिए जिम्मेदार हों कि बाद को चलकर बड़े-बड़े अंग्रेजीदाओं को भी अन्य प्रभावों के बावजूद बंगला में लिखना पड़ा। दिनेशचंद्र सेन ने यह साफ लिखा है कि साहित्य की रचना अथवा उसकी गुणग्राहकता अब केवल

उच्चतर वर्ग तक सीमित नहीं थी। 'साधारण जनता भी यह अनुभव करने लगी थी कि बंगला साहित्य उसका है। कहा जा सकता है कि हमारे साहित्य में यह ज्वार का युग था, और ऐसे युग में सत्साहित्य के साथ-साथ कुसाहित्य या अपसाहित्य भी मिला हुआ था।''[१]

दाशरथी राय ने धार्मिक गीत भी लिखे। ऐसा मालूम होता है कि उन्हें जब जैसी जनता मिलती थी, वह उसी प्रकार की कविता कहते थे। उनकी यह कविता इस बात को सिद्ध करती है—

दोष कारू नाय गो मा
आमि स्वखात सलिले डूबे मरिमा

—'किसीका दोष नहीं है, हे मां, मैं स्वयं ही अपनी खोदी हुई खाई में डूब रहा हूं।'

कहते हैं, मृत्यु-शैया पर उन्होंने एक कविता अपने भाई तीनकौड़ी उर्फ तीनू को सम्बोधित करते हुए कही थी, जो बहुत करुण है। उसमें उन्होंने कहा था—'भाई तीनू, तुम लौट जाओ, मैं नहीं जाऊंगा और न जा सकता हूं। संसार में अकेले ही आया और अकेले ही जाना है।' इसके बाद उन्होंने इसी कविता में यह कहा था कि भाई तीनू, जो कुछ मेरा घर-द्वार, जमा-पूंजी है, वह सब तुम्हारा है, तुम विधवा को अन्न देना।' फिर वह कहते हैं—'तुम यह सोचते होगे कि मैं अकेला हूं, पर यह बात गलत है। मैं माता की गोद में हूं।'

दाशरथी राय की पचास रचनाएं उपलब्ध है, जिनमें कुल पचास हजार पंक्तियां हैं।

इस युग के दूसरे कवि **रामनिधि गुप्त** या निधूबाबू के पिता वैद्यक से किसी तरह गुजारा करते थे। उसका जन्म १७३८ में हुआ। रामनिधि को बंगला के अतिरिक्त फारसी का भी बहुत अच्छा ज्ञान था। कहा जाता है, उनको थोड़ी-थोड़ी अंग्रेजी भी आती थी। शायद वह एक पादरी के यहां पढ़ने के लिए भेजे गए थे, पर उन्होंने अंग्रेज़ी सीखने में विशेष ध्यान नहीं दिया। संगीत में उनकी रुचि थी और वह उसीके अनुशीलन में लगे रहते थे। थोड़े ही दिनों में उन्होंने संगीत में अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया और इस संबंध में उनकी ख्याति फैल गई।

---

[१] देखिये, बंगला भाषा और साहित्य (अंग्रेजी), पृष्ठ ७४८

बीस साल की उम्र में उन्हें छपरा में कोई नौकरी मिल गई और वहां रहते समय उनके साथ एक मुस्लिम गानेवाले का साबका पड़ा, जिससे उन्हें बहुत लाभ हुआ। कुछ समय बाद उनमें गाना लिखने की अभिलाषा इतनी जगी कि वह बंगाल में लौट गये।

निधूबाबू को ही यह श्रेय है कि बंगला कविता और संगीत को धार्मिक रचनाओं के स्वर्ग से उतारकर पार्थिव जगत में ले आये। अवश्य ही धार्मिक होने के कारण पूर्ववर्ती कविताओं में पार्थिव भावनाओं, जैसे प्रेम और विरह आदि के व्यक्त होने में कोई दिक्कत नहीं पड़ती थी, राधा और कृष्ण की आड़ भी नाममात्र होती थी, अवश्य ही विद्यासुंदर के गाने थे, पर वे भी सोलहों आने धार्मिकता से मुक्त नहीं थे, क्योंकि अंत तक सुंदर को देवी की स्तुति करना पड़ी और तभी जाकर विद्या के साथ उसका मिलन हुआ है। निधूबाबू ने प्रेम को अपने ही अधिकारों पर स्थापित किया और उन दिनों उत्तर भारत में प्रचलित टप्पा सुर को अपनाया। निधूबाबू के प्रेम-गीत बहुत संक्षिप्त होते थे। उनमें भाषा की आडम्बरमय शैली नहीं है। वह हृदय को छू जाते हैं। उन्हें पढ़ते-पढ़ते यह मालूम होता है कि कई बार हृदय पर चोट लगी। अत्यंत गीतधर्मा होने के कारण उनकी कविताओं का अनुवाद संभव नहीं है, क्योंकि अनुवाद में वह बहुत फीके पड़ जायंगे। ये कविताएं गाने के लिए ही लिखी गई थीं। इन सब बातों के बावजूद हम उनकी एक कविता का अनुवाद प्रस्तुत करते हैं—

मैं जिससे प्रेम करता हूं वह यदि मुझसे प्रेम करे,
तो प्रेम में क्या मज़ा रह जाता ?
फिर तो टेसू में सुगंध होती, केतकी में कांटे न होते,
चंदन में फूल लगते, और ईख में फल लगते।

एक और नमूना लीजिये—

कितना ही सोचता हूं कि रूठूंगा और निहोरे करवाऊंगा,
पर जब उसका मुख देखता हूं तो यह सब भूल जाता है।
आंखें अभिमान में कहती हैं कि ऐसा किया कि सुख गया,
उसको देखते ही मैं उसके अधीन हो जाता हूं।

ये गीत उच्च वर्गों में बहुत प्रसिद्ध हुए और यह कहा जा सकता है कि सचमुच निधूबाबू का एक युग चल पड़ा। इसने भी बंगला साहित्य को बल दिया।

ईश्वरचंद्र गुप्त अपने युग के बंगाल में बहुत बड़े साहित्यकार माने गये। शायद वह स्वयं इतने बड़े साहित्यकार नहीं थे, पर उन्होंने जिस प्रकार से लोगों को बंगला रचना के लिए अनुप्रेरित किया, वह बहुत बड़ी सेवा थी।

ईश्वरचंद्र का जन्म १८११ में हुआ। उनके पिता आठ रुपये मासिक पर एक नील बागानवाले के यहां नौकर थे। जब उनकी उम्र केवल दस वर्ष की थी, तभी उनकी माता की मृत्यु हो गई। ऐसा मालूम होता है कि उतनी ही उम्र में वह काफी सयाने हो चुके थे, जैसा कि सभी प्रतिभावान लड़के होते हैं। जब उनकी माता की मृत्यु पर उनके पिता ने दूसरी शादी की तो उनको बहुत दुःख हुआ। जब उनकी विमाता से उनका परिचय कराया गया तो उन्होंने एक ईंट फेंककर अपना जवाब दिया। इसपर उनके चाचा ने तैश में आकर उन्हें बहुत पीटा। तब उन्होंने अपनेको एक कमरे बन्द में कर लिया और चौबीस घंटे तक उस कमरे को नहीं खोला।

पन्द्रह साल की उम्र में एक लड़की से उनकी शादी भी कर दी गई, जिससे उनकी शिक्षा की इतिश्री हो गई। उनको स्त्री के रूप में एक अयोग्य लड़की मिली, जो हकलाती थी। इस प्रकार ईश्वरचंद्र का जीवन बहुत दुखी रहा। पढ़ने-लिखने में वह कोई अच्छे नहीं थे और लोग समझते थे कि वह किसी काम का नहीं होगा।

फिर भी बचपन से ही उनमें कवित्व-शक्ति का स्फुरण दृष्टिगोचर होने लगा था। एक बार की बात है कि कुछ लोग फारसी कविता पढ़कर बंगला में उसका अर्थ बताते जा रहे थे। ईश्वरचंद्र ने बढ़े ध्यान से उन लोगों की बातचीत सुनी और थोड़ी ही देर में कुछ बंगला कविता बनाकर सामने आये, जिससे लोग दंग रह गये, क्योंकि मूल फारसी कविता के सारे भाव इसमें आ गये थे। फिर भी केवल कवित्वशक्ति से आगे बढ़ना सम्भव नहीं था। सौभाग्य से इन्हीं दिनों जोड़ा-सांको के ठाकुर-परिवार के श्री योगेंद्रमोहन ठाकुर का ध्यान उनकी तरफ गया, और ईश्वरचंद्र गुप्त के सामने एक दूसरी ही दुनिया खुल गई। उन्होंने अपने प्रयास से विद्या प्राप्त की और कुछ समय में ही वे इस लायक हो गये कि श्री योगेंद्रमोहन ठाकुर के साथ मिलकर 'सम्वाद प्रभाकर' नामक एक साप्ताहिक पत्र निकाला। यह १८३० के मार्च की बात है।

'सम्वाद प्रभाकर' उन दिनों बंगला में बहुत ही प्रसिद्ध हुआ और इस

प्रसिद्धि का कारण ईश्वरचंद्र की कविताएं थीं। व्यंग और विद्रूप लिखने में ईश्वरचंद्र बहुत पटु थे। स्वाभाविक रूप से ऐसा पत्र खूब चला। यह द्रष्टव्य है कि इसी पत्र में श्री बंकिमचंद्र तथा श्री दीनबंधु मित्र की रचनाएं पहले-पहल छपीं। कहते हैं कि ईश्वर गुप्त गुणी होने के अतिरिक्त गुणग्राहक भी थे। बंकिमचंद्र और दीनबंधु मित्र की प्रतिभा पहचानकर उन्हें आगे ले आने का श्रेय ईश्वर गुप्त को ही है।

१८३२ में श्री योगेंद्रमोहन ठाकुर का देहांत हो गया। ईश्वर गुप्त इससे इतने हतोत्साह हो गये कि उन्होंने 'सम्वाद प्रभाकर' बंद कर दिया, पर उन्हें तो इस बीच में अखबार का चस्का लग चुका था, इसलिए वह इसकी तैयारी में रहे कि किसी तरह 'सम्वाद प्रभाकर' को फिर से निकाला जाय।

अंत में १८३६ में 'सम्वाद प्रभाकर' एक अर्द्ध-साप्ताहिक के रूप में निकाला जा सका। इसका फिर से स्वागत हुआ और १८३९ में इसे दैनिक बना दिया गया। ईश्वर गुप्त की ख्याति सारे बंगाल में फैल गई और उन्होंने १८४९ में 'सम्वाद रत्नावली' नाम से एक अन्य पत्र का सम्पादन शुरू किया। उन्होंने इस बीच संस्कृत से भागवत और प्रबोध-चंद्रोदय नाटक का बंगला अनुवाद तैयार किया। कुल मिलाकर उन्होंने कविता की एक लाख पंक्तियां लिखी होंगी।

यों तो जैसा कि बतलाया गया उन्होंने संस्कृत से अनुवाद किया, पर उनका यश उनकी अखबारी कविताओं से फैला। यहां यह बता दिया जाय कि वह व्यंग और कौतुक हमेशा सही दिशा में ही प्रयुक्त नहीं करते थे। उस युग के वातावरण के अनुसार ही उनकी कविताएं होती थीं। 'सम्वाद प्रभाकर' में उन दिनों के एक कवि गौरीशंकर भट्टाचार्य उर्फ गुडगुडे भट्टाचार्य के विरुद्ध बहुत-सी कविताएं छपी थीं। ईश्वर गुप्त अपने पत्र 'सम्वाद प्रभाकर' में लिखते थे, और गुडगुड़े भट्टाचार्य 'रसराज्य' में उसका उत्तर देते थे। इस बात का फायदा उठाकर मि० लँग आदि पादरियों ने बड़ा आंदोलन किया। वह चाहते थे कि इन पत्रों का दमन किया जाय। बात यह है कि इनके कारण भारतीय जनता में जागृति बढ़ रही थी, इससे भोले-भाले लोगों को ईसाई बनाने में बाधा पड़ती थी।

ईश्वर गुप्त ने प्रेम के सम्बन्ध में भी बहुत-सी कविताएं लिखीं। एक कविता

प्रथम चुंबन पर है, जिसमें उसे प्रणय-सुख का सार, अपार आनंदप्रद और प्रेमी-प्रेमिक का धन बतलाया है। बतलाया गया है कि यदि प्रणय का प्रथम चुंबन मिले तो उसके सामने वह अमृत भी तुच्छ है, जिसके पीछे राहु पूर्णिमा के चांद को ग्रसा करता है। फिर इसी कविता में कहा गया है कि असुर लोग जिस सुरा देवी की उपासना करते हैं, जिसके लिए यदुवंशी मारे गये, ऐसी सुरा भी प्रणय के प्रथम चुंबन के आगे कुछ नहीं है। वह कहते हैं कि यदि कुबेर का सारा धन मिले, गोलकुंडा के सब हीरे हाथ लग जायं, सोना और चांदी का बना सुमेरु शिखर मिले, सागर के सारे रत्न और गजमुक्ताओं की राशि मिले, तो भी मैं उन सबको प्रणय के प्रथम चुम्बन के सामने लात मार दूंगा। इस प्रकार की बहुत-सी कविताएं हैं।

ईश्वर गुप्त ने अपने युग में जो महान ख्याति पाई थी, उसकी कल्पना आज करना सम्भव नहीं है। अब शायद ही कोई उनकी कविता पढ़ता हो। ईश्वर गुप्त ने कविवालों के लिए भी कुछ कविताएं लिखी थीं, पर उनका सबसे महत्व-पूर्ण कार्य यह था कि उन्होंने अपनी कुछ हद तक अश्लील और इतर ही सही, कविताओं के द्वारा बंगाली मध्यवित्त वर्ग में पढ़ने का, विशेषकर अखबार पढ़ने का, चस्का डाला, इसके लिए ईश्वर गुप्त की जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी है। पत्रों को अपने संपादन और रचनाओं के द्वारा जनप्रिय बनाने के अतिरिक्त उन्होंने एक बहुत बड़ा काम यह भी किया कि बड़ी खोज से उन्होंने भारतचंद्र, जयनारायण सेन आदि कवियों की जीवनियां प्राप्त कीं और उन्हें 'सम्वाद प्रभाकर' में छापा।

यहां यह प्रश्न स्वतः उठता है कि पत्र-सम्पादन में कविता लिखने का स्थान भले ही कुछ हो, पत्रों में गद्य की ही प्रधानता होती होगी, इस विषय में ईश्वर गुप्त का क्या स्थान है ? बताया गया है कि ईश्वर गुप्त का गद्य आज बिल्कुल पंडिताऊ, यहांतक कि हास्यास्पद ज्ञात होता है।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि ईश्वर गुप्त ने बंगला साहित्य के क्षेत्र में बड़ा महत्वपूर्ण कार्य किया। बाद को जो लोग आये, उनके लिए उन्होंने रास्ता बहुत-कुछ साफ किया।

: ६ :

आधुनिक बंगला गद्य का प्रारम्भ

आधुनिक बंगला साहित्य का कहां से प्रारंभ होता है, इस संबंध में मत-भेद हो सकता है, पर यदि हम साहित्यिक बंगला गद्य के प्रारंभ से आधुनिक बंगला साहित्य का प्रारंभ मानें तो किसीको भी किसी प्रकार आपत्ति न होगी।

यों तो बंगला गद्य के प्रारंभ को बहुत प्राचीन काल तक खींचा जा सकता है, पर सच बात यह है कि हिन्दी तथा अन्य कई आधुनिक भारतीय भाषाओं के गद्य की तरह बंगला साहित्यिक गद्य का प्रारम्भ भी अठारहवीं शताब्दी के अंत में हुआ। उस समय तक काव्य, आख्यान, धर्मतत्व, इतिहास, स्मृति इत्यादि सारे विषय चौदह अक्षरवाले पयार तथा त्रिपदी छंद में रचित होते थे। डा० सुकुमार सेन का कहना है कि पयार की शक्तिशालिता के कारण ही आधुनिक बंगला साहित्य में गद्य को प्रोत्साहन नहीं मिला। इसमें सन्देह नहीं कि पयार छंद इस अर्थ में बहुत शक्तिशाली है कि उसकी रचना करीब-करीब उतनी ही आसान है, जितनी गद्य-रचना, पर यह मान लेने पर भी इस बात की व्याख्या रह जाती है कि गद्य-रचना भी तो सरल थी, फिर उसका विकास क्यों नहीं हुआ ?

इसका प्रधान कारण यह है कि अभी तक भारत में छापेखाने का प्रचार नहीं हुआ था, साहित्य हाथ से लिखी हुई नकलों के जरिये से ही फैलता था, इस कारण पद्य को तरजीह दी जाती थी। पद्यबद्ध होने के कारण पुस्तकें याद रक्खी जा सकती थीं। श्री सजनीकांत दास ने बंगला गद्य के विलम्बित विकास के लिए यह जो कहा है कि बंगाली कवि-स्वभाव थे, इस कारण उनमें गद्य का देर में विकास हुआ, यह केवल एक तथ्य को जानकर उसकी बेकार प्रशंसा-त्मक व्याख्या करना है, इसलिए हास्यास्पद भी है। अंग्रेजी आदि जिन भाषाओं में गद्य का पहले विकास हुआ, क्या उनके बोलनेवाले कम कवि-स्वभाव थे ? फिर दूर क्यों जाया जाय, एक तमिल के अतिरिक्त कदाचित् सभी भारतीय भाषाओं में, यहांतक कि पाश्चात्य देशों में भी गद्य की द्रुत उन्नति छापेखाने के

साथ ही हुई। साहित्य की व्याख्या में सजनीकांत दास की तरह कूपमंडूकता कई बार अज्ञान के कारण ही उत्पन्न होती है, पर ऐसी व्याख्याओं से खतरा यह है कि लोग उसे सही समझकर बहक न जायं।

सोलहवीं शताब्दी के पहले का कोई बंगला गद्य नहीं मिला, पर हमें इतने ब्यौरे में जाने की आवश्यकता नहीं है। हमें तो उस गद्य से मतलब है, जिससे आधुनिक साहित्य का प्रारम्भ माना जा सकता है। फिर भी यह बता दिया जाय कि पहले-पहल गद्य का प्रयोग वैष्णवों ने और उसके बाद उनकी देखा-देखी रोमन कैथोलिक पुर्तगाली पादरियों ने किया। सत्रहवीं सदी के मध्य भाग में मग डाकू भूषण के एक जमीदार के लड़के को पकड़ ले गये। एक पुर्तगाली पादरी ने उसे डाकुओं से खरीद लिया और ईसाई धर्म में दीक्षित कर उसका नाम दोम **आन्तोनियो** रक्खा। बाद को चलकर दोम आन्तोनियो स्वयं एक पादरी बन गया और उसने ईसाई धर्म की बढ़ाई प्रमाणित करते हुए एक प्रश्नोत्तर-मूलक पुस्तिका लिखी। इस पुस्तिका का संक्षिप्त नाम 'ब्राह्मण कैथोलिक संवाद' था। बाद को इस पुस्तक का पुर्तगाली भाषा में अनुवाद हुआ। मूल पुस्तिका की एकमात्र जानी हुई पांडुलिपि पुर्तगाली एवोरा शहर में सुरक्षित थी।[१]

पुर्तगालियों ने इसी प्रकार बंगला व्याकरण तथा कोश आदि तैयार किया। इसके बाद हम एकदम से अंग्रेजी शासन के युग में पहुंच जाते हैं। कम्पनी के ज़माने में बंगला मुद्रण का सूत्रपात हुआ। बंगला मुद्रण के सृष्टिकर्ता विल्किन्सन थे और उनसे श्रीरामपुर के पंचानन कर्मकार ने हरफ तैयार करना सीखा था। कम्पनी के युग में अठारहवीं सदी के अन्त में तीन कानून-सम्बंधी पुस्तकें प्रकाशित हुईं। ये पुस्तकें अनुवाद के रूप में थीं।

अठारहवीं शताब्दी में श्रीरामपुर में स्थापित बैप्टिस्ट मिशन की ओर से बंगाल में ईसाई धर्म के प्रचार का आन्दोलन चल पड़ा। १८०० ई० की जनवरी में मिशन प्रेस की स्थापना हुई। यद्यपि इस प्रेस का उद्देश्य ईसाई धर्म का प्रचार था, फिर भी बंगाल की सुप्रसिद्ध कृत्तिवासी रामायण तथा काशीराम दास के महाभारत का मुद्रण इसी प्रेस में हुआ। ईसाई धर्म की पुस्तकें तो यहां से प्रकाशित हुईं ही। यद्यपि इन लोगों का उद्देश्य ईसाई धर्म का प्रचार करना था,

---

[१] बांगला साहित्ये गद्य—सुकुमार सेन, पृष्ठ ११.

फिर भी यह मानना पड़ेगा कि बंगला गद्य के निर्माण में इन लोगों ने बड़ा हाथ बंटाया।

उधर १८०० ई० की मई में ईस्ट इंडिया कम्पनी ने अपने अंग्रेज़ कर्मचारियों को देशी भाषाओं की शिक्षा देने से लिए कालेज ऑव फोर्ट विलियम की स्थापना की, पर बंगला विभाग खुलते-खुलते १८०१ की मई आ गई। इस विभाग के अध्यक्ष विलियम केरी थे और इनके सहकारी के रूप में कई पंडित काम करते थे। इन लोगों ने जिन पुस्तकों की रचना की, उन्हींको आधुनिक बंगला गद्य की मर्यादा दी गई है। केरी के सहकारियों में **रामराम वसु** (मृत्यु १८१३) प्रधान थे। श्रीरामपुर मिशन से उनकी दो पुस्तकें 'राजा प्रतापादित्यचरित' (१८०१) और 'लिपिमाला' (१८०२) प्रकाशित हुई थीं। कहा जाता है कि राजा राममोहन ने प्रतापादित्य-चरित शुद्ध किया था। गोलोकनाथ शर्मा द्वारा अनूदित हितोपदेश इसी समय के लगभग प्रकाशित हुआ।

फोर्ट विलियम कालेज के सहकारियों में **मृत्युंजय विद्यालंकार** भी कई पुस्तकें लिख गये हैं। उनका 'बत्रिस सिंहासन' पहले-पहल १८०२ में प्रकाशित हुआ। बाद को श्रीरामपुर और लंदन से इसके कई संस्करण प्रकाशित हुए। मृत्युंजय कई प्रकार की सरकारी नौकरियों में रहे, १८१९ में मुर्शिदाबाद में उनकी मृत्यु हुई। वह केवल एक लेखक या अनुवादक ही नहीं थे, बल्कि अपनी विद्वत्ता के लिए बहुत प्रसिद्ध भी थे। उनके विचार बहुत कट्टर थे, फिर भी एक ऐसा उल्लेख मिलता है, जिससे ज्ञात होता है कि राजा राममोहन ने तो १८१८ में सहमरण के विषय में पुस्तिका प्रकाशित की, पर १८१७ में ही उन्होंने यह व्यवस्था दी थी—"चितारोहण अपरिहार्य नहीं है। यह इच्छाधीन विषयमात्र है। अनुगमन और धर्म-जीवन-यापन इन दोनों में शेषोक्त ही श्रेयतर है। जो स्त्री अनुमृता नहीं होती अथवा अनुगमन के संकल्प से च्युत हो जाती है, उसे कोई दोष नहीं लगता।"

राजा राममोहन राय के आते-आते बंगला गद्य कुछ बंध चुका था। राममोहन का जन्म एक मत के अनुसार १७७० में और दूसरे मत के अनुसार १७८० में हुआ। राममोहन राय ने १८१५ में वेदांत पर बंगला भाषा में पुस्तक लिखी। मृत्युंजय ने उसके विरुद्ध 'वेदांत चंद्रिका' पुस्तक लिखी और अपनी पुस्तक में राममोहन को बगुला भगत, कपटी तत्वज्ञानी, धूर्त-अवधूत आदि

विशेषणों से याद किया, यद्यपि उनका नाम कहीं नहीं लिया गया।

राममोहन राय के हाथ में पड़कर पहले-पहल बंगला गद्य उन्नीसवीं शताब्दी में पाठ्य पुस्तकों के दायरे से बाहर निकला। १८१५ में राममोहन राय के दो अनुवादात्मक ग्रंथ 'वेदांत ग्रंथ' और 'वेदांत सार' प्रकाशित हुए। जब मृत्युंजय ने इसके विरुद्ध 'वेदांत चंद्रिका' लिखी तो उसके जवाब में राममोहन ने 'भट्टाचार्येर सहित विचार' लिखा। इसके बाद राममोहन ने सहमरण-प्रथा के विरुद्ध उसे अशास्त्रीय साबित करते हुए 'प्रवर्तक ओ निवर्तके संवाद' तथा 'गोस्वामीर सहित विचार' दो पुस्तिकाएं लिखीं। इसके विरुद्ध काशीनाथ तर्क-पंचानन ने १८२३ में राममोहन को गालियां देते हुए 'पाषंड पीड़न' नामक पुस्तक लिखी। राममोहन भी चुप बैठनेवाले नहीं थे। उन्होंने उसी साल 'पथ्य प्रदान' नाम से पुस्तक लिखी। राममोहन की शैली की विशेषता यह थी कि वह तर्क और युक्ति से काम लेते थे, इसके विरुद्ध पंडितों की शैली कटूक्ति और गाली-गुफ्तार की शैली थी।

१८२१ के सितम्बर में राममोहन ने 'ब्राह्मनीकल मेगज़ीन' नाम से एक पत्रिका निकाली। इसका एक दूसरा नाम 'ब्राह्मणसेवक' था। उसी साल के दिसंबर में 'संवाद कौमुदी' भी प्रकाशित हुई। १८२२ में राममोहन ने 'मीरतुल अख़बार' नाम से फारसी भाषा में एक पत्र निकाला। डा० सेन ने लिखा है कि फ़ारसी भाषा में लिखा हुआ यही प्रथम मुद्रित समाचारपत्र था। राममोहन ने गद्य में कठ, मुंडक, मांडुक्य, वाजसेनीय संहिता आदि का गद्यानुवाद प्रस्तुत किया। उन्होंने पद्य में भगवद्‌गीता का भी अनुवाद किया था, पर अब यह अनुवाद प्राप्त नहीं है। उन्होंने कुछ आध्यात्मिक गीत भी लिखे थे।

व्याकरण के क्षेत्र में भी उन्होंने काम किया था। १८२६ में उन्होंने अंग्रेज़ी में बंगला व्याकरण लिखा था। बाद को बंगला में इस पुस्तक का जो रूप प्रकाशित हुआ, उसका नाम 'गौडीय व्याकरण' पड़ा। यह पुस्तक उनकी मृत्यु के कुछ दिन बाद प्रकाशित हुई। इसमें कोई संदेह नहीं कि राममोहन ने बंगला भाषा की बहुत अधिक सेवा की। यहां संक्षेप में बता दिया जाय कि राममोहन ने भारतीय पुनरुत्थान में कितना जबर्दस्त हाथ बटाया।

राममोहन अंग्रेज़ी, संस्कृत, फारसी, अरबी आदि कई भाषाओं के विद्वान थे। राममोहन ने प्राच्य और पाश्चात्य सभ्यता का मूल स्रोतों से अध्ययन किया

था। वह इस नतीजे पर पहुंचे थे कि भारतीय धर्म का सार एकेश्वरवाद है, न कि बहुदेव-देवी पूजा। उन्होंने इस संबंध में १८०४ में ही फारसी में एक पुस्तक लिखी, जिसमें यह प्रतिपादन किया कि एकेश्वरवाद ही शास्त्रीय है। उनकी इस चेष्टा से पादरी बहुत नाराज हुए, पर कट्टर हिन्दू भी उनसे रुष्ट हुए। १८१५ में उन्होंने वेदांत पर जो कुछ लिखा, उसमें एकेश्वरवाद का प्रतिपादन किया गया। उसी साल उन्होंने मानिकतल्ला में आत्मीय सभा नाम से एक संस्था स्थापित की, जो आगे चलकर उपासना समाज, ब्रह्म सभा या ब्राह्म समाज में परिणत हो गई।

सहमरण के विरुद्ध उन्होंने जो आंदोलन चलाया, उसके कारण १८२९ में ब्रिटिश सरकार ने कानून बनाकर इस प्रथा को बंद कर दिया। उन्होंने मूर्ति-पूजा, तीर्थों का ढकोसला आदि के विरुद्ध भी अविश्रांत आंदोलन किया।

राममोहन के राजनैतिक विचार भी बहुत परिपक्व थे। जब वह इंगलैंड जा रहे थे, उस समय उन्होंने एक फ्रेंच जहाज़ को फ्रांस की क्रांतिकारी पताका धारण किये हुए देखा। इसपर वह इतने मुग्ध हुए कि उन्होंने उस जहाज़ को खड़ा करवाया, उसपर चढ़े और चिल्ला-चिल्लाकर फ्रांस की जय बोलने लगे। लंदन में रहते समय उन्होंने अपना देशी पहनावा नहीं छोड़ा। वह भारतवर्ष को स्वतंत्र, ब्रिटेन के मित्र तथा एशिया को आलोक प्रदान करनेवाले के रूप में देखना चाहते थे।

यह तो पहले ही बताया जा चुका है कि अपने समाजा-सुधार तथा धर्मसुधार-मूलक कार्यों के सिलसिले में साहित्य-रचना की। उन्होंने पत्र-पत्रिकाओं के दमनमूलक कानूनों के विरुद्ध भी लड़ाई की। उन्होंने गोरों और भारतीयों में भेदभावमूलक सरकारी नीति का भी विरोध किया। उन्होंने कुलीन प्रथा के विरुद्ध आंदोलन किया। उन्होंने स्त्रियों के उत्तराधिकार, दहेज आदि के संबंध में भी आंदोलन किया। सच तो यह है कि वह एक तरफ जहां पाश्चात्य सभ्यता को अपनाने के पक्ष में थे, वहीं वे उसके हानिकारक उपादानों के विरुद्ध उठ खड़े हुए। ऐसे क्रांतिकारी तथा उच्च विचारवाले व्यक्तित्व के हाथों में प्रारंभिक बंगला साहित्य का निर्माण-कार्य पड़ना बंगला साहित्य के लिए बहुत सौभाग्य की बात थी।

: ७ :

बंगला का पहला उपन्यास

बंगाल में अंग्रेजी शिक्षा के प्रवर्तन के साथ-ही-साथ उपन्यास-साहित्य का आविर्भाव हुआ। यों तो कहने के लिए यह कहा जा सकता है कि भारत में भी पहले उपन्यास होते थे, पर सच्ची बात यह है कि न केवल भारत में, बल्कि सभी देशों में पूंजीवाद और छापेखाने के साथ-साथ उपन्यासों का आरम्भ हुआ।

यों तो रामायण, महाभारत में भी उपन्यास का मजा आता है, पर वे पद्य में हैं। यदि हम संस्कृत गद्य-साहित्य की ओर दृष्टिपात करें तो कथासरित्सागर, बेताल पंचविंशति, दशकुमार-चरित, कादम्बरी तथा बौद्ध जातकों में उपन्यास के कई उपादान मौजूद हैं। इन ग्रन्थों में वर्णन के आडम्बर के नीचे निश्चय ही अक्सर कहानी दबकर रह गई है। बौद्ध-जातकों में फिर भी कुछ गनीमत है, क्योंकि उनमें राजाओं से उतरकर साहित्य की वस्तु को बहुत-कुछ मध्यम वर्ग में लाया गया है, और वर्गों का भेद उतना स्पष्ट नहीं है। फिर भी इन सबकी कहानियों में ऊल-जलूल बातों के साथ-साथ वास्तविक घटनाएं इस प्रकार मिलाई गई हैं कि आधुनिक पाठक उसे सहन नहीं कर सकता। अप्राकृतिक या अतिप्राकृतिक बातों की भरमार है।

पंचतंत्र इनसे बिल्कुल भिन्न प्रकार का साहित्य है। यदि कहा जाय कि हमारा पंचतंत्र सारे विश्व-साहित्य में अनोखा है तो कोई अत्युक्ति न होगी। केवल ईसप की कहानियां उसके कुछ पास आती हैं, यद्यपि यह भी एक मत है कि ईसप की कहानियां पंचतंत्र से ही उद्भूत हैं। पशु-पक्षियों की बातचीत के जरिये से जीवन-संबंधी मोटी-मोटी बातें बता देने की ओर ही लेखक का ध्यान है, उसमें चरित्र-चित्रण या नाटकीय गुण-उत्पादन का कोई प्रयास नहीं है। कहानी तो महज़ एक बहाना है, लेखक का उद्देश्य नीति की शिक्षा देना है। अवश्य विष्णु शर्मा ने इससे अधिक कुछ दावा भी नहीं किया है। उन्होंने तो साफ कह दिया है कि कथा के मिस से बालकों के लिए नीति शिक्षादान ही उनका उद्देश्य है। बाल-साहित्य के रूप में पंचतंत्र हमेशा आदर प्राप्त करेगा, पर उससे उपन्यास-साहित्य से जो रस मिलता है, उसकी आशा करना सर्वथा व्यर्थ है।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, हमारे प्राचीन साहित्य में जातक साहित्य ही उपन्यास के सबसे नजदीक है। उस युग की बहुत-सी घटनाओं का इससे परिचय प्राप्त होता है। अतिरंजन की मात्रा अपेक्षाकृत कम है।

जब बंगला का निजी अस्तित्व कायम हो गया तो उसमें भी बहुत-कुछ संस्कृत का ही सिलसिला चला, पर बंगला में उस प्रकार शब्दाडंबरपूर्ण समास-बहुल रचना की गुंजाइश नहीं थी, इसके अलावा बंगला की रचनाएं पंडितों के लिए न होकर साधारण लोगों के लिए थीं, अतएव रचना कुछ सरल अवश्य हो गई, फिर भी ढांचा तो वही रहा, और उपाख्यानों का रुख भी धार्मिक ही रहा।

महाप्रभु चैतन्य पर जो पुस्तकें लिखी गई, उनमें रामकृष्ण की जगह चैतन्य को बैठाया गया, फिर भी बातें वही रहीं। बल्कि इस संबंध में कलकत्ता विश्वविद्यालय के द्वारा संगृहीत 'मैमनसिंह के गीत' आधुनिक उपन्यास के अधिक निकट हैं। इन गीतों का रचनाकाल सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी माना गया है। इन गीतों के आविष्कार से बंगला साहित्य की एक लुप्त कड़ी का पता लगा है। कृत्तिवास, काशीराम, मुकुन्दराम और भारतचन्द्र में जो खाई है, वह इनके आविष्कार से बहुत कुछ पाटी जा चुकी है। इन गीतों में छोटे-छोटे उपाख्यान भी आते हैं। इनमें उस समय के समाज के बहुत सजीव चित्र मिलते हैं। इन गीतों के सम्बन्ध में सबसे बड़ी बात यह है कि इनमें परम्परागत वर्णन-शैली को बलपूर्वक हटाकर जो चीज़ जैसी है, उसे उस रूप में देखने की चेष्टा है। प्रेमिक-प्रेमिकाओं की बातचीत या व्यवहार के कृत्रिमता लाने की चेष्टा न कर, उन्हें अधिक-से-अधिक स्वाभाविक बनाने की चेष्टा है। यदि बंगला साहित्य में अंग्रेजी से स्वतंत्र कोई ऐसा साहित्य है, जो साथ ही आधुनिक उपन्यास-साहित्य के बहुत करीब है तो वह मैमनसिंह के गीत हैं।

इनके अतिरिक्त बंगला साहित्य में अरबी, फारसी सूत्र से आये हुए हातिमताई की कहानी, लैला-मजनू, चहारदरवेश, गुलबकावली आदि कहानियां भी मौजूद थीं। इन कहानियों का प्रचार हिन्दू, मुसलमान सभी घरों में था।

जब बंगाल में समाचारपत्रों का आरम्भ हुआ, तभी उसीके साथ-साथ उपन्यास-साहित्य का भी सूत्रपात हुआ। १८२१ में 'समाचार-दर्पण' में 'बाबू' नाम से एक रेखाचित्र छपा। दो अंकों में याने २४ फरवरी और ६ जून के अंकों में

यह रेखाचित्र सम्पूर्ण हुआ। इसमें उस युग के एक धनी-पुत्र तिलकचन्द्र का चित्रण था। यह धनी-पुत्र मुसाहिबों से घिरे रहते हैं, उन्हें न तो कोई शिक्षा मिली है और न उनमें कोई चरित्र-बल है। तिलकचंद्र अपने अंतर की शून्यता को बाहरी आडंबर से ढकने की चेष्टा करते रहते हैं। उनकी एक चिन्ता यह भी है कि मुसाहिबों में उनकी इज्ज़त बनी रहे। नतीजा यह है कि वह शुरू से आखिर तक हास्यास्पद बने रहते हैं। यह रेखाचित्र पाठकों के मनोरंजन और साथ ही नसीहत के लिए लिखा गया था।

मालूम होता है 'बाबू' रेखाचित्र बहुत प्रसिद्ध हुआ, इसलिए १८२३ में प्रमथनाथ शर्मा ने 'नवबाबू विलास' नाम से एक रचना प्रकाशित की, जिसके संबंध में यह बताया जाता है कि यह बंगला का पहला उपन्यास है। **प्रथमनाथ शर्मा** का असली नाम भवानीचरण वन्द्योपाध्याय था। एक ऐसा भी अनुमान है कि शायद 'बाबू' के भी यही लेखक थे। वे 'समाचार चंद्रिका' और 'सस्वाद-कौमुदी' नामक दो पत्रों के सम्पादक थे, और हिन्दू समाज के स्तंभ माने जाते थे। 'नवबाबू-विलास' को 'बाबू' का ही एक परिवर्द्धित संस्करण कहा जा सकता है। इसमें भी उन्हीं बातों का चित्रण था, जिमका चित्रण 'बाबू' में था। इसका भी उद्देश्य समाज-सुधार-मूलक था।

इन दोनों रचनाओं में चित्रित बाबू उस समय के समाज की एक विशेष उपज था। उसकी सारी आमदनी जमींदारी से आती थी, पर पहले के युग में ज़मींदारों पर जो थोड़ी-बहुत रोक थी, वह उसके शहर में आकर बस जाने से टूट गई थी। धन उड़ाने के उपाय पहले के मुकाबले में अधिक थे, इसीसे 'बाबू चरित्र' बना।

१८५७ में **प्यारी चांद मित्र** का 'अलालेर घरेर दुलाल' प्रकाशित हुआ। मज़े की बात यह है कि यह भी उसी विषय को लेकर चला। १८६२ में **काली-प्रसन्न सिंह** ने 'हुतोम पेंचार नक्काशा' लिखा, वह भी इसी विषय पर था। मालूम होता है कि उस युग के बुद्धिजीवी धनिकों की उच्छृंखलता से बहुत परेशान थे।

'अलालेर घरेर दुलाल' पहले के धनी पुत्रों से विशिष्ट इस अर्थ में था कि उसका नायक मिस्टर शेरवोर्न के स्कूल में गया था, इसलिए उसने कुछ अंग्रेज़ी शब्द और टीमटाम अपनाई थी। उस समय का सुन्दर चित्र उसमें आ जाता

है। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से यह उपन्यास बाद के बहुत-से उपन्यासों से अच्छा है। इसमें से एक चरित्र ठग चाचा है। झूठे वादे करने में और चालाकी में वह ऐसा चरित्र बन जाता है, जिसे भुलाना असंभव है। कोई चरित्र नाक से बोलता है तो कोई किसी ढंग से वाक्यों की रचना करता है, कोई गवास से पीड़ित है। इस प्रकार यह एक सफल व्यंगात्मक रचना है। इस उपन्यास की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें वागाडंबरपूर्ण भाषा छोड़कर बोल-चाल की भाषा अपनाई गई है। इससे भी बड़ी बात इस उपन्यास के बारे में यह है कि यह बंगला का पूर्णकाय पहला उपन्यास है। ऐतिहासिक दृष्टि से कुछ भी कहा जाय, साहित्यिक दृष्टि से यहीं से बंगला उपन्यास का सूत्रपात होता है। फिर तो वह एक अनवरत धारा में चलने लगता है।

'आलालेर घरेर दुलाल' में अंग्रेज़ी शिक्षा की प्रथम प्रतिक्रिया के चित्र मिलते हैं। श्रीकुमार बनर्जी के अनुसार इस पुस्तक में १७७५ से लेकर १८२५ तक के वंगाली समाज का चित्र मिलता है। अभी तक अंग्रेज़ी शिक्षा जातीय जीवन में मज्जागत नहीं हुई थी, अभी तक इस बात का प्रबल संघर्ष चल रहा था कि यह रहे या वह रहे। इस कारण एक उखाड़-पछाड़ का वातावरण था और चूंकि अभी तक यह तय नहीं हुआ था कि कितना रहेगा और कितना जायगा, इसलिए वातावरण में एक विक्षोभ और आलोड़न मचा हुआ था। उस समय यह तो निर्णीत-सा हो चुका था कि पाश्चात्य रंग-ढंग और विचारधारा बल्कि विचारशैली की विजय होगी, पर अभी न तो प्राचीन और अर्वाचीन का कोई समन्वय होता दिखाई पड़ रहा था, और न एक-दूसरे पर पूरी तरह से हावी हो सकी थी।

यहांपर यह भी बात स्पष्ट कर दिया जाय कि जिन लोगों ने पाश्चात्य सभ्यता से चकाचौंध होकर उसकी बुरी-भली सब बातें अपना लीं, स्वाभाविक रूप से उन लोगों ने बंगला छोड़कर अंग्रेज़ी अपनाई, नतीजा यह हुआ कि बंगला साहित्य में वे अपनी कोई निशानी नहीं छोड़ गये। हां, ऐसे लोगों में माइकेल मधुसूदन थे, जिन्होंने ईसाई धर्म ग्रहण किया और अंग्रेज़ी में काव्य रचना करने की ठानी, पर कुछ ऐसा संयोग हुआ कि भीतर-भीतर वह बंगला से प्रेम करते थे, और अन्त तक उन्होंने अंग्रेज़ी को तिलांजलि देकर बंगला अपनाली। इसी प्रकार **श्री राजनारायण बसु** को बुढ़ापे में होश आया और उन्होंने अपने यौवन

की आंग्ल-प्रभावित लीलाओं की कहानी व्यंगात्मक रूप से लिखी। पर किसीने उपन्यास में उस धारा का प्रतिनिधित्व नहीं किया, जिसने पाश्चात्य सभ्यता के सामने साष्टांग दण्डवत कर आत्मसमर्पण कर दिया था। उपन्यास-साहित्य में यह पहलू अज्ञात ही रह गया।

फिर भी 'आलालेर घरेर दुलाल' और बाद के बहुत-से उपन्यासों में जिस संघर्ष का चित्र हमारे सामने आता है, उससे हम उस युग के सामाजिक मन्थन का बहुत अच्छी तरह अनुमान कर सकते हैं। यह बात कही गई है कि 'आलालेर घरेर दुलाल' के लेखक जीवन के बृहत् व्यापक सत्य को अपनी सत्ता में प्रस्फुटित नहीं कर पाये, पर उन्होंने जो सामाजिक चित्र हमारे सम्मुख पेश किया है, वह बहुमूल्य है।

समसामयिक अन्य साहित्य

हम इस पुस्तक में बंगला साहित्य के इस युग का कोई व्यौरेवार इतिहास देने नहीं जा रहे हैं। हमारे इस संक्षिप्त इतिहास में मुख्य धाराओं और व्यक्तित्वों के सम्बन्ध में ही इंगित किया जा सकता है।

उन्नीसवीं सदी के द्वितीय दशक के बाद बंगला साहित्य में बराबर संस्कृत तथा अंग्रेजी पुस्तकों के अनुवाद प्रकाशित होते रहे। सामयिक पत्र-पत्रिकाएं भी प्रकाशित होने लगीं। श्रीरामपुर के मिशनरियों ने १८१८ में 'दिग्दर्शन' नाम से एक छोटी-सी मासिक पत्रिका निकाली। लगभग इसी समय **गंगाधर भट्टाचार्य** ने कलकत्ता से 'बंगाल गजट' प्रकाशित किया। इन पत्रों में छोटी-मोटी खबरों के साथ-साथ दिलचस्प बातें रहती थीं। 'दिग्दर्शन' में भूगोल, इतिहास तथा देश-विदेश की बहुत-सी आश्चर्यजनक बातें प्रकाशित होती थीं। 'समाचार दर्पण' (१८१८ की मई में प्रथम प्रकाशन) के सम्पादक के स्थान पर **जान क्लार्क मार्शमैन** का नाम जाता था, पर इसके असली संपादक उनके सहकारी जयगोपाल तर्कालंकार थे। 'समाचार दर्पण' मिशनरियों का पत्र था, इसलिए इसमें अक्सर ऐसी बातें भी प्रकाशित होती थीं, जो हिन्दुओं के लिए अप्रिय और ग्लानिकर होती थीं। इसी कारण राममोहन राय को 'संवाद कौमुदी' प्रकाशित करनी पड़ी। 'संवाद कौमुदी' ने भाषा को सरल बनाने में हाथ बटाया। इस पत्र में राममोहन के सहयोगियों में **भवानीचरण वन्द्योपाध्याय** (१७८७-१८४८) थे।

मतभेद हो जाने के कारण वह अलग हो गये और उन्होंने एक दूसरा पत्र निकाला।

भवानीचरण ने कई पुस्तकें भी लिखीं और हितोपदेश तथा 'मेटिरिया मेडिका' का अनुवाद किया। इन्होंने पोथी के ढंग से भागवत, गीता और मनुसंहिता आदि शास्त्र-ग्रंथों का प्रकाशन भी किया।

इसके बाद १८२९ में 'बंगदूत' प्रकाशित हुआ। इसके परिचालकों में राममोहन राय, द्वारकानाथ ठाकुर, प्रसन्नकुमार ठाकुर आदि थे और नीलरतन हालदार इसके संपादक थे। बाद के युग में कवि ईश्वर गुप्त के संपादन में 'संवाद प्रभाकर' निकला। कवि ईश्वर गुप्त अच्छे कवि माने गये हैं, पर उनका गद्य सुंदर नहीं था। वह दीर्घ वाक्य, समासबद्ध शब्द तथा अनुप्रास-मंडित शैली में विश्वास रखते थे, जिससे बंगला गद्य आगे की ओर न बढ़कर पीछे की ओर लौटा। 'संवाद प्रभाकर' के बाद 'ज्ञानान्वेषण', 'ज्ञानोदय' आदि पत्रिकाओं का प्रकाशन हुआ।

बंगला पत्र-पत्रिकाओं के क्षेत्र में इसके बाद १८४३ में 'तत्व बोधिनी पत्रिका' का प्रकाशन एक बहुत बड़ी घटना है। यह पत्र ब्राह्म समाज के मुखपत्र के रूप में प्रकाशित हुआ, पर प्रथम बारह वर्ष तक इसके संपादक अक्षयकुमार दत्त थे, जिनकी रुचि विज्ञान और गंभीर चिंतन में थी, इस कारण एक संप्रदाय का मुखपत्र होते हुए भी यह पत्र कट्टरता के कीचड़ से कभी कलुषित नहीं हुआ। अक्षयकुमार वैज्ञानिक विषयों पर निबंध लिखा करते थे। बाद को कुछ दिनों तक प्रसिद्ध सुधारक **ईश्वरचन्द्र विद्यासागर** थोड़े दिनों के लिए इसके संपादक थे। इस पत्र को उस युग के श्रेष्ठ लेखकों, जैसे महर्षि देवेंद्रनाथ ठाकुर, राज-नारायण वसु और द्विजेंद्रनाथ ठाकुर आदि का सहयोग प्राप्त था। 'तत्व वोधिनी पत्रिका' ने बंगला साहित्य में जो आदर्श पेश किया, उसीको बंकिमचंद्र ने अपने 'बंगदर्शन' पत्र में आगे बढ़ाया।

अक्षयकुमार दत्त (१८२०-८६) अपेक्षाकृत आधुनिक बंगला गद्य के प्रथम सुलेखक माने गये हैं। उन्हें बाकायदा शिक्षा प्राप्त करने का मौका नहीं मिला। पहले उन्होंने संस्कृत भाषा पढ़ी, बाद को अपने ही प्रयास से अंग्रेजी सीखी। कवि ईश्वर गुप्त के असर में पड़ने के कारण वह पहले-पहल कविता की ओर झुके, पर साथ ही ईश्वर गुप्त के कहने पर अंग्रेजी अखबारों के लेखों का अनुवाद भी करने लगे। अक्षयकुमार बाद को देवेंद्रनाथ ठाकुर के संसर्ग में आ

गये और १८४० में जब तत्वबोधिनी पाठशाला स्थापित हुई तो देवेंद्रनाथ ने उन्हें वहां शिक्षक लगवा दिया। छात्रों के लिए कोई उपयुक्त भूगोल नहीं था, इसलिए अक्षयकुमार ने एक भूगोल लिखा और वह तत्व-बोधिनी सभा के द्वारा प्रकाशित हुआ। १८४२ में उन्होंने प्रसन्नकुमार घोष के साथ मिलकर 'विद्या-दर्शन' नाम का एक मासिक पत्र निकाला, जिसकी केवल ६ संख्याएं निकलीं, पर 'तत्व बोधिनी पत्रिका' चलती रही। जब १८५५ में कलकत्ता में एक नार्मल स्कूल स्थापित हुआ तो विद्यासागर महोदय ने उनसे इस विद्यालय का प्रधान शिक्षक पद स्वीकार करने के लिए कहा। उन्होंने सहर्ष यह पद ग्रहण किया, पर मस्तिष्क रोग के कारण उन्हें यह कार्य छोड़ देना पड़ा। विद्यासागर महोदय ने उनकी सिफारिश की और उन्हें सभा की ओर से कुछ मासिक भत्ता दिया जाने लगा। पर कुछ दिनों के बाद जब उन्हें पुस्तकों से कुछ आमदनी होने लगी तो अक्षयकुमार ने स्वयं यह भत्ता छोड़ दिया।

अक्षयकुमार ने विज्ञान पर कई छोटी-छोटी पुस्तकें लिखीं। उन्होंने 'भारत-वर्षीय उपासक संप्रदाय' नाम से एक इतिहास-ग्रंथ प्रस्तुत किया। इस पुस्तक में इतिहास के अतिरिक्त, धर्म और भाषा विज्ञान पर भी आलोचना थी। उस समय तक प्रकाशित बंगला ग्रंथों में यह शोध की दृष्टि में सबसे उच्चकोटि की पुस्तक थी।

उनकी मृत्यु के बाद जो शोध-संबंधी सामग्री बच गई थी, उसका आधार लेकर उनके छोटे लड़के **रजनीनाथ दत्त** ने 'प्राचीन हिंदु दिगेर समुद्र यात्रा आर वाणिज्य विस्तार' नाम से एक पुस्तक प्रकाशित की। पर यह बाद की बात है।

: ८ :

बंगला रंगमच और नाटक का आदि युग

अत्यंत प्राचीन काल में भारत में रंगमंच थे और नाटक खेले जाते थे। संस्कृत नाट्य साहित्य काफी उन्नत था और समय-समय पर उसमे नई कृतियां आती रहती थीं, पर मुस्लिम युग में तांता टूट-सा गया और बंगाल में जात्रा नामक एक

संगठन रहा, जिसने अभिनय-कला को जीवित रक्खा। धर्म के साथ जुड़ जाने के कारण जात्रा के चालू रहने में सहायता मिली।

पर जिसे हम आधुनिक रंगमंच कहेंगे, बंगाल में उसका उदय अंग्रेजों के आने के बाद ही हुआ। जब अंग्रेजों की भारत में अच्छी-खासी संख्या होगई तो कलकत्ता में अंग्रेजी नाटक के लिए रंगमंच की स्थापना हुई। पलासी के युद्ध के पहले ही लाल बाजार सड़क पर 'प्ले हाउस' नामकनाट्य गृह की स्थापना हुई थी। ईस्ट-इंडिया कम्पनी के हाथ में शासन-सूत्र जाने के पहले ही यह नाट्य-गृह वर्षों तक चालू था। इस संबंध में एक उल्लेखनीय बात यह है कि इसके बहुत बाद १७७४ में एक अंग्रेज ने शिकायत करते हुए यह लिखा था कि कलकत्ता में एक नाट्यगृह है, पर कोई गिरजा नहीं है, जिसके अभाव की पूर्ति पुराने किले के अन्दर के एक बड़े कमरे से की जाती है। दुःख है कि इस नाट्य-गृह में कौन-कौन-से खेल खेले गये, उस संबंध में कुछ जानने का उपाय नहीं है, क्योंकि उन दिनों न तो कोई समाचार-पत्र था, न गजट।

इस प्ले हाउस का किसी तरह अंत हो गया और एक नया प्ले हाउस खोला गया। ऐसा समझा जाता है कि १७७६ के लगभग यह प्ले हाउस खुला। इन नाट्यगृहों में इतना मालूम होता है कि अंग्रेजी नाटक खेले जाते थे और स्त्रियों का पार्ट भी पुरुष ही करते थे। मालूम होता है कि १७८८ के लगभग स्त्रियों का अभिनेत्री रूप में नाटकों में दर्शन होने लगा। समसामयिक समाचार-पत्रों में यह तो उल्लेख मिलता है कि अभिनेत्रियों के आ जाने से नाटकों की जन-प्रियता बहुत बढ़ गई। यद्यपि मुख्यतः अंग्रेजी नाटक ही खेले जाते थे, फिर भी १७८९ में अंग्रेजी में शकुन्तला नाटक के खेले जाने का पता मिलता है।

अभी तक बंगला नाटकों के खेले जाने का कोई उल्लेख नहीं मिलता। यह एक मजे की बात है कि जिस प्रकार आधुनिक बंगला गद्य के निर्माण में पुर्तगाली पादरियों तथा यूरोपियनों ने प्रमुख भाग लिया, उसी प्रकार से बंगला रंगमंच को प्रारम्भ करने का श्रेय **लेबेडाफ** नामक एक रूसी को प्राप्त है। लेबेडाफ के संबंध में इतना ही पता चलता है कि वह एक बहुभाषाविद रूसी था और उसने गोलोकनाथ दास की सहायता से बंगला नाटक तैयार कराये और उनको खेलने का प्रबंध किया।

उसने बहुत दिनों तक भारतीय भाषाओं में शोध-कार्य किये, फिर दो

अंग्रेजी नाटकों का बंगला में अनुवाद किया। एक नाटक का नाम था 'डिसगाइस' (छद्म वेश) और दूसरे का नाम था 'लव इज़ दि बेस्ट डाक्टर' (प्रेम ही सबसे अच्छा चिकित्सक है)। लेबेडाफ ने यह देखा कि जिन हिस्सों में भंड़ैती अधिक थी, लोगों ने उन्हें गम्भीर हिस्सों से अधिक पसन्द किया। लेबेडाफ ने स्पष्ट लिख दिया है कि उसने इन अनुवादों को प्रकाशित किया था, फिर इन्हें पंडितों के सुपुर्द किया गया था।

लेबेडाफ आगे लिखते हैं—"इसके बाद मुझे इस बात की सुविधा मिली कि मैं यह देखूं कि पंडितों ने किस भाग और किन वाक्यों को अधिक पसन्द किया और किनसे उनकी भावुकता उत्तेजित हुई। मेरा विचार है कि यदि मैं यह कहूं कि मेरे अनुवाद के कारण हास्य रसवाले तथा गम्भीर दृश्यों का रस बढ़ गया था तो इसका कारण यह था कि मुझे जैसा गुरु मिला था, वैसा किसी दूसरे यूरोपीय को प्राप्त नहीं था और इसके बगैर दूसरे मेरी बराबरी कैसे करते? जब पंडितों ने मेरे अनुवाद की प्रशंसा की तब मेरे भाषाविद गोलोकनाथ दास ने यह कहा कि यदि मैं इस नाटक को खेलना चाहूं तो गोलोकनाथ मुझे देशी लोगों में से ही पुरुष तथा स्त्रियां अभिनेता और अभिनेत्रियों के रूप में उपस्थित कर सकता है। मुझे यह बात सुनकर बहुत खुशी हुई।"

थोड़े में कहानी यों है कि तीन महीने के अन्दर अभिनेता तथा अभिनेत्रियां मिल गईं और १७९५ के २७ नवम्बर को बंगला भाषा में 'छद्म वेश' नाटक प्रथम बार खेला गया। १७९६ के २१ मार्च को फिर यह नाटक खेला गया। लेबेडाफ को गवर्नर जनरल तथा दूसरे लोगों की तरफ से बहुत प्रोत्साहन मिला। दुःख है कि लेबेडाफ ने गंभीर शोध की तरफ ध्यान न दिया और थोड़े दिनों के अंदर वह यहां से चला गया और उसने संस्कृत का एक व्याकरण रूसी भाषा में प्रकाशित किया।

लेबेडाफ के संबंध में जो कुछ पता लगा वह यह है कि उसका पूरा नाम गेरेसिम लेबेडाफ था। वह यूक्रेन का एक किसान था और १७७५ में नेपेल्स के रूसी दूतावास में किसी नौकरी पर था। वह पेरिस, लन्दन घूमते हुए बैंड मास्टर के रूप में मद्रास आया और १७८७ के अगस्त में कलकत्ता पहुंचा। वह बेहाला का उस्ताद था। यह पता नहीं लगा कि गोलोकनाथ दास कौन थे।

हमने पहले जो कुछ कहा, उसमें हमें यह भी बताना चाहिए था कि जो

अंग्रेजी नाटक खेले जाते थे, उनमें उन दिनों के बंगाली उच्च शिक्षित दर्शक रूप में भाग लेते थे। यही नहीं, इन नाटकों के लिए चन्दा आदि करने में भी वे बहुत आगे रहते थे। इस प्रकार लोगों में नाटक देखने की अभिरुचि बढ़ रही थी। यह दुःख है कि लेबेडाफ के चले जाने के बाद बहुत दिनों तक बंगला नाटक खेले नहीं गये। जात्रा होते रहते थे, पर उनसे पढ़े-लिखे लोगों की तृप्ति नहीं होती थी। धीरे-धीरे यह आवाज़ उठने लगी थी कि बंगला नाटक खेले जाने चाहिए। १८२९ के एक उल्लेख से यह ज्ञात होता है कि 'समाचार चंद्रिका' ने यह आवाज़ उठाई थी कि जिस प्रकार अंग्रेज़ों के मनोविनोद के लिए सार्वजनिक नाट्य-गृह चालू हैं, उसी प्रकार बंगला में भी नाटक खेले जाने चाहिए। यह कहा गया था कि धनी-मानी व्यक्तियों को आगे बढ़कर इस संबंध में हाथ बटाना चाहिए।

इसी प्रकार की भावना से प्रसन्नकुमार का हिंदू थियेटर तथा नवीनकृष्ण बोस का श्याम बाज़ार थियेटर खुला। हिंदू थियेटर १८३१ के २८ दिसंबर को खुला था। उस दिन **अध्यापक विलसन** के द्वारा अनूदित उत्तररामचरित का एक भाग तथा जूलियस सीजर का एक हिस्सा खेला गया था। डा० विलसन ने केवल अनुवाद किया, ऐसी बात नहीं, बल्कि उन्होंने स्वयं अभिनेताओं को भी प्रशिक्षित किया। नाटक खेले जाते समय सुप्रीम कोर्ट के प्रधान न्यायाधीश तथा यूरोपीय और भारतीय गण्यमान्य व्यक्ति उपस्थित थे।

इसके बाद इन लोगों ने और भी नाटक खेले। यद्यपि कुछ श्वेतांगों ने इनमें सब तरह से हाथ बटाया, पर कुछने खुल्लमखुल्ला इनकी बड़ी निंदा भी की और यह भी कहा कि अभी भारतीय लोगों की शिक्षा इतनी कम है कि उन्हें इन झगड़ों में, विशेषकर अंग्रेजी नाटक खेलने के झगड़े में, नहीं पड़ना चाहिए।

श्याम बाज़ार थियेटर में हिंदू थियेटर की तरह नाटक खेले जाते थे। हिंदू थियेटर केवल इस माने में बंगाली था कि उसके अभिनेता आदि बंगाली थे, पर वहां अंग्रेजी नाटक ही खेले जाते थे। पर श्याम बाज़ार थियेटर में बंगला नाटक खेले जाते थे। इस नाट्य-गृह में भारतचंद्र का 'विद्यासुंदर' नाटक खेला जाता था। कई प्राकृतिक दृश्य भी दिखाये जाते थे और वज्रपात तथा बिजली का कौंधना दिखाने की इसमें व्यवस्था थी। यह एक बहुत मज़ेदार बात है कि नाटक रात साढ़े बारह बजे से लेकर प्रातःकाल साढ़े छः बजे तक खेला जाता था। विद्या का पार्ट राधामणि या मणि नाम की एक बाईजी करती थीं, जिनका पिता बंगाली

था। अन्य स्त्रियां भी इसी प्रकार वेश्यालयों से आई हुई बतलाई जाती हैं। इस नाट्य-गृह के मालिक नवीन बाबू ने अभिनय को सफल बनाने में कुछ उठा नहीं रक्खा था। ऐसा मालूम होता है कि साल में चार-पांच नाटक खेले जाते थे। नाटक देखने के लिए एक हज़ार के लगभग भीड़ होती थी, जिसमें हिंदू, मुसलमान, पछांह के लोग तथा यूरोपियन होते थे।

एक समसामयिक लेखक ने यह लिखा है कि राधामणि की उम्र कोई सोलह साल की थी और यह एक अच्छी गायिका होने के अतिरिक्त हाव-भाव भी खूब करती थी। उस लेखक ने इस बात पर विशेष रूप से आश्चर्य प्रकट किया था कि यद्यपि राधामणि पढ़ी-लिखी नहीं थी और बंगला की बारीकियों से परिचित नहीं थी, फिर भी वह सारे काम अच्छी तरह करती थी। इसी प्रकार इस लेखक ने अन्य अभिनेत्रियों की भी बड़ी प्रशंसा लिखी है।

इस प्रकार की समसामयिक प्रशंसा के साथ-साथ कई ऐंग्लो-इंडियन अखबार इसकी निंदा भी करते थे। 'दि हरकारा' नामक अखबार ने लिखा कि यह तो एक अश्लील नाटक है। 'इंगलिशमैन' नामक अखबार ने इससे भी कुछ आगे बढ़कर यह कहा कि इस प्रकार के नाटकों से भारतीयों की किसी प्रकार नैतिक या भौतिक उन्नति नहीं हो सकती, क्योंकि न तो इसमें किसी प्रकार का नयापन है, न उपयोगिता और न शील और जनता के प्रत्येक हितैषी के लिए यह उचित है कि इस प्रकार के नाटकों के विरुद्ध आवाज़ उठावें।

नवीनबाबू ने बंगला नाटकों को सफल बनाने के लिए अपना सबकुछ स्वाहा कर दिया। उनपर दो लाख रुपये का कर्ज़ चढ़ गया, फिर भी उनका नाम लेबेडाफ के बाद बंगला के रंगमंच के इतिहास में अमर रहेगा।

ऐसा मालूम होता है कि यद्यपि बंगला नाटकों के अभिनय की ओर रुचि बढ़ रही थी, फिर भी उस समय के पढ़े-लिखे वर्ग में अंग्रेजी नाटकों को देखने का चाव बहुत अधिक था। तदनुसार कई ऐसे रंगमंच बने, जो बंगाली अभिनेताओं के द्वारा अभिनीत अंग्रेजी नाटक दिखलाया करते थे। इसका कारण एक तो यह था कि उस ज़माने में पढ़े-लिखे वर्ग अंग्रेजी के बहुत अधिक प्रशंसक थे और सच तो यह है कि बंगला में इस दिशा में था ही क्या? बंगला नाटकों का अभाव रंगमंच की उन्नति में बहुत बाधक था। जिस लेबेडाफ ने बंगला नाटक शुरू किया, वह नहीं रह गये थे और फिर नवीनबाबू ने इस काम को उठाया, वह

भी उन्हीं तक रह गया।

इसमें कोई संदेह नहीं कि 'विद्या सुंदर' ही पहला बंगला नाटक था। 'विद्या सुंदर' के रचयिता **कृष्णचंद्र** ने मृत्यु के पहले 'चंडी' नाम से एक नाटक लिखा था, जिसमें देवी चंडी, महिषासुर और प्रजा यही पात्र थे। सूत्रधार संस्कृत में बोलता था, पर बाकी सब लोग बंगला बोलते थे। पर वह ऐसी बंगला थी और उसमें संस्कृत, हिंदी और फारसी के इतने शब्द थे कि उसे समझना टेढ़ी खीर है। यह नाटक १७६० के लगभग लिखा जा रहा था, पर रचयिता इसे संपूर्ण नहीं कर पाये। पंडित विद्यानाथ वाचस्पति ने 'चित्रयज्ञ' नाम से एक नाटक लिखा, पर यह भी अजीब खिचड़ी भाषा में लिखा गया था, यहांतक कि एक साहब ने इसे एक संस्कृत नाटक करके उल्लेख कर दिया। इस संबंध में तीसरा प्रयास लेबेडाफ का था, जिसका पहले ही उल्लेख किया जा चुका है।

एक उल्लेख के अनुसार श्री **मांकटन** ने १८०९ से शेक्सपियर के 'टेम्पेस्ट' नाटक का अनुवाद बंगला में किया था, पर न तो इसकी कोई प्रति प्राप्त हुई और न इसके खेले जाने का कोई प्रमाण मिलता है। १८२१ में 'कलि राजा' नामक एक प्रहसन के खेले जाने का प्रमाण मिलता है। कई लोगों ने यह संदेह किया है कि यह कोई जात्रा होगा, पर डाक्टर हेमेन्द्रनाथ दास गुप्त ने अकाट्य प्रमाणों से सिद्ध किया है कि इसमें जात्रा शब्द सफर के अर्थ में आता है, न कि जात्रा के अर्थ में। इन्हीं दिनों और भी बहुत-से इसी प्रकार के प्रहसन खेले जाते होंगे, क्योंकि १८८२ के 'संवाद कौमुदी' से एक पत्र-लेखक ने इस बात पर शंका प्रकट की है कि आजकल जो प्रहसन खेले जा रहे हैं, उनका रुझान अनैतिकता की ओर है।

१८२२ के ९ मार्च को एक धनी व्यक्ति के घर पर विलियम फ्रैंकलिन लिखित 'कामरूपा' (Comroopa) का बंगला रूपांतर अभिनीत हुआ था। १८२२ में संस्कृत के 'प्रबोधचन्द्रोदय' नाटक का 'आतम तत्त्व कौमुदी' नाम से प्रकाशन हुआ था। इसी प्रकार १८२२ में 'हास्यार्णव' नाम से एक नाटक प्रकाशित हुआ था। कहा जाता है, यह नाटक यों तो व्यंग्य से भरा पड़ा था, पर इसमें अश्लीलता भी थी। ऐसे ही और भी कई नाटक इस युग में लिखे गए।

१८४० के लगभग 'शकुन्तला' और 'रत्नावली' के बंगला में अनूदित होने का पता लगता है, पर ये नाटक बहुत-कुछ संस्कृत में ही थे। डा० गुप्त के अनुसार

योगेंद्रचंद्र गुप्त के १८५२ में प्रकाशित 'कीर्तिविलास' को ही प्रथम ढंग का बंगला नाटक होने का श्रेय देना चाहिए, यद्यपि कुछ लोगों ने **ताराचरण सिकदार** के 'भद्रार्जुन' को ही यह गौरव दे रक्खा था। कीर्तिविलास वृद्ध राजा चंद्रकांत का पुत्र था और कैकेयी की तरह उसने अपनी दुष्ट रानी की सलाह पर न केवल अपने पुत्र को देश निकाला दिया, बल्कि उसे प्राणदंड भी दे दिया। अन्त में जाकर कामुक सभासद प्राणनाथ की दुर्गति भी दिखाई जाती है।

'भद्रार्जुन' नाटक में सुभद्रा-अर्जुन की कहानी का आधार है। समय की दृष्टि से भले ही 'कीर्तिविलास' पहले प्रकाशित हुआ हो, पर तकनीक की दृष्टि से 'भद्रार्जुन' में ही बंगला नाटक को संस्कृत के सूत्रधार, नन्दी, विदूषक आदि से छुटकारा मिला। इस दृष्टि से ताराचरण सिकदार की सेवा बहुत बड़ी है। बाद को अन्य लोगों ने भी इसको अपनाया और बंगला नाटक का यह अंग हो गया।

'भद्रार्जुन' और 'कीर्तिविलास' के साथ ही 'भानुमती रचित-विलास' नाम से एक नाटक प्रकाशित हुआ। यह पुस्तक मौलिक नहीं थी, बल्कि शेक्सपियर के प्रसिद्ध नाटक 'वेनिस का सौदागर' का ही रूपांतर था। इसमें की भानुमती पोर्शिया है। अंक और दृश्य शब्दों के स्थान पर इसमें अंक और अंग शब्द प्रयुक्त हुए हैं। इसके लेखक **हरचंद्र घोष** थे। यद्यपि यह नाटक मौलिक नहीं था, फिर भी इसमें पाश्चात्य नाटक-कला का ही अनुसरण किया गया था, इस प्रकार यह नवीन नाटक-साहित्य की ओर एक कदम था। इस नाटक में फिर भी सरस्वती की स्तुति और नांदी थी। कहते हैं, इस नाटक को सफलता मिली, इस कारण हरचंद्र ने 'कौरव विजय' नाम से एक नाटक लिखा। इन नाटकों का समय १८५३ के पहले का है। 'कीर्तिविलास' तथा 'भद्रार्जुन' इनसे भी पहले लिखे गए थे।

इसी समय के लगभग कवि **ईश्वरचंद्र गुप्त** ने 'बोधेन्दु विकास' नाम से एक नाटक लिखा। यह 'प्रभाकर' नामक पत्र में १८५३ में प्रकाशित हुआ था। इसमें वार्तालाप के अतिरिक्त गाने भी थे। यह संस्कृत नाटक 'प्रबोधचंद्रोदय' की छाया लेकर लिखा गया था और १८५६ में पुस्तकाकार में प्रकाशित हुआ। यह नाटक रंगमंच के उपयुक्त नहीं पाया गया।

ईश्वरचंद्र गुप्त ने 'कलि' नाम से भी एक नाटक लिखा था, पर वह भी असम्पूर्ण ही रहा। यहां यह बता देना उचित होगा कि 'कीर्तिविलास' और 'भद्रार्जुन' को भी रंगमंच पर जाने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ।

इस युग का सबसे महत्त्वपूर्ण नाटक 'कुलीन कुल सर्वस्व' माना गया है, जिसके लेखक **पंडित रामनारायण तर्करत्न** थे। यह नाटक सम्पूर्ण रूप से मौलिक था। जिस प्रकार से यह नाटक लिखा गया, वह यों है कि रंगपुर के एक जमींदार कालीचरण चतुर्धुरीन ने १८५३ में दो पत्रों में यह प्रकाशित करवाया कि कुलीन प्रथा के विरुद्ध जो सबसे अच्छा नाटक लिखा जायगा, उसके लेखक को पचास रुपये पारितोषिक के रूप में दिये जायंगे। पंडित रामनारायण तर्करत्न के नाटक को यह पारितोषिक मिला और वह इसके बाद इतने प्रसिद्ध हुए कि वह नाटुके रामनारायण कहलाने लगे। १८५४ में यह पुस्तकाकार प्रकाशित भी हुआ। सब दृष्टियों से देखने पर 'कुलीन कुल सर्वस्व' इससे पहले लिखे गए बंगला नाटकों से कई कदम आगे जाता था। कुलीन प्रथा के विरोध में लिखे जाने के कारण यह नाटक एक सामाजिक उद्देश्य भी रखता था। इस नाटक का उन दिनों बहुत प्रचार हुआ और विशेषकर नवयुवकों ने इसका विशेष स्वागत किया।

इन्हीं दिनों 'शकुन्तला' और 'वेणी संहार' नाटकों का भी प्रचार हुआ, पर इनमें से कोई भी उतना जनप्रिय नहीं हुआ, जितना 'कुलीन कुल सर्वस्व' हुआ। इस युग के अन्य उल्लेख योग्य नाटकों में 'स्वर्ण शृंखल' नाम का एक नाटक भी था। ऐसा मालूम होता है कि बंगला नाटक बहुत खेले जाने लगे थे और कई नाटक खेले जाने के लिए लिखे गए। कई धनी व्यक्तियों ने अपने घरों में नाटक खेलने का प्रबंध किया, जिनमें आशुतोष देव या छाबूबाबू तथा कालीप्रसन्नसिंह उल्लेखनीय हैं। शेषोक्त व्यक्ति संस्कृत नाटकों के खेले जाने के पक्ष में थे, इसलिए उनके प्रोत्साहन पर संस्कृत नाटकों के अनुवाद तैयार किये गए। 'मालती माधव' और 'विक्रमोर्वशी' का अनुवाद प्रस्तुत किया गया। यह बता दिया जाय कि अनुवाद करते हुए अनुवादकों ने मूल का सर्वत्र अनुसरण नहीं किया।

१८५८ में **कालीप्रसन्नसिंह** ने 'सावित्री सत्यवान' नाम का एक नाटक प्रस्तुत किया। यद्यपि कथानक महाभारत से लिया गया था, तथापि लेखक ने उसको अपने ढंग से यूरोपीय सांचे में ढाल दिया था। यह नाटक १८५८ के ५ जून को खेला गया था। १८५९ में कालीप्रसन्न ने 'मालती माधव' प्रस्तुत किया, पर इसमें भी उन्होंने रंगमंच पर प्राप्त अनुभवों के अनुसार यथेच्छ परिवर्तन किया था।

इसके बाद तो बंगला रंगमंच में एक नया युग उपस्थित होता है। बेलगछिया नाट्यशाला की स्थापना के साथ बंगला रंगमंच बहुत लम्बी छलांगें भरने

लगता है। इस समय तक इस दिशा में जो थोड़ा-बहुत काम हुआ था, वह समय को देखते हुए कुछ कम नहीं था, पर अब भी बंगला नाटक और रंगमंच की नैया मंझधार में डगमगा रही थी। यह निश्चित नहीं था कि वह अपनी यात्रा में आगे बढ़ सकेगी या डूब जायगी, पर बेलगछिया नाट्यशाला की स्थापना के बाद बंगला रंगमंच एक स्थायी संस्था के रूप में हो गया। पाइकपाड़ा के दो राजाओं ने बहुत खर्च करके रंगमंच का निर्माण करवाया। १८५८ के ३१ जुलाई को रात के साढ़े आठ बजे 'रत्नावली' नाटक आरंभ हुआ और साढ़े बारह बजे यह अभिनय समाप्त हुआ। इस नाटक पर दस हजार रुपये खर्च किये गए थे। सर फ्रेडरिक हेलीडे तथा कई अन्य अंग्रेज भी नाटक देखने आये थे। अभिनेता अच्छे घरानों के लोग थे। बाद को इनमें कई बहुत उच्च पदों पर पहुंच गये। इस अवसर पर केशवचंद्र नामक एक अभिनेता को बहुत ख्याति प्राप्त हुई। इन्होंने विदूषक का पार्ट किया था। बाद को माईकेल मधुसूदन दत्त ने अपना एक नाटक 'कृष्णकुमारी' इसी केशवचंद्र को समर्पित किया था और उन्हें वह उस युग के सबसे बड़े अभिनेता मानते थे। बाद को केशवचंद्र कंट्रोलर जनरल के दफ्तर में सुपरिंटेंडेंट हो गये।

बेलगछिया नाट्यशाला में ही प्रथम राष्ट्रीय आर्केस्ट्रा या वाद्यवृंद का निर्माण हुआ, जो भारतीय वाद्य-यंत्रों पर आधारित था। 'रत्नावली' नाटक बारह रातों तक खेला गया। माइकेल मधुसूदन ने जो पाश्चात्य साहित्य, काव्य, नाटक आदि से भली-भांति परिचित थे, इसकी बहुत प्रशंसा की है।

'रत्नावली' के बाद **मधुसूदन दत्त** लिखित 'शर्मिष्ठा' नाटक इस रंगमंच पर खेला गया। कहा जाता है, जिस समय 'रत्नावली' के अभिनय की तैयारी हो रही थी, उस समय एक दिन मधुसूदन ने रिहर्सल देखकर कहा—"राजा लोग इतने रद्दी नाटक पर इतना पैसा खर्च कर रहे हैं। यदि मुझे मालूम होता तो मैं इस रंगमंच के योग्य कोई नाटक देता।" इसपर लोग उस समय हँसे थे पर बाद को उन्होंने बहुत जल्दी एक नाटक लिखा और १८५९ के ३ सितंबर को उनका नाटक खेला गया। यह नाटक भी बहुत सफल रहा। लोगों ने इसकी बहुत प्रशंसा की। मधुसूदन संस्कृत नाटक से बिल्कुल ही हट गये थे। इसके बाद इस नाट्यशाला में अन्य अनेक नाटक खेले गये। स्वयं मधुसूदन ने 'पद्मावती', 'एके कि बोले सभ्यता', (क्या इसीको सभ्यता कहते हैं) 'बूड़ो

शालिकेर घाड़ेरों', (बूढ़े पर रंग छाया) इत्यादि नाटक लिखे। उनके नाटकों के संबंध में 'कृष्णकुमारी' नाटक भी १८६० में रचा गया।

बंगला नाटक-साहित्य में यह प्रथम दुःखांत नाटक था। इस नाटक की बहुत प्रशंसा हुई। यहां यह बता दिया जाय कि कवि के रूप में मधुसूदन का स्थान बंगला साहित्य में बहुत ऊंचा है, पर जैसा कि डा० दास गुप्त ने लिखा है, हमें यह भूलना नहीं चाहिए कि वह ही प्रथम सफल पौराणिक नाटक, प्रथम दुःखांत नाटक, प्रथम ऐतिहासिक नाटक तथा एक ऐसे प्रहसन के रचयिता, थे, जो अब भी ताजा बना हुआ है। उन्हींकी प्रतिभा के कारण बंगला रंगमंच अपने पैरों पर खड़ा हो गया।

जैसे राजा राममोहनराय आधुनिक बंगला-साहित्य के जनकों में थे, उसी प्रकार ब्राह्म समाज के एक दूसरे प्रमुख नेता भी बाद को बंगला साहित्य के अन्यतम पुरोधा प्रमाणित हुए। यह बहुत कम लोगों को मालूम है कि वह एक अभिनेता भी थे। वे हैमलेट बनकर रंगमंच पर उतरे। यह अंग्रेजी में खेला गया, पर बाद को उन्होंने उमेशचंद्र मित्र रचित 'विधवा-विवाह' नामक एक बंगला नाटक में (१८५९) हाथ बटाया था और उनका भाई इसका एक पात्र बना था।

दीनबंधु-युग की झांकी

इसके बाद हम **दीनबंधु**-युग में प्रवेश करते हैं। पर उसमें प्रवेश करने के लिए कुछ भूमिका की आवश्यकता है। आज बंगालियों में कोई 'नील दर्पण' नाटक को नहीं पढ़ता। मेरा आशय यहांपर उन लोगों को नहीं गिनना है जो परीक्षा पास करने के लिए या साहित्य के इतिहास में गंभीर अध्ययन करने के लिए इस पुस्तक को पढ़ते हैं। यह नाटक केवल साहित्य के इतिहास की दृष्टि से नहीं, हमारे राजनैतिक इतिहास की दृष्टि से भी बहुत महत्वपूर्ण है। उसका महत्व कितना अधिक है, इसका इसीसे अनुमान किया जा सकता है कि स्वयं बंकिमचंद्र ने इस पुस्तक को बंगाल का 'अंकल टाम्स कैबिन' बतलाया है।

यह नाटक नीलकोठी के साहबों के अत्याचारों के विरुद्ध लिखा गया था। यहां पर यह बताना आवश्यक है कि ये नील-कोठी के साहब कौन थे और नील कोठी क्या थी। आजकल तो सभी रंग रासायनिक हैं। पर पहले नील से ही

रंग बना करता था। मैं संक्षेप में नील की खेती का इतिहास प्रस्तुत करता हूं, जिससे आलोच्य नाटक की पृष्ठभूमि समझ में आ जाय।

जब अंग्रेज आये, उन्होंने बंगाल की जमीन को नील की खेती के उपयुक्त पाया। पहले-पहल कुछ किसानों को इसमें फायदा भी रहा। स्वयं राजा राममोहन राय ने १८२६ में यह कहा था कि नील की खेती से किसानों को फायदा है। यदि किसानों पर ही इसका बोना-न बोना, और बोना तो कितना बोना, यह छोड़ दिया जाता तथा उन्हें अपनी उपज को स्वतंत्रतापूर्वक बेचने दिया जाता तो बात और होती।

पर यहां तो कुछ अंग्रेज कोठीवाले इसके एकाधिकारी हो गये और उन्होंने मनमाने ढंग से बर्ताव शुरू किया। यद्यपि ये अंग्रेज कोई सरकारी हैसियत नहीं रखते थे, तथापि अंग्रेज होने के कारण ही उन्हें मानो भारतीयों पर मनमाना करने का पट्टा मिला हुआ था। वे जो चाहे सो करते थे।

यों तो देखने में एग्रीमेंट का रूप होता था, पर असल में किसान को कोई स्वतंत्रता नहीं होती थी। नील की कोठी के कारिंदे जाकर प्रत्येक खेत पर निशान लगा देते थे कि इस खेत में नील और इसमें धान बोया जायगा। किसान की क्या मजाल थी कि वह उसका उल्लंघन करे।

नील कोठियों के साहबों का यह अत्याचार बीसियों वर्ष तक बंगाल में चला। एग्रीमेंट एक साल का होता था, पर असल में आजीवन गुलामी का पट्टा लिखा जाता था। हर साल जब हिसाब होता था तो नील की गाड़ियां देने के बाद नील के किसानों के हिसाब में कुछ भी नहीं निकलता था। नतीजा यह कि उन्हें और भी पेशगी लेनी पड़ती थी।

१६२२ में नील के साहबों के अत्याचारों के विषय में पहला उल्लेख 'समाचार चंद्रिका' और 'समाचार दर्पण' नामक बंगला अखबारों में मिलता है। इसके बाद अक्षयकुमार दत्त ने 'तत्वबोधिनी' पत्रिका में नील के किसानों पर अत्याचार के संबंध में लिखा था। अच्छी-से-अच्छी ज़मीन पर जबर्दस्ती नील की खेती कराई जाती थी।

किसी-किसी क्षेत्र में दस साल के एग्रीमेंट का पता मिलता है। यह भी पता चलता है कि जब नील के किसान अत्याचारों के विरुद्ध विद्रोह करने लगे तो

इस बहाने अत्याचारों को बंद करने के बजाय अंग्रेज सरकार ने नील की कोठी के साहबों को मजिस्ट्रेटों के अधिकार दे दिये। जो लोग अंग्रेज़ी साहित्य और अंग्रेज़ों की विज्ञाननिष्ठा को सामने रखकर साम्राज्यवाद के इन पहलुओं को भूल जाते हैं, वे ब्रिटिश शासन की असलियत को नहीं समझ पाते।

नील के साहबों को यह अधिकार तो पहले से मिला हुआ था कि वह किसानों को जब चाहें तब अपनी कोठी में क़ैद कर लें। नील के किसानों में इससे बड़ा असंतोष फैला हुआ था। इनमें आंदोलन इस मात्रा तक पहुंचा था कि बड़े लाट लार्ड कैनिंग १८५७ के विद्रोह से इसके संबंध में अधिक चिंतित थे। उन्होंने लिखा है—"करीब एक हफ्ते तक मैं इतना उद्विग्न था कि मैं दिल्ली के गदर के समय भी नहीं था, और मुझे डर था कि यदि इस समय किसी नील मालिक ने भय या मूर्खतावश एक गोली चला दी तो उससे संभव है कि बंगाल के दक्षिणी हिस्से में प्रत्येक कारखाने में आग लग जाय।"

शायद इसी उद्विग्नता के कारण बंगाल के लेफ्टिनेंट गवर्नर सर जान पीटर नदी से बंगाल के देहातों का दौरा करने लगे। १८६० के १७ दिसंबर को उन्होंने दौरे के बाद एक रिपोर्ट दी जिसमें उन्होंने कहा कि मैं "६०-७० मील तक भागीरथी तथा जमुना नदियों में नाव के द्वारा दौरा करता रहा तो उसमें मैंने देखा कि यह ६०-७० मील का किनारा अर्ज़ी देनेवाले किसानों से भरा हुआ था, यहांतक कि गांव की औरतें तक जमा थीं, ऐसा मालूम होता है कि जो लोग वहांपर अपनी फरियाद लेकर आये थे वे नदी के दोनों किनारों पर स्थित दूर-दूर के गांवों से आये थे। मैं नहीं जानता कि आजतक किसी राज-कर्मचारी के भाग्य में यह बात हुई कि नहीं कि लगातार १४ घंटे तक दोनों किनारों पर खड़े अर्ज़ी देनेवालों की कतारों के बीच से स्टीमर पर चले। सभी लोग बड़े अदब से मांग रख रहे थे और यह स्पष्ट है कि वे जिस विषय को लेकर आये थे उसके संबंध में बहुत गंभीर थे। यह सोचना बेवकूफी होगी कि जो यह दसियों हज़ार लोग आये थे, और जिनमें पुरुष, स्त्रियां तथा बच्चे थे, उसका कोई अर्थ नहीं है।"

इसके पहले ही १८५९ में ५० लाख नील के किसानों ने हड़ताल कर दी थी। इसीकी प्रतिध्वनि साहित्य में 'नील-दर्पण' नाटक के रूप में हुई। इसे क्यों बंकिमचंद्र ने बंगला का 'अंकल टाम्स कैबिन' बतलाया, यह पहले जो कुछ

लिखा गया उससे स्पष्ट हो गया होगा।

बंकिमचंद्र ने लिखा—"दीनबंधु मित्र को समाज के संबंध में अद्भुत ज्ञान था और उनमें प्रबल सहानुभूति थी। इन्हींके कारण वह नाटक लिखने की ओर अग्रसर हुए। जिन इलाकों में नील पैदा होता था, उनमें वे खूब घूमते रहते थे। वे अपने ही तजर्बे से जानते थे कि प्रजा पर किस प्रकार का अत्याचार हो रहा है। उनको इस प्रजा-पीड़न के संबंध में जितनी जानकारी थी, इतनी और किसीको नहीं थी। अपनी स्वाभाविक सहानुभूति के कारण उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ जैसे उन्होंने ही उन दुःखों को झेला हो। इसीलिए उन्होंने अपनी कवित्वपूर्ण लेखनी से यह दुख-गाथा तैयार की। 'नील दर्पण' बंगाल की 'टाम काका की कुटिया' है। टाम काका की कुटिया ने अमरीका के हब्शियों को गुलामी से मुक्त किया। उसी प्रकार से 'नील दर्पण' नील के गुलामों की गुलामी को मिटाने में बहुत कार्य कर सका।"

हम पहले यह बता दें कि यह पुस्तक किस प्रकार एक भयंकर राजनैतिक अस्त्र के रूप में हो गई। इस पुस्तक का अनुवाद अंग्रेजी में प्रकाशित हुआ। इससे इतना तहलका मचा कि इसके प्रकाशक पादरी जेम्स लेंग पर मुकद्दमा चला और उन्हें एक महीने की कैद तथा एक हज़ार रुपये जुर्माना किया गया। शासक वर्ग के इस क्रोध का यह रूप विशेष ध्यान देने योग्य है कि इस पुस्तक के मूल लेखक को कोई सज़ा नहीं दी गई। अंग्रेज़ी में 'नील दर्पण' के प्रकाशन से सरकार रुष्ट इस कारण हुई कि इससे शासक वर्ग के ढोंग में बाधा पड़ती थी। यहां फिर एक बार हम ब्रिटिश न्याय और अंततोगत्वा सब न्यायों के वर्ग-चरित्र को देख लें।

जिस मधुसूदन दत्त नामक व्यक्ति ने 'नील दर्पण' का अनुवाद किया था, उसे भी सज़ा दी गई। फिर भी आंदोलन चलता रहा। मैं यहां अपने 'राष्ट्रीय आंदोलन का इतिहास' से उद्धृत करता हूं—"आंदोलन ने इतना जोर पकड़ा कि सरकार ने एक नील कमीशन बैठाया, पर इस कमीशन ने कोई अच्छी सिफारिश नहीं की। कमीशन ने उलटा यह कहा कि नील की खेती होनी चाहिए। साथ ही उन्होंने नील के किसानों के दुःखों को दूर करने के लिए कोई अच्छी सिफा-रिश नहीं की। सच तो यह है कि जबतक जर्मनी ने वैज्ञानिक ढंग से नील उत्पादन नहीं किया तबतक नील की खेती चलती रही। भारतवर्ष में उस समय

कोई नेता ऐसा उत्पन्न होता जो नील के किसानों के ग्रांदोलन को १८५७ के विद्रोह के साथ संयुक्त कर देता तो इसमें संदेह नहीं कि भारतीय इतिहास कुछ दूसरा ही होता।"

जो हो, नील के किसानों के विषय को लेकर एक नाटक लिखना बड़े साहस और सूझ की बात थी। इसलिए इसमें आश्चर्य की बात नहीं कि दीनबंधु इस नाटक को लिखकर बहुत प्रसिद्ध हुए और उनका नाटक जनप्रिय हुआ।

दीनबंधु का जन्म बंगला के १२३८ में नदिया जिले के चंबेरिया गांव में हुआ। उनके पिता का नाम कालाचांद मित्र था। बचपन में हेयर स्कूल का छात्र रहते समय ही उन्होंने बंगला लिखना आरंभ कर दिया था। वह ईश्वर गुप्त के अनुयायी थे। ऐसा समझा जाता है कि उनकी पहली रचना 'मानव चरित्र' नामक एक कविता थी, जो ईश्वर गुप्त संपादित 'साधुरंजन' पत्रिका में प्रकाशित हुई थी। इसके बाद तो वह बराबर कुछ-न-कुछ लिखते रहे। उनकी एकाध रचनाएं इतनी प्रसिद्ध हुई कि जिस संख्या में वे छपीं, पत्रिका की उस संख्या को फिर से छापना पड़ा।

दीनबंधु ने जीवन को बहुत पास से देखा था। डाक-विभाग में एक मामूली बाबू के रूप में भर्ती होकर वह उस विभाग के एक बड़े अफसर हो गये थे और इस नाते उन्हें मणिपुर से गंजाम और दार्जिलिंग से समुद्र तक बार-बार जाना पड़ता था। इसके अलावा उनमें यह आदत थी कि वह जहांपर भी दौरे पर जाते, वहां सरकारी काम समाप्त कर हरेक से मिलते थे। इस कारण हम यह देखते हैं कि उनकी रचनाओं में छोटे-से लेकर बड़े तक सबके जीवन से वे बखूबी परिचित थे।

जब उनका 'नील दर्पण' नामक नाटक प्रसिद्ध हुआ तो वह एक पार्टी में बैठे हुए थे। किसीका परिचय अभी नहीं कराया गया था। उस पार्टी में नील कोठी का एक बंगाली कारिंदा भी था। किसी प्रकार से 'नील दर्पण' नाटक पर उसकी नजर पहुंची। इसपर उस कारिंदे ने कहा—"साले ने हूबहू नील की कोठी में जैसे जो कुछ होता है, वैसा ही लिख दिया है। मालूम होता है जसे हमारा कोई कर्मचारी ही लेखक है।"

दीनबंधु ने यह बात सुनी तो वह हँसे। उधर मेजवान ने झेंपते हुए दीनबंधु

का परिचय लोगों से कराया। तब वह कारिंदा दीनबंधु से माफी मांगने लगा। इसपर दीनबंधु बोले—"आपके शब्द चाहे जैसे भी हों, पर आपने जैसी प्रशंसा मेरी की है, वैसी आजतक किसीने नहीं की।"

दीनबंधु के नाटक की इस वस्तुवादिता के कारण ही उनके नाटक में वह गुण आ गया, जिससे वह उस युग में प्रसिद्ध हुए।

संक्षेप में नाटक की कथावस्तु यों है :

गोलोकचंद्र और उनके नौकर साधु में बातचीत हो रही है। साधु यह कह रहा है कि अब इस देश को छोड़ देना चाहिए, पर गोलोक कह रहा है—यहां हमारे सात पुरखे रहते आये है। जो धान पैदा होता है, उससे साल भर चलता है, अतिथि-सेवा होती रहती है और पूजा भी होती है। जो सरसों होती है, उससे तेल मिलता है, और साठ-सत्तर बच जाते हैं। खेत का चावल, खेत की दाल, बाग से तरकारी और पोखरे से मछली मिलती हैं। ऐसे देश को कैसे छोड़ा जाय ?

साधु ने कहा—पर अब तो ये बातें जाती रहीं। नील के साहबों के मारे अब तो नील बोना पड़ता है। उसका भी पैसा मिल जाता तो ठीक रहता।

दूसरे गर्भांक में भी किसान आपस में बात कर रहे हैं कि नील की खेती के मारे सबकी आफत है। किसान आपस में कह रहे हैं कि गाय-बैल बेचकर गांव छोड़कर भाग चला जाय। बात यह है कि किसानों की सारी जमीन पर नील की खेती होने लगी थी।

वे बात ही कर रहे थे कि इतने में अमीन और प्यादे आकर उन किसानों को बांधने लगे।

तीसरे गर्भांक में मिस्टर उड अपने दीवान को इसलिए डांट रहा है कि वह अधिक अत्याचार नहीं कर रहा है। साहब कह रहा है—तुम साले डरपोक हो, नालायक हो, तुम डर गये हो, तुम घबड़ाते हो।

इसपर दीवान कह रहा है—हुजूर, जब मैंने यह ओहदा लिया तो डर कैसा? मैंने तो डर, लज्जा, मान, मर्यादा सबकी तिलांजलि दे दी। गो-हत्या, ब्रह्म-हत्या, स्त्री-हत्या, घर में आग लगाना यह सब तो मेरे लिए अंग के आभूषण हो गये हैं। जेलखाना तो मेरे सिर पर नाचता रहता है।

इसपर साहब ने कहा—मैं बात नहीं मांगता, काम मांगता हूं।

इतने में वे ही दो किसान बंधकर आते हैं। दीवानजी को तो खैरख्वाही दिखानी थी, वे इनपर बहुत बिगड़ते है। कहते हैं—सुना है, तुम साहब को कैद करना चाहते हो।

इसपर वह किसान प्रतिवाद करता है। तब दीवानजी कहते हैं कि गांव में स्कूल बना है, इसीसे राज्य-द्रोह फैल रहा है। साहब कहते हैं कि मैं स्कूल बंद करा दूंगा। इसके अलावा वह और भी बिगड़ते हैं।

दीवानजी कहते हैं—हुजूर, यह नीलवाले खेत में खेती नहीं कर रहा है। साले ने लेने को तो पेशगी के रुपये ले लिये, पर कहता है कि नील की खेती मुझसे नहीं होती। कहता है कि वक्त नही है।

इसपर उडसाहब आपे से बाहर होकर कहते हैं—साला बड़ा हरामजादा है। पेशगी तू लेगा, और खेती मैं करूं ? साला बड़ा हरामी है (जूते की ठोकर मारना), अभी तेरी मुलाकात श्यामचांद से करता हूं।

साहब ने अपने डंडे का नाम श्यामचांद रखा था। उसे उतारकर साहब मारना शुरू करते हैं और किसान जोर-जोर-से चिल्लाता है। इसपर साहब पराक्रम दिखलाने के लिए ब्लाडी, निगर तथा मां-बहन की गालियां देते हैं।

इसी प्रकार से यह नाटक चलता जाता है। ब्रिटिश साम्राज्यवाद का नग्न रूप सामने आ जाता है। हमने पहले ही बतलाया कि अब यह नाटक न तो पढ़ा जाता और न खेला जाता है, फिर भी इस नाटक के अंदर भारतीय इतिहास का एक अध्याय निहित है। इस नाटक को बंगला साहित्य और साथ-ही-साथ भारतीय इतिहास का एक क्रोशशिला कहा जा सकता है। सच तो यह है कि इतिहास की किसी पुस्तक में नील की कोठियों में साहबों के देशव्यापी अत्याचार की कहानी इतने अच्छे ढंग से नहीं लिखी गई है।

दीनबंधु मित्र ने 'नील दर्पण' के बाद 'सधवार एकादशी' (सधवा की एकादशी), 'नवीन तपस्विनी', 'कमले कामिनी' (कमल में कामिनी), 'बिये पागला बुड़ो' (ब्याह करने के लिए पागल बूढ़ा) आदि नाटक लिखे, जो बहुत सफल हुए। बाद में इन नाटकों का कई बार उल्लेख आयेगा।

: ६ :

ईश्वरचंद्र विद्यासागर

बंगला भाषा के इतिहास में **ईश्वरचंद्र विद्यासागर** (१८२०-९१) का स्थान बहुत उच्च है। १८४७ में उनकी लिखी हुई 'बेताल पंचविंशति प्रकाशित हुई। इसमें बंगला भाषा जड़ता छोड़कर सुंदर प्रवाहमही शैली में प्रकट हुई। विद्यासागर ने बंगला गद्य को पहले की तुलना में बहुत आगे बढ़ाया। प्रथम संस्करण में अर्द्ध-विराम चिह्न का प्रयोग बहुत कम था, पर अगले संस्करण में इसका प्रचुर प्रयोग किया गया।

कवींद्र रवींद्र ने विद्यासागर की सेवाओं का वर्णन करते हुए लिखा था—"बंगला भाषा को पूर्व-प्रचलित अनावश्यक समास के आडंबर से मुक्त करके उसके पदों के बीच के अंशों को युक्त करने का सुनियम स्थापित करके विद्यासागर ने बंगला गद्य को केवल सबके व्यवहार के योग्य बनाया, ऐसी बात नहीं, उन्होंने उसे सुंदर बनाने का भी निरंतर प्रयास किया। गंवारू पंडिताई और गंवारू बर्बरता दोनों के हाथ से उद्धार कर उन्होंने इसे संसार की भद्र सभा की उपयुक्त आर्य भाषा के रूप में प्रस्तुत किया।"

ऐसी किंवदंती है कि विद्यासागर ने 'बेताल पंचविंशति' के पहले फोर्ट विलियम कालेज की पाठचपुस्तक के रूप में 'वासुदेव चरित' की रचना की थी। डा० सेन लिखते हैं कि शायद यह पुस्तक लल्लूजीलाल के 'प्रेमसागर' नामक हिंदी ग्रंथ के आधार पर लिखी गई थी। यदि बात सच है तो डा० सेन की इस संबंध में कही हुई दूसरी बात याने यह कि कृष्ण-चरित होने के कारण ही फोर्ट विलियम के अधिकारी वर्ग ने इसे मंजूर नहीं किया, कुछ ठहरती नहीं है, क्योंकि प्रेमसागर तो फोर्ट विलियम कालेज के लिए लिखा गया था और छपा भी था। रही 'बेताल पंचविंशति' सो इसमें संदेह नहीं कि वह प्रसिद्ध हिंदी पुस्तक 'बेताल पचीसी' पर आधारित थी। इस पुस्तक के प्रथम संस्करण में लेखक का नाम नहीं दिया गया था, केवल इतना ही लिखा था—'कालेज ऑव फोर्ट विलियम नामक विद्यालय के अध्यक्ष श्रीयुत् जी० टी० मार्शल महोदय के आदेश से प्रसिद्ध हिंदी पुस्तक के अनुसार लिखित।' पुस्तक में यह भी लिखा था—

"जो लोग इसे खरीदना चाहें, वे कालेज ऑव फोर्ट विलियम के बंगला सरिश्तेदार श्रीयुत् दीनबंधु न्यायरत्न भट्टाचार्य के पास खोज करने पर पा सकेंगे, मूल्य तीन रुपये।" यह दीनबंधु महोदय विद्यासागर के छोटे भाई थे।

विद्यासागर ने मार्शमैन के ग्रंथ का आधार लेकर 'बांगलार इतिहास' लिखा (१८४७-४८), 'चेंबर्स' का आधार लेकर १८४९ में 'जीवन-चरित' नामक पुस्तक लिखी। विद्यासागर ने महाभारत का अनुवाद भी शुरू किया था, पर जब कालीप्रसन्न सिंह ने यह कार्य उठा लिया तो उन्होंने इस कार्य से हाथ खींच लिया। इसके बाद उन्होंने १८५१ में 'बोधोदय' लिखा, जो लगभग एक सौ वर्ष तक पाठ्यपुस्तक का गौरव प्राप्त किये रहा। पहले बत्तीस साल में इसके ८१ संस्करण छपे। इसी प्रकार इन्होंने और भी बहुत-सी पुस्तकें लिखीं।

बाद में उन्होंने ज्ञान-विज्ञान तक अपनेको सीमित न रखकर समाज-सुधार पर भी कई पुस्तकें लिखीं। दो पुस्तकों में (१८५५) उन्होंने विधवा-विवाह का समर्थन किया। १८७१ और १८७३ में उन्होंने बहु-विवाह के विरुद्ध दो खंडों में एक पुस्तक लिखी। राजा राममोहन के बाद जिन लोगों ने समाज-सुधार का कार्य उठाया, उनमें उनके बाद विद्यासागर का ही नाम आता है। ऐसा अनुमान है कि जो रचनाएं विद्यासागर के नाम से प्रचलित हैं, उनके अलावा भी उन्होंने कुछ पुस्तकें लिखी थीं। इनमें कई पुस्तिकाएं तो उन पंडितों पर व्यंग करते हुए लिखी गई थीं, जिन्होंने विधवा-विवाह का विरोध किया था।

यद्यपि विद्यासागर ने बंगला भाषा की जो सेवा की, वह बहुत ही सराहनीय थी, फिर भी उस समय बहुत-से लोगों ने उनका विरोध किया और उनकी सेवाओं को विशेष महत्व देने से इंकार किया।

सबसे आश्चर्य की बात है कि बंकिमचंद्र ने नाम देकर और गुमनाम रूप से उनकी सेवाओं को तुच्छ प्रमाणित करना चाहा। उनका मुख्य वक्तव्य यह था कि विद्यासागर ने या तो संस्कृत से अनुवाद किया या अंग्रेजी से, इस कारण उन्हें मौलिक लेखक का सम्मान नहीं मिलना चाहिए। पर यह बात सही नहीं है। विद्यासागर ने जिन पुस्तकों का अनुवाद भी किया, उनका आक्षरिक अनुवाद नहीं किया। उन्होंने अपने ढंग से उसी बात को लिखा। डा० सुकुमार सेन ने बंकिमचंद्र के विद्यासागर-विरोधी मंतव्यों पर टिप्पणी करते हुए लिखा है कि बंकिमचंद्र विद्यासागर के यश के प्रति कुछ ईर्ष्या की भावना रखते थे

तभी उन्होंने ऐसा लिखा है। "बंकिमचंद्र स्वयं कभी कवियशः प्रार्थी नहीं थे, इस कारण वह अपने समसामयिक कवियों की प्रशंसा करते हुए कुंठित नहीं होते थे, पर समसामयिक शक्तिशाली गद्य लेखकों के प्रति वे कई बार अन्याय कर गए।"[१]

अन्य समसामयिक सुलेखक

इस युग के उल्लेखनीय कवियों में **भूदेव मुखोपाध्याय** थे। १८५६ में उनकी पहली पुस्तक 'शिक्षा-विषयक प्रस्ताव' प्रकाशित हुई। १८५८ में 'पुरातत्व सार' नामक उनकी इतिहास-संबंधी पुस्तक प्रकाशित हुई। उन्होंने कई पाठ्यपुस्तकें भी प्रस्तुत कीं। १८५७ में 'ऐतिहासिक उपन्यास' नाम से उनकी दो ऐतिहासिक आख्यायिकाएं प्रकाशित हुईं। ये आख्यायिकाएं अंग्रेज़ी के आधार पर लिखी गई थीं। पर भूदेव का महत्व उनके लिखे हुए उपन्यासों के कारण नहीं (यद्यपि यह कहा जाता है कि उनके उपन्यास 'अंगुरीय बिनिमय' की शैली पर ही बंकिमचंद्र ने 'दुर्गेशनंदिनी' नामक अपना पहला उपन्यास लिखा था) और न उनकी लिखी हुई पाठ्यपुस्तकों के कारण है, उनका महत्व तो उनके विचारोंत्तेजक निबंधों के कारण है। 'आचार प्रबंध', 'पारिवारिक प्रबंध', 'सामाजिक प्रबंध', 'विविध प्रबंध' और 'पुष्पांजलि' नाम से उनके कई निबंध-संग्रह निकले, जो विशेष क्रांतिकारी न होते हुए भी विचारोत्तेजक थे। जिस देश में तर्क का इतना पतन हो गया था कि उसका अर्थ केवल शास्त्रार्थ' निर्णय करना रह गया था, वहां ये निबंध एक नई दिशा की ओर संकेत कर रहे थे।

पहले ही **देवेंद्रनाथ ठाकुर** (१८१७—१९०५) का उल्लेख किया जा चुका है। वह 'तत्व-बोधिनी पत्रिका' के संस्थापक और उसके एक प्रधान लेखक थे। उनकी शैली बहुत सरल इसलिए थी कि उन्हें कुछ विचारों का प्रचार करना था, इस कारण वह सरल भाषा को तरजीह देते थे। वह धर्म पर ही लिखते थे। हां, उन्होंने एक आत्मकथा लिखी है, जो बंगला भाषा की एक श्रेष्ठ पुस्तक है। यह पुस्तक १८९८ में प्रकाशित हुई थी। देवेंद्रनाथ ठाकुर तथा उनके ब्राह्म-समाज के साथियों को बंगला भाषा की एक और सेवा करने का गौरव प्राप्त

---

[१] बांगला साहित्ये गद्य, पृ० ६८

है। वह यह कि उन्होंने बंगला भाषा में व्याख्यान देकर उसे व्याख्यानोपयोगी बनाया। इससे भी बड़ी सेवा देवेंद्रनाथ ठाकुर की यह थी कि उन्होंने उस वातावरण को तैयार करने में हाथ बंटाया, जिसमें आगे चलकर बहुत बड़े-बड़े लेखक उत्पन्न हुये।

इन दिकपालों के अतिरिक्त बहुत-से साधारण लेखक बंगला भाषा की सेवा में तत्पर रहे और अंग्रेजी तथा संस्कृत से बहुत-सी पुस्तकों का अनुवाद हुआ। ऐसे लोगों में कई विद्यासागर के शिष्य थे, कई 'तत्व बोधिनी पत्रिका' से प्रभावित थे और कई स्वतंत्र कार्यकर्ता भी थे। इस इतिहास को उनके नाम गिनाकर भाराक्रांत करने की कोई आवश्यकता नहीं मालूम होती।

भाषा की उन्नति में साथ-साथ उसमें लेखिकाओं का होना स्वाभाविक है। डा० सुकुमार सेन के अनुसार १८५७ में 'चित विलासिनी' नाम से जो पुस्तक प्रकाशित हुई थी, वही आधुनिक काल में महिला रचित प्रथम बंगला पुस्तक है। लेखिका का नाम **कृष्णकामिनी दासी** बताया गया था। इस पुस्तक में बंगाल की कुलीन प्रथा की निंदा की गई थी। ऐसा संदेह किया जाता है कि कृष्णकामिनी दासी संभव है कि कोई महिला न हो, बल्कि किसी पुरुष का छद्म नाम हो। पुस्तक में गद्य-पद्य दोनों थे।

१८६३ में **कैलाशवासिनी देवी** ने 'हिंदू महिला गणेर हीनावस्था' प्रकाशित की। इनकी और भी दो पुस्तकें प्रकाशित हुई। इसके बाद कई और लेखिकाएं सामने आई।

सौदामिनीसिंह ने १८६६ के प्रारंभ में 'एकजन-ब्रह्मवादिनीर युक्ति' नाम से एक पुस्तक छपवाई। **कामिनी सुंदरी देवी** बंगला की प्रथम महिला नाट्यकार हैं। उन्होंने 'उर्वशी' नाम से एक नाटक लिखा था। **दयामयी देवी** ने १८६९ में 'पतिव्रता धर्म' नाम से एक पुस्तक लिखी।

उन्नीसवीं शताब्दी में महिला लेखिकाओं द्वारा लिखित रचनाओं में **श्रीमती रामसुंदरी** लिखित 'आमार जीवन' एक उल्लेखनीय पुस्तक है। लेखिका ने पहले साठ वर्ष तक की अपनी मानसिक तथा शारीरिक अवस्था पर सारा वृत्तांत लिखा। बाद में जब उनकी उम्र ८८ साल की हो गई, तब उन्होंने बाद के २५ वर्षों का इतिहास लिखकर पहली पुस्तक में जोड़ दिया। यह पुस्तक गद्य-पद्यमय है। पद्य उन्हींका लिखा हुआ है। बड़ी सरलता और सादगी के साथ

जीवन की छोटी-छोटी घटनाएं लिखी गई हैं। उस समय के समाज के बहुत छोटे-छोटे चित्र इस पुस्तक में एकत्र किये गए हैं। लेखिका उच्च शिक्षिता नहीं थीं। अपनी चेष्टा से ही उन्होंने लिखना-पढ़ना सीखा था। घर बहुत बड़ा था और बच्चे भी बहुत-से थे, फिर भी उन्होंने पहले पोथी पढ़ना, फिर छपी हुई पुस्तक पढ़ना और उसके बाद लिखना सीखा था। इस पुस्तक का साहित्यिक महत्व शायद अधिक न हो, पर उस युग के सामाजिक इतिहास के एक उत्सग्रंथ के रूप में यह पुस्तक बहुत ही महत्वपूर्ण है।

: १० :

युगप्रवर्तक बंकिमचंद्र

बंगला के प्रथम सफल उपन्यासकार **बंकिमचंद्र** थे, इसी हैसियत से उन्होंने अखिल भारतीय ख्याति प्राप्त की। वह मुख्यतः ऐतिहासिक उपन्यासकार ही समझे जाते हैं, क्योंकि उनके अधिकांश उपन्यासों में कुछ-न-कुछ ऐतिहासिक व्यक्ति पात्र-पात्री के रूप में हैं, किंतु स्मरण रहे कि केवल दो-चार ऐतिहासिक व्यक्ति को पात्र बनाकर खड़ा कर देने से ही कोई ऐतिहासिक उपन्यासकार नहीं हो सकता। इसके लिए सबसे आवश्यक बात है कि उस समय के वातावरण की सृष्टि की जाय, चाहे पात्र एक भी इतिहास-प्रसिद्ध व्यक्ति न हो। इस दृष्टि से जांच की जाय तो मृणालिनी, दुर्गेश-नंदिनी, चंद्रशेखर तथा कपालकुण्डला को ऐतिहासिक उपन्यास नहीं कहा जा सकता। राजसिंह करीब-करीब ऐतिहासिक उपन्यास हो गया है, यद्यपि उसमें इतिहास के साथ काफी मनमानी की गई है। सर वाल्टर स्काट ने अपने उपन्यासों में घटनाओं के क्रम में बहुत गलती की है, फिर भी वह ऐतिहासिक आबोहवा पैदा करने की सामर्थ्य के कारण ऐतिहासिक उपन्यासकार माने गये हैं।

उपन्यासकार बंकिम से धर्मतात्विक बंकिम इतने दब गये कि बहुत-से लोग तो जानते ही नहीं कि बंकिम ने धर्मतत्व पर भी अपनी लेखनी चलाई है, किंतु उनकी अपनी दृष्टि में उन्होंने धर्मतत्व पर एक नवीन विश्लेषणात्मक पद्धति

से जो कुछ लिखा है वह अधिक महत्वपूर्ण था। इसमें संदेह नहीं कि उनके युग को देखते हुए उनके धर्मतात्विक मत भी क्रांतिकारी नहीं तो प्रगतिशील थे। उन्होंने समाज के रथ को गतानुगतिकता के कीचड़ से निकालकर बुद्धिवाद के राजमार्ग पर चढ़ाने की चेष्टा की, यद्यपि वह स्वयं सोलहों आने बुद्धिवादी थे, ऐसा आज कहना कठिन है। फिर भी वह प्रगतिशील थे, इसमें संदेह का अवकाश नहीं। उन्होंने लिखा था, "तीन-चार हजार वर्ष पहले भारतवर्ष के लिए जो कायदे-कानून बने थे, आज उनको हरफ-ब-हरफ मानकर चलना संभव नहीं। वह ऋषि स्वयं यदि आज मौजूद रहते तो कहते, 'नहीं, ऐसा नहीं हो सकता, यदि तुम हमारी विविध-व्यवस्थाओं को पूर्ण रूप से कायम रखकर चलो तो उससे हमारे धर्म के मर्म का विरुद्धाचरण ही होगा।' हिंदू-धर्म का वह मर्म भाग अमर है, हमेशा रहेगा और मनुष्यों का उससे कल्याण ही होगा, क्योंकि मनुष्य-प्रकृति में ही उनकी नींव है। सभी धर्मों में विशेष विधियां सामयिक ही होती हैं। वे समय-भेद के अनुसार परिहार्य तथा परिवर्तनीय हैं।"

बंकिमचंद्र के धर्मतत्व की मैंने अवतारणा इसलिए की कि उनकी साहित्य-साधना धर्मानुशीलन से बिल्कुल भिन्न पर्याय की वस्तु नहीं थी। यदि वे प्रत्यक्ष रूप से स्वजाति, स्वदेश तथा स्वसमाज से अपने साहित्य की प्रेरणा प्राप्त करते थे तो परोक्ष रूप से मनुष्य को अदृष्ट तथा मनुष्यता के आदर्श की खोज से ही उन्हें प्रेरणा मिलती थी।[1] बंकिमचंद्र साहित्य में आदर्शवादी थे। उन्होंने लिखा है, "काव्य का मुख्य उद्देश्य नीतिज्ञान नहीं है, किंतु नीतिज्ञान का जो उद्देश्य है काव्य का भी वही उद्देश्य है, याने चित्तशुद्धि।" उन्होंने उत्तरचरित की समालोचना करते हुए और भी लिखा है, "जो लोग कुकाव्य निर्माण कर दूसरे के चित्त को कलुषित करने की चेष्टा करते है, वे चोरों की तरह मनुष्य-जाति के शत्रु हैं और उनको चोरों की तरह शारीरिक दंड दिया जाना चाहिए।"

ऊपर के उद्धरणों से स्पष्ट है कि बंगला के प्रथम दिग्विजयी उपन्यासकार साहित्य में किस मत को लेकर चलने के पक्षपाती थे, किंतु सौभाग्य से वह उपन्यास लिखते समय हमेशा अपने इस मत को स्मरण में न रख सके। जिसे वह कला समझते थे, उन्हीं सामाजिक शक्तियों ने उन्हें डिगा दिया, और उन्हें बहुत-कुछ

---

[1] आधुनिक बंगला-साहित्य—श्री मोहितलाल मजुमदार

वास्तविकता से बांध रक्खा। अवश्य यह भी है कि अंत तक चलकर उन्होंने खींच-खांचकर अपने आदर्श को निभा ही दिया। उपन्यासों की भलाई के हक में एक और भी अच्छी बात हुई, वह यह कि बंकिमचंद्र के सामने उपन्यास के आदर्श के रूप में अंग्रेजी के रोमांटिक लेखकों की रचनाएं थीं। बंगला के सुप्रसिद्ध आदर्शवादी कवि-समालोचक श्री मोहितलाल ने बंकिमचंद्र के उपन्यासों की इस प्रकार से संक्षिप्त आलोचना की है :

"उनके पहले उपन्यास 'दुर्गेशनंदिनी' में साहित्यिक प्रेरणा के अतिरिक्त कुछ भी नहीं था। 'दुर्गेशनंदिनी' बंगला का पहला रोमांस है, जो अंग्रेजी रोमांसों के सुपरिचित आदर्श पर लिखा हुआ है। 'मृणालिनी', 'युगलांगरीय' 'राधा-राणी' भी इसी एक ही आदर्श पर रचित हैं। हां 'मृणालिनी' की कल्पना में देश-प्रेम ने पहले-पहल प्रवेश किया है। उनके द्वितीय उपन्यास 'कपालकुण्डला' को उत्कृष्ट काव्य कहा जा सकता है। चौथा उपन्यास 'विषवृक्ष', 'चंद्रशेखर' और 'कृष्णकान्तेर विल' समाज-समस्या और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से लिखे गये थे। 'आनन्दमठ' और 'राजसिंह' में देश-प्रेम की प्रधानता है, 'देवी चौधुरानी' तथा 'सीताराम' में धर्म समस्या प्रबल है, 'रजनी' में निरा मनोविज्ञान तथा 'इंदिरा' में गल्प-रचना का ही आनन्द है। देखा गया कि विशुद्ध उपन्यास अर्थात् जिनमें समाज-नैतिक तथा धर्म-नैतिक कोई उद्देश्य नहीं है उनकी संख्या बहुत कम है, ऐसी रचनाओं में 'कपालकुण्डला' सबसे सुन्दर कृति है। जिनमें स्वदेश, समाज, धर्म या नीति से प्रेरणा ली गई है उनमें जगह-जगह पर कल्पना की चरम स्फूर्ति हुई है, चरित्र की महिमा तथा घटना-विन्यास की चतुरता के कारण वह नाटकीय सौंदर्य से मंडित हो गये हैं। समस्या की खींचातानी में बहुत-सी भयंकर त्रुटियां रहने पर भी बंकिम की जो कुछ सृजन-शक्ति है उसने मानो इन्हीं समस्याओं के घात-प्रतिघात में पड़कर पत्थर पर घिसे हुए इस्पात के फले की तरह चिनगारियों की वर्षा की है।"

बंकिमचंद्र ने यूरोप के रोमांचिक शैली के पौधे को भारत में लाकर स्थापित ही नहीं किया, बल्कि उसको संपूर्ण रूप से यहां की आबोहवा का अभ्यस्त (Acclimatise) करके यहीं की मिट्टी से रस ग्रहण कर पल्लवित-पुष्पित होना सिखलाया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि बंकिम यूरोपीय साहित्य के ऋणी हैं, किन्तु इस ऋण के परिमाण के संबंध में लोगों का ज्ञान अक्सर अतिरंजित है। एक

विद्वान् लेखक श्रीकुमार बनर्जी का कथन है कि इस बात का कोई प्रमाण नहीं कि बंकिम जेन अस्टेन, डिकेंस, थैकरे तथा जार्ज इलियट से परिचित थे। हां, स्काट के साथ उनका परिचय निःसंदेह है। उनके एक उपन्यास में लार्ड लिटन की छाया भी है, किन्तु "उनकी कला संपूर्ण रूप से मौलिक है और इन दिग्गजों का अनुकरण-मात्र नहीं।" हमने जो उपमा इस पैरे के प्रारम्भ में दी है वह बिल्कुल सत्य है, उन्होंने पाश्चात्यों से यह तो सीखा कि उपन्यास का स्वरूप तथा ढांचा कैसा होना चाहिए, किन्तु इसके अलावा उनके उपन्यासों का माल-मसाला सभी स्वदेशी है। बंकिम से पौराणिक-क्लासिक साहित्य युग का अवसान होकर आधुनिक बंगला साहित्य का सूत्रपात होता है।

ऊपर जो कुछ कहा गया, वह उपन्यासकार बंकिम के बारे में ही है, पर बंकिम एक राष्ट्र-निर्माता भी थे, यह उनके दो उपन्यासों 'देवी चौधुरानी' और 'आनंदमठ' से विशेषकर 'आनंदमठ' से प्रमाणित होता है। ये उपन्यास-कला की दृष्टि से बहुत उच्चकोटि के नही है, फिर भी इनमें लेखक ने एक नया तत्व पेश किया। 'आनंदमठ' के सत्यानंद तथा 'देवी चौधुरानी' के भवानीपाठक एक विराट आदर्श को लेकर चलते हैं। इन दोनों में जिस प्रकार देशभक्ति, राजनैतिक दूर-दृष्टि तथा संगठन-शक्ति दिखाई गई है, वह देखने में किसी प्राचीन युग के चित्र है, पर वास्तव में लोगों के सामने एक आदर्श प्रस्तुत करते हैं। जिस युग का चित्रण इन दोनों पुस्तकों में किया गया है, उसमें इस प्रकार की देशभक्ति आदि की भावना नहीं थी।

इस प्रकार बंकिम ने इतिहास के नाम पर या यों कहा जाय तो अधिक अच्छा होगा कि ऐतिहासिक कहानी की आड़ में एक राजनैतिक आदर्श लोगों के सामने रक्खा। यह कितनी बड़ी बात थी, इसे आज अच्छी तरह समझने और उसके मूल्यांकन करने का समय आ गया है। अवश्य ही 'आनंदमठ' या 'देवी चौधुरानी' को इस अर्थ में ऐतिहासिक उपन्यास कहना उचित न होगा कि उनमें किसी ऐतिहासिक काल का वर्णन दिया गया है। यह तो पहले ही बताया जा चुका है कि जिस आदर्श को जिस काल के माथे मढ़कर पेश किया है, उस काल में वह आदर्श संभव नहीं था।

उस समय बंगाल बल्कि सारा भारत क्षुद्र स्वार्थों के पीछे दौड़ रहा था, कोई सामूहिक भावना नहीं थी। पुराना साम्राज्य बिखर चुका था। यद्यपि यह

साम्राज्य नाम के लिए मुगल साम्राज्य था, तथापि छोटे-छोटे मुसलमान सामन्त इसके सबसे बड़े दुश्मन साबित हुए। ऐसे समय में बस एक आदर्श था, वह यह कि आगे आप, फिर बाप। सच तो यह है कि लोग अपने-आपको सम्हालने में इतने लगे हुए थे कि वे किसी बृहत्तर बात के लिए समय या कर्म-शक्ति नहीं लगा सकते थे।

इस सर्वव्यापी बिखराहट के समय बंकिमचंद्र ने 'आनंदमठ' में संतान संप्रदाय की आदर्श निष्ठा रखी। संतान संप्रदाय की कुछ ऐतिहासिक नींव है, पर उसके नाम से जो देश-प्रेम, आदर्शवाद, निस्स्वार्थ भावना आदि दिखलाई गई है, वह उपन्यासकार बंकिमचंद्र को ऋषि बंकिमचंद्र, बल्कि और भी स्पष्ट शब्दों में कहा जाय तो राष्ट्रनिर्माता बंकिमचंद्र की, मर्यादा प्राप्त होती है। इतिहास में संतान संप्रदाय का जो चित्र मिलता है, उसमें उसके लोग लूट-खसोट करते हुए, अराजकता फैलाते हुए पाये जाते है। इस प्रकार लूट-खसोट करने के पीछे राजनैतिक उद्देश्य स्पष्ट नहीं था। हां, यह कहा जा सकता है कि असंतोष प्रकट करने का यह एक उपाय था।

पर बंकिमचंद्र ने 'आनंद मठ' में संतान संप्रदाय को एक आदर्शवादी सुसंगठित दल के रूप में दिखलाया है। बंकिमचंद्र ने संतान संप्रदाय का संबंध उसके पहले जो महान् दुर्भिक्ष हुआ था, उससे जोड़कर यह दिखलाया कि दुर्भिक्ष के कारण संतान संप्रदाय पुष्ट हुआ था।

यह भी द्रष्टव्य है कि 'आनंद मठ' में दो बार अंग्रेज सैनिक टुकड़ियों की हार कराई गई है। यह वह समय था जब १८५७ की स्वतंत्रता की चेष्टा व्यर्थ होने की बात अभी लोगों के दिमाग में ताजी थी, उसके दमन के रोंगटे खड़े कर देनेवाले उपाय अभी तक लोगों को याद थे, ऐसी अवस्था में उपन्यास के पीछे के दरवाजे से ही सही आत्म-सम्मान तथा आत्म-गौरव को जाग्रत करना बड़ी भारी बात थी।

सबसे बड़ी बात यह है कि 'आनंद मठ' के संबंध में जो बात ऊपर बताई गई है, बाद के लोगों ने उसे इसी रूप में लिया। 'आनंद मठ' एक उपन्यास होते हुए भी बाद के युग के क्रांतिकारियों की कई पुश्तों के लिए पाठ्य-पुस्तक और प्रचार-पुस्तक के रूप में हो गया। वन्देमातरम् उठते हुए राष्ट्रीय आंदोलन का नारा बन गया। 'आनंद मठ' को इस दृष्टि से

विचार करने पर उसे केवल एक उपन्यास के रूप में देखने की प्रवृत्ति से हम बच जायेंगे।

डा० श्री कुमार बंद्योपाध्याय ठीक ही कहते हैं, "आनंद मठ का वास्तविक गौरव वस्तुवादी उपन्यास के रूप में नहीं है। इसने बंगाल के पाठक-समाज पर जो व्यापक प्रभाव छोड़ा है, वह धर्म-ग्रंथ के अतिरिक्त और किसी प्रकार साहित्य के भाग्य में नहीं प्राप्त रहा। यह कहना अत्युक्ति न होगी कि 'आनंद मठ' ने आधुनिक बंगाल को जन्म दिया है, आधुनिक बंगाली के हृदय और मनोवृत्ति को गठित किया है, जो देशात्म-बोध आज प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति की साधारण मानसिक सम्पत्ति है, बंकिम ने ही उसका पहला अंकुर उगाया था। उन्होंने ही यूरोप के देश-प्रेम के पौधे को बंगाल के विशेष वातावरण में, बंगाली पूजा-सामग्री की सहायता से बंगाली हृदय को भक्ति चंदन-चर्चित करके बंगाल में प्रतिष्ठित किया। वर्तमान युग में ऐसी कोई भी राजनैतिक संस्था बंगाल में नहीं है, जिसकी पहली प्रेरणा 'आनंद मठ' से न आई हो। बंगालियों की राजनीति-चर्चा की विशिष्टता राजनैतिक व्याख्यान की भाषा तक बंकिम की कल्पना के रंग से रंगी हुई है। बंकिम ने मूर्ति-पूजक बंगालियों के मानसिक स्वर्ग में एक नई देवी प्रतिमा की स्थापना की और बंगालियों के हृदय की भक्ति को एक नये मार्ग में परिचालित किया। विश्व-साहित्य में जो थोड़े-से युगांतकारीग्रंथ हैं, 'आनंद मठ' को उनमें प्रधान स्थान प्राप्त है। वंदेमातरम् आधुनिक बंगाल का वेदमंत्र है। इसलिए 'आमंद मठ' को केवल साहित्य की दृष्टि से विचार करने पर इसकी संपूर्ण महिमा या प्रभाव समझ में नहीं आ सकता। इसका स्थान साधारण साहित्य-लोक से बहुत ऊंचा है।"

इस दृष्टि से देखने पर 'आनन्द मठ' की सच्ची महिमा समझ में आती है। बंगाल के बाहर भी जितने क्रांतिकारी आंदोलन हुए, उनमें 'आनंद मठ' का महत्वपूर्ण स्थान रहा। मुझे स्मरण है कि जिन दिनों मैं क्रांतिकारी बना, उन दिनों यानी १९२२-२३ के ज़माने में सबसे पहली किताब जो किसी नौजवान के हाथ में उसके मन की गति जानने तथा उसके मन को ढालने के लिए दी जाती थी, वह थी 'आनंद मठ'।

ाकोरी युग के पहले के जो क्रांतिकारी थे, वे भी इस पुस्तक का उपयोग

इसी प्रकार करते थे। सच तो यह है कि उत्तर भारत का सारा क्रांति-आंदोलन लगभग १९२५ तक संतान संप्रदाय के आदर्श पर चलता रहा और उसमें धर्म का बहुत अधिक प्रभाव रहा। यहांपर मैं यह बताने नहीं जा रहा हूं कि किस प्रकार बाद का आंदोलन धार्मिक भावना से मुक्त हो गया और उसने एक दूसरा आदर्श अपनाया।

मैं समझता हूं कि विश्व-साहित्य में 'आनंद मठ' ही एकमात्र उपन्यास है, जिसमें का एक गीत बाद को राष्ट्रीय गीत बन गया। यह एक अनहोनी ऐतिहासिक घटना है, पर यह केवल एक आकस्मिक घटना नहीं है। ऐसा नहीं कि लोगों ने उपन्यास को ताक पर रख दिया हो, और उसके अन्तर्गत गीत को अपनाया हो। नहीं, लोगों ने पुस्तक को भी एक धर्म-ग्रंथ की तरह, नये युग की गीता की तरह, अपनाया, और साथ-ही-साथ उन्होंने वंदेमातरम् के नारे को अपनाया। मुझे डर है कि वंदेमातरम् के कवि के रूप में बंकिमचंद्र को जिस प्रकार स्मरण किया जाता है, वह उससे कहीं अधिक सम्मान और कृतज्ञता के अधिकारी हैं। वह केवल अपने साहित्यिक कार्यों के लिए नहीं, केवल वंदेमातरम् के कवि होने के नाते नहीं, बल्कि एक कर्तव्यच्युत, पतित, पददलित जाति को एक अमृतोपम आदर्श का पता देने के लिए, त्याग और साधना का एक जीता-जागता सामूहिक चित्र उपस्थित करने के लिए हमारे पूज्य और श्रद्धेय हो चुके हैं। साहित्यकार के रूप में उनका जो स्थान है, वह तो है ही।

डाक्टर सुबोध सेन ने बंकिमचंद्र के उपन्यासों को तीन वर्गों में विभक्त किया है। 'राजसिंह' एक सुवृहत् ऐतिहासिक उपन्यास है; 'कृष्णकांत का विल', 'विष-वृक्ष' आदि उपन्यासों में सामाजिक और पारिवारिक जीवन का चित्र खींचा गया है। 'दुर्गेशनंदिनी', 'कपालकुंडला', 'मृणालिनी' आदि में इतिहास है, पारिवारिक जीवन का चित्र भी है, किन्तु ये फिर भी ठीक-ठीक न तो ऐतिहासिक उपन्यास ही हैं और न पारिवारिक जीवन की कहानी हैं, क्योंकि इनमें कल्पना का एक ऐसा ऐश्वर्य है जो पारिवारिक जीवन की वास्तविकता का उल्लंघन कर गया है, साथ ही जिसने इतिहास के दावे को सम्पूर्ण रूप से स्वीकार नहीं किया है। कल्पना की यह जो समृद्धि है, यह न केवल हमारे गिनाये हुए तीसरी किस्म के उपन्यासों में परिलक्षित हुई है, बल्कि बंकिम के सामाजिक और ऐतिहासिक

उपन्यासों में भी इसी समृद्धि का बोलबाला है। बंकिम के ऐतिहासिक उपन्यास में अतीत युग के युद्धविग्रह या सामाजिक जीवन का पुंखानुपुंख और वास्तविक चित्र नहीं दिया गया है। उनका ऐतिहासिक उपन्यास थैकरे के हेनरी ऐस्मांड की श्रेणी के उपन्यास से संपूर्ण रूप से भिन्न है। उनकी कल्पना ने इतिहास को विचित्र वर्णसंपन्न बनाया है...। बंकिम के पात्रों का प्रधान गुण यह नहीं है कि उनमें विभिन्न प्रवृत्तियों का समावेश नहीं, बल्कि एक प्रवृत्ति का ऐश्वर्य है। केवल दो-एक पात्रों में ही उन्होंने साधारण मनुष्य का चित्र खींचा है। ऐसे साधारण मनुष्यों में सबसे पहले नगेंद्रनाथ या गोविंदलाल का स्मरण हो आयेगा। ...डाक्टर श्रीकुमार के अनुसार बंकिम में पाप के प्रति स्वाभाविक वितृष्णा थी, वर्तमान युग के वस्तुवादी उपन्यासकारों की तरह पाप का विश्लेषण करना उन्हें पसंद नहीं था।...बंकिमचंद्र ने अपने कई उपन्यासों में इतिहास का आश्रय लिया है, फिर भी उन्होंने विशुद्ध ऐतिहासिक उपन्यास एक ही—'राजसिंह'—लिखा है।...उनके अपने मतानुसार भी 'राजसिंह' ही उनका एकमात्र ऐतिहासिक उपन्यास है।[1] जहांतक काल्पनिक जगत में उड़ान भरने की बात है बंकिमचंद्र देवकीनंदन खत्री की ही जाति के थे, किंतु बंकिम तथा खत्री में फर्क यह था कि एक ने परिष्कृत स्वरूप को अपनाया, दूसरा ऊल-जलूल कल्पना-जगत में विचरता रहा; एक ने आधुनिक कला को अपनाकर कल्पना की उड़ान भरी, दूसरा केवल चंडूखानों में भटकता रहा। बंकिम का मनोविज्ञान से कोई दृढ़ संबंध नहीं था। उनके उपन्यासों में मानसिक द्वंद्व और परिवर्तन का चित्र बहुत कम है। जहां मानसिक परिवर्तन भी है, वहां वह बहुत-कुछ आकस्मिक है, लेखक उसको वर्णित परिस्थितियों में स्वाभाविक करके दिखा नहीं पाये।

---

[1] शरत्चंद्र—डाक्टर सुबोध सेन

: ११ :

कवि माइकेल मधुसूदन

एक नाटककार के रूप में हम माइकेल का परिचय पहले ही दे चुके हैं। माइकेल मधुसूदन दत्त, जैसा कि उनके नाम के साथ लगे हुए माइकेल शब्द से स्पष्ट है, ईसाई धर्मावलम्बी थे, साथ ही उनका परिचय ग्रीक, लेटिन ग्रादि साहित्य के साथ प्रत्यक्ष था। वह पहले अंग्रेज़ी में ही काव्य-रचना करना चाहते थे, पर मित्रों के समझाने पर बंगला भापा की ओर झुके और उसके श्रेष्ठतम कवियों में हो गये। उनका महत्व कितना अधिक है यह इसीसे ज्ञात हो सकता है कि डा० सुकुमार सेन ने उन्हें आधुनिक बंगला-काव्य का वाल्मीकि माना है।

माइकेल की जीवनी संक्षेप में यह है कि "वह पाश्चात्य की करीब-करीब सभी प्रधान भाषाएं जानते थे, पाश्चात्य में उन्होंने खूब भ्रमण भी किया था। पहले उन्होंने अंग्रेज़ी में कविता लिखी, किन्तु बाद में सुझाने पर बंगला में लिखने लगे। एक स्त्री के प्रेम में पड़कर वह ईसाई हो गये थे। कहना न होगा कि ऐसे व्यक्ति में पाश्चात्य कितनी प्रबलता के साथ होगा, किन्तु वह चाहे कितना भी प्रबल हो, कवित्व उनमें प्रबलतर था, तभी वह न तो गुमराह हुए, न उन्होंने हवा के सामने घुटने टेके, न उनका काव्य कहीं अजीर्ण रोगी का उद्गार ज्ञात होता है। माइकेल की काव्य-प्रेरणा में सबसे प्रबल जो तत्व है वह है बाहरी वस्तु का बाहरी रूप। केवल विचित्र वस्तुओं का संग्रह कर उनको दूर में स्थापन कर या पास में सजाकर उनके दर्शन या स्पर्शन के आनन्द में ही वह विभोर है। छोटी या बड़ी तस्वीर बात-की-बात में बातों से आंखों के सामने खड़ी कर देने में, या कारीगर की तरह मूर्ति की सुषमा खोज निकालने में उन्हें कितना आनन्द है, उनकी कल्पना मानो उल्लास की विह्वलता में थिरकने लगती है। उपमा के बाद उपमा का जाल बिछाकर वे जिस रूप को प्रकाश करते हैं वह विचारों की झलक नहीं, बाहरी वस्तुओं के विन्यास का सौन्दर्य है। विषाद की प्रतिमा स्वरूपा बन्दिनी सीता के माथे पर सेंदुर को वह गोधूलि के ललाट में नक्षत्र रत्न की भांति देखते हैं। वह वस्तु को भाव के द्वारा या भाव को वस्तु के द्वारा स्पष्ट करने के आदी नहीं, वह तो एक वस्तु को स्पष्ट करने के लिए बहुत-सी वस्तुओं

को लाकर आंख के सामने ढेर कर देते हैं, वह चित्र को चित्र से ही स्पष्ट करते हैं। आलोक और छाया इन दो ही वर्णों में संगमरमर की मूर्ति जैसे अपनेको प्रकाशित करती है, उसी प्रकार उनकी बनाई हुई मूर्तियां अत्यन्त सरल और सामान्य सुख-दुःख की छाया और आलोक से हमारे सामने स्पष्ट हो जाती है। इसलिए देखने में मिल्टन को अनुसरण करते हुए मालूम होने पर भी मधुसूदन मनुष्य के संसार को पीछे और नीचे छोड़कर महाकाव्य के अत्युच्च कल्पलोक में सीमाहीन दिग्देश में अपनी कल्पना को भेज नहीं पाये। मनुष्य को ही उन्होंने बड़ा करके देखा था। पुरुष का पौरुष तथा नारी के नारीत्व ने उनके मन की जीभ में जो रस का संचार किया था, उसीकी व्याकुलता में ये काव्य लिखे गये हैं। माइकेल को पढ़ने से यह मालूम होत है जैसे इस गायनप्राण बंगला कवि ने एक नये जगत का आविष्कार किया हो, वहां हृदय-समुद्र की बल खाई हुई लहरों की अलख फेन-रेखा बुलबुलों की माला में विलुप्त हो जाती है, किंतु उसीके साथ दूर से आया हुआ जल का कलकल और भग्ननौका-यात्री का आर्तनाद एकांत निकुंज के वंशी-रव को एक अपूर्व वेदना से प्रतिध्वनित कर देता है। कवि-कल्पना के इस नये अभियान ने नये साहित्य की गति को एक निर्देश दिया था, फलस्वरूप मन के सूक्ष्म लीला-विलासों से बेखबर होकर मनुष्य को देह के राज्य में खड़ा करवाकर उसके स्वाभाविक आकार, प्रकार तथा रूप को देखने की आकांक्षा जगी। पाप-पुण्य से परे उसके प्राणों की उमंगें नियति के अमोघ नियम से कैसी भीषण-मधुर हो उठती हैं, इस बंगला कवि के चित्त में उसीकी प्रेरणा जगी थी।"[1]

कवीन्द्र ने माइकेल के संबंध में लिखा है—"आधुनिक बंगला के कविता-साहित्य में माइकेल मधुसूदन ने जो इसके प्रथम द्वारमोचक थे, सबसे बढ़कर दुःसाहस दिखलाया। उन्होंने जिस मिलटनी बाढ़ से दुरूह शब्द तरंग उठाकर बंगला भाषा को तरंगित कर दिया, उससे बढ़कर अपरिचित और अनभ्यस्त बंगाली पाठकों के लिए कुछ भी नहीं था। यह बिल्कुल अपरिचित और अनभ्यस्त होते हुए भी इतना अपरिचित नहीं था कि बंगाली पाठक इसे समझ ही न सके। बंगाली शिक्षित समाज अंग्रेजी साहित्य के जरिये इस विस्तृततर

[1] आधुनिक बंगला साहित्य, पृष्ठ २६

जगत् से परिचित हो चुका था। उस समय के शिक्षित बंगाली मिलटन, शेक्स-पियर की आज से ज़्यादा चर्चा करते थे। इसलिए ज्योंही बंगला भाषा के वाद्य-यंत्र के ज़रिये वही परिचित ताल, लययुक्त जगत् उनके सामने आया तो वे वाहवाह करने लगे। मधुसूदन की प्रतिभा के कारण बंगला काव्य के रंचमंच पर पहले-पहल प्राच्य-पाश्चात्य गले मिले।"

बंगला साहित्य में पाश्चात्य का प्रभाव इस प्रकार द्रुत गति से रंग लाने लगा और अब भी ला रहा है, उसका श्रेय बहुत अंश में पद्य-साहित्य में मधुसूदन को है। रवीन्द्रनाथ ने जो कहा है कि वे बंगला पद्य-साहित्य के द्वारमोचनकारी हैं वह ठीक ही है। प्राक-पाश्चात्य बंगला तथा भारतीय साहित्य में कुछ विशेष विषय थे जैसे राम और कृष्ण की कथा, वैष्णव भक्ति का विभिन्न रूप, बहुत हुआ दो-चार राजे-महाराजे की कथा गा दी गई। तुलसीदास, सूरदास, चंडीदास, विद्यापति, चंद्रवरदाई, भारतचंद्र, तुकाराम इन्हीं को लेकर गाते रहे। इसके सब तरह के मिश्रण गाये, और लिखे जा चुके थे। भारतीय कविता-साहित्य इन्हीं की चहार-दीवारी में घूम-घूमकर कातर क्रंदन कर रहा था। इस बास्टिल से उद्धार करने के लिए एक विचारगत क्रांति की जरूरत थी। वह क्रांति पाश्चात्य प्रभाव के कारण संभव हुई। मधुसूदन ही वे क्रांतिकारी थे, जिन्होंने इसका फायदा उठाकर इसको संभव किया। यह बात नहीं कि माइकेल ने राम, कृष्ण और पौराणिक गाथाओं को बिलकुल त्याग दिया, बल्कि सच बात तो यह है माइकेल ने अपनी श्रेष्ठ रचनाएं पौराणिक कहानियों तथा व्यक्तियों के इर्द-गिर्द लिखीं, किन्तु उनमें एक नया जीवन, एक क्रांतिकारी रूप से अभिनव दृष्टिकोण, एक नई व्याख्या तथा नया तरीका ला दिया।

मधुसूदन की रचनाओं में 'मेघनादवध' सबसे अच्छा है। इसमें हमारे चिर-परिचित राम, लक्ष्मण, सीता, रावण, मेघनाद, प्रमीला आते हैं; किंतु कोई यदि समझे कि ये हमारे पुराणों में वर्णित तथा वैष्णव कोमल-कांत-पदावली के व्यक्तित्व हैं तो बड़ी गलती होगी। नाम तो वे ही हैं, घटनाओं की परम्परा तथा कथानक की समाप्ति उसी तरह है, किंतु इनके व्यक्तित्व बिलकुल बदले हुए हैं। 'मेघनादवध' को पढ़कर ऐसा प्रतीत होता है कि राम-रावण का युद्ध निरवच्छिन्न रूप से भले-बुरे का युद्ध नहीं है, बल्कि दो उच्चाकांक्षी राजाओं का युद्ध है या ज्यादा-से-ज्यादा दो सभ्यताओं के संघर्ष का युद्ध है। माइकेल का मेघनाद लक्ष्मण से

कोई बुरा आदमी नहीं जंचता, उसका वध कोई दैत्य का विनाश नहीं बल्कि एक शहीद की शहादत के रूप में हमारे सामने आता है। पुस्तक पढ़ते-पढ़ते ऐसा मालूम होता है कि यदि हम लड़कपन से राम-लक्ष्मण की जय और मेघनाद की पराजय चाहते न आते तो कदाचित हमें मेघनाद की जय से ही तृप्ति होती। माइकेल ने मेघनाद को करीब-करीब एक दूसरा अभिमन्यु बनाकर छोड़ा है। माइकेल की सीता अच्छी है, किंतु प्रमीला और भी अच्छी है। सीता से प्रमीला कुछ कम महिमामयी नहीं मालूम होती। प्रमीला चरित्र एक नाम के अतिरिक्त संपूर्ण रूप से माइकेल की ही सृष्टि है, पौराणिकों को इसकी कल्पना भी नहीं थी। यह प्रमीला देशी और विदेशी सभी आदर्श की तिलोत्तमा है। मालूम होता है, कवि ने इस चरित्र को बनाने में अपने वर्णागार के सब वर्ण खर्च कर डाले हैं। इस प्रकार परिचित नामों को कायम रखकर उनको एक नया चरित्र देकर माइकेल ने अपनी कविता के लिए, अपने पाठकों के लिए तथा अपने विचारों के लिए अच्छा ही किया है। इस प्रकार वह जो बातें काव्यामोदियों तक पहुंचाना चाहते थे, वह और भी सुगमता के साथ पहुंच गई। माइकेल ने एक काव्य 'हेक्टरवध' भी लिखा है, किंतु वह बंगाली पाठकों के गले नहीं उतरा। भारतीय साहित्य के सौभाग्य से माइकेल ने ओडिसि तथा बाइबल से अपने नायक नहीं चुने, नहीं तो केवल नामों के ही कारण उनकी सफलता में संदेह होता।

'वीरांगना' काव्य माइकेल की एक दूसरी अमर रचना है। इसमें वीरांगनाओं के लिखे हुए पत्रों का संग्रह है। द्वारकापति कृष्ण विदर्भाधिपति भीष्मक की कन्या रुक्मिणी का लिखा हुआ एक पत्र इसमें है, जो उन्होंने तब लिखा था जब उनके भाई रुक्मी ने चेदीश्वर शिशुपाल के साथ अपनी बहन के विवाह की बात चलाई। इस पत्र की लिखनेवाली रुक्मिणी है, किंतु यह पत्र करीब-करीब वैसा ही है जैसे एक कालेज की लड़की अपने प्रेमिक को लिखेगी जिसके साथ वह भाग जाने में ही समझती है कि सुखी होगी। रिझाने के सब ही तरीके हैं, लज्जा भी है, साथ-साथ निर्लज्जता भी। वही आग्रह और अपने प्यारे को सातवें आसमान पर चढ़ाकर अपनेको उसकी अयोग्या समझना। उसमें यह नहीं लिखा गया कि मैं लक्ष्मी हूं, तुम नारायण, यह मूर्ख रुक्मी एक ऐसी बात करने जा रहा है जो असंभव है।

वह लिखती है—

निशार स्वपने हेरि पुरुष-रतने
कायमन अभागिनी संपियाछे तारे,
देवी साक्षी करि, वरि देवनरोत्तमे
वरभावे। नारी दासी, नारे उच्चारिते
नाम तांर, स्वामी तिनि

—रात में स्वप्न में मैंने उस नर-रत्न को देखा, तबसे इस अभागिनी ने देवताओं को साक्षी करके इस देव तथा नरों में उत्तम को वर रूप से वरगाकर उन्हें देह तथा मन सौंप दिया। मै नारी हू, दासी हूं, उनका नाम उच्चारग नही कर सकती, क्योंकि वह पति जो हैं।

एक स्त्री स्वाधीनतावादी को, जो नारी की स्वतंत्रता की खोज में जान हथेली पर लिये फिरती है, उसको शायद इसकी अंतिम पंक्तियों में दासी शब्द खटके, किंतु यदि क्षमा किया जाय तो मैं कहने का साहस करूंगा कि यह स्वाभाविक हैं। हां, आजकल के प्रेम-पत्रों में यदि उधर से अपने को दासो लिखा जाता है तो इधर से दास भी लिखा जाता है।

रुक्मिगी आगे लिखती है—

शुनो एबे दुःख-कथा। हृदय-मन्दिरे
स्थापि से सुश्याम-मूर्ति, सन्यासिनी यथा
पूजे नित्य इष्टदेवे गहन विपिने,
पूजिताम आमि नाथे। एबे भाग्य-दोषे
चेदीश्वर नरपाल शिशुपाल नामे,
(शुनि जनरव) नाकि आसिछेन हेथा
वरवेशे वरिबोरे, हाय अभागीरे

—अब ज़रा मेरी दुःख-कहानी सुनिये। हृदय-मंदिर में उस श्याम मूर्ति को रखकर मैं उसकी उसी तरह पूजा करती थी जैसे कोई संन्यासिनी अपने इष्टदेव को गहन विपिन में पूजती है। अब दुर्भाग्य के कारगा सुनती हूं, ऐसी अफवाह है कि चेदिश्वर शिशुपाल नामी कोई राजा मुझ अभागी के वर-रूप में आ रहे हैं।

कालरूपे शिशुपाल आसिछे सत्वरे—
आइसो ताहार अग्रे। प्रवेशि ए देशे

हरो कोरे—हरे लये देह तौर पदे
हरिला ए मन जिनि निशार स्वपने

—सुनती हूं शिशुपाल काल की तरह जल्दी ग्रा रहा है, ग्राप उससे भी पहले ग्रायें, ग्रौर इस देश में प्रवेशकर मुझे हर ले जायं, ग्रौर उन्हींको मुझे सौंप दें, जिन्होंने रात्रि के स्वप्न में मेरा मन हरण कर लिया।

'नीलध्वज के प्रति जना' नामक पत्र में हमें जना का जो चरित्र मिलता है, वह माता तथा पत्नी के रूप में इतनी महीयसी है कि उसके सामने सब क्लासिकल चरित्र फीके पड़ जाते है। जब पांडवों ने ग्रश्वमेध का ग्रश्व छोड़ा तो माहेश्वरीपुरी के युवराज प्रवीर ने उस ग्रश्व को पकड़ लिया, इसके फलस्वरूप ग्रर्जुन के हाथ से वह मारा गया। माहेश्वरीपति महाराज नीलध्वज ने इसपर युद्ध न कर ग्रर्जुन से संधि कर ली, इसपर पुत्रशोकातुरा रानी जना ने ग्रपने पति को लिखा—

"राजतोरण में रण-वाद्य बज रहा है, घोड़े हिनहिना रहे हैं, हाथी चिंघाड़ रहे हैं, ग्रासमान में राजपताका फहरा रही है, राजसेना मस्त होकर हुंकार छोड रही है, किंतु ग्राखिर क्यों? क्या तुम इसलिए सज रहे हो कि प्रवीर बेटा का प्रतिशोध लिया चाहते हो ग्रौर ग्रर्जुन के रक्त से मेरी शोकाग्नि को बुझाना चाहते हो? यही तो महाराज तुम्हें फबता है, तुम क्षत्रियों के मणि तथा महाबाहु हो। जाग्रो मतवाले गजराज की तरह किरीटी के ऊपर सूंडों को ग्रास्फालन करते हुए टूट पड़ो ग्रौर उसका गर्व रणस्थल में मेटकर उसके कटे हुए 'मुंड को ले ग्राग्रो। उस मूढ़ ने ग्रन्याय युद्ध में एक बालक को मार लिया, जाग्रो महाबाहु, जाकर उसे विनाश कर डालो। मैं इस ज्वाला को फिर भूल जाऊंगी। जन्म में मृत्यु तो खैर है ही, विधाता का यही विधान है। क्षत्रकुल-रत्न वीर प्रवीर संमुख समर में खेत रहकर स्वर्ग गया है, उसपर रोने की बात ही क्या है! राजन्, तुम पृथ्वी को पालो, क्षात्रधर्म को ग्रपने भुजबल से पालो तो सही।'

"किंतु यह क्या, जना? तुम क्या पागल हो रही हो? तुम्हारी सभा में नर्तकी नाच रही है, गायक गा रहा है, वीणा की ध्वनि उमड़ रही है, तुम्हारे पुत्र का हत्यारा तुम्हारे सिंहासन पर बैठा है। ग्रब शायद वह तुम्हारा सबसे जबर्दस्त मित्र है। तुम ग्रब ग्रपने ग्रतिथिरत्न की बड़ी सेवा कर रहे हो। कितनी लज्जा

की बात है। दुःख की यह कहानी मैं अब कहूं तो किससे ? क्या माहेश्वरी-पुरीश्वर नीलध्वज आज पुत्र-शोक के मारे लुप्तबुद्धि हो चुके हैं ? जिस दारुण विपत्ति ने राजन्, तुम्हारा पुत्र हर लिया, क्या उसीने तुम्हारी बुद्धि का भी सफाया कर दिया ? नहीं तो भला मुझे समझाओ कि अर्जुन आज तुम्हारी पुरी का सम्मानित अतिथि किस नाते से हो रहा है ? कैसे तुम आज मित्र रूप से उस कर का स्पर्श करते हो जो प्रवीर के रक्त से रंजित हो चुका है। क्या क्षात्र-धर्म यही है ? तुम्हारा धनुष, तूण, अस्त्र, चर्म कहां है ? दुश्मन के सीने को चुभते हुए शरों का निशाना बनाने की बजाय क्या आज तुम उन्हें बातों से सभा में तुष्ट कर रहे हो ? जब तुम्हारी ये बातें फैलेंगी तो देश-विदेशों में लोग क्या कहेंगे ?

"मैं जानती हूं, लोग पार्थ को रथीश्रेष्ठ कहते हैं। झूठी बात, उसने भेष बदलकर स्वयंवर में लाखों राजाओं को उल्लू बनाया। ब्राह्मण समझकर उसके साथ किस राजा ने ढंग से लड़ाई की होगी ? दुष्ट ने खांडव कृष्ण की सहायता से जलाया, फिर शिखंडी की आड़ लेकर महापापी ने कौरवों के गौरव वृद्ध पितामह भीष्म को हराया। गुरु द्रोणाचार्य को उसने किस छल से मारा, जरा सोचो तो। जब पृथ्वी ने रुष्ट होकर महायशा कर्ण के रथ के पहियों को निगल डाला तो तब उस बर्बर ने कर्ण को मार डाला। मुझे बतलाओ तुम तो स्वयं महारथी हो। क्या यह सब महारथीपना है ? यह तो व्याध का काम है कि छल से सिंह को मारता है, किंतु सिंह अपने रिपु को पराक्रम से ही परास्त करता है।

"राजन्, तुम क्या नहीं जानते हो। न मालूम आज किस कारण पार्थ के सामने तुम्हारा सिर झुका हुआ है। क्या ब्राह्मण आज चंडाल के पैर की धूल लेगा ?...किंतु यह सब उलहना व्यर्थ है। तुम आखिर मेरे बड़े ही हो, यदि मैं तुम्हारी भर्त्सना करूं तो मैं केवल पाप की भागी बनूंगी। मैं कुल-नारी हूं, विधना का यही विधान है कि मैं पराधीन हूं। मुझमें वह शक्ति नहीं कि अपनी शक्ति से अपनी इच्छा पूर्ण करूं। दुर्दान्त अर्जुन ने मुझे पुत्रहीना कर दिया, मालूम होता है विधाता ने इस कौन्तेय को इस कारण पैदा किया वह लोगों के सुख का नाश करता फिरे। तुम पति मेरे प्रति दुर्भाग्य से वाम हो रहे हो। फिर मैं इस संसार में जीऊं तो किसलिए और क्यों ? आज यह विपुल

जनसंख्यावाली पृथ्वी मेरे लिए निर्जन हो चुकी है। इस जले हुए ललाट पर विधना ने जो लिखा है वह अब होकर के ही रहा।

"हाय मेरा प्रवीर। क्या इसीलिए तुझे मैंने दस मास दस दिन तक कष्ट सहकर गर्भ में धारण किया?...क्या इसी प्रकार मां का ऋण चुकाया जाता है? हे आंखें, तुम बरस रही हो? कौन तुम्हारे आंसुओं को पोंछनेवाला है? हे मन, क्यों तू जलता है? अरे मणिहीन फणी, तेरे माथे की मणि तो पांडव के शर से खंड-खंड हो चुकी, अब बांबी के अन्दर मुंह छिपाकर रोना ही तेरे लिए रह गया है। जाओ महाबाहु, अपने मित्र पार्थ के साथ जाओ, यह अभागी तो अब महायात्रा कर इस संसार से जाती है। मैं क्षत्रकुलवाली हूं और क्षत्रकुल वधू भी, कैसे मैं यह अपमान सह सकती हूं! मैं तो जाकर जाह्नवी के जल में अपना प्राण दिये देती हूं। देखूं यदि कृतान्त के यहां जाकर मेरे शोक का अन्त हो। मैं हमेशा के लिए तुम्हारे चरणों से विदा मांगती हूं। जब तुम अपने प्रासाद में लौटोगे तो यदि तुम 'जना कहां है?' करके पुकारोगे तो प्रतिध्वनि जवाब देगी 'जना कहां है?"

कहां वैयक्तिक स्वतंत्रतालवलेशशून्य वैष्णव-कविता और कहां माइकेल की यह पग-पग पर अपने लिए स्वतंत्र रास्ता निकालकर झूमती हुई चलनेवाली कविता! माइकेल ने अपने इन भावों के आत्मप्रकाश में कठिनता न हो, इस कारण अतुकान्त को अपनाया, किंतु कृत्तिवास, काशीरामदास तथा पदावली के पयार-छन्द को अपनाया, साथ ही उसकी गति बदलकर उसमें नये जीवन-प्रवाह का संचार किया। वह युग ही ऐसा था कि सभी क्षेत्र में नयेपन की गुंजाइश थी। आज बंगला इस मर्यादा को पहुंची है कि उसमें सूक्ष्म-से-सूक्ष्म कविता तथा स्थूल-से-स्थूल विज्ञान लिखा जा सकता है; किंतु मधुसूदन के युग में भाषा नये युग के प्रयोजन, बल्कि कहना चाहिए नये युग के सतत वृद्धिशील प्रयोजन, के अनुसार पिछड़ी हुई थी। मधुसूदन को इसलिए वीणा धारण करने के लिए वीणा की लकड़ी काटनी पड़ी, तार बनाने पड़े, तब वीणा पर आलाप शुरू किया। मधुसूदन की भाषा दुरूह है, उसमें संस्कृत के तत्सम शब्द, बड़े-बड़े समास बहुत हैं, किंतु "फिर भी" समालोचक मोहितलाल लिखते हैं, "माइकेल के शब्दों की दुरूहता ने बंगाली पाठकों को उतना नहीं भरमाया जितना रवींद्रनाथ की अनभ्यस्त शैली ने लोगों को पहले-पहल परेशान किया।"

मधुसूदन ने इसलिए छंद को तो नहीं त्यागा, किंतु अपनी प्रतिभा की विपुल दृष्टि से उसे अपने भावों के अनुरूप कर लिया। पदावली साहित्य के युग में, मधुसूदन के युग में और आज भी बंगला छंद एक बहुत ही सरल वस्तु है। हिंदी छंदों की तरह बंगला छंद को आयत करने के लिए किसीको पिंगल पढ़ने की या दीर्घ अभ्यास की जरूरत नहीं, यह भी एक कारण है कि बंगला में कविता की इतनी उन्नति हो सकी। प्राचीन बंगला में, सच पूछा जाय तो, पयार, त्रिपदी, चौपदी आदि चार-पांच छंद थे। इनके मिश्रण से जो छंद होते थे वे मिश्र छंद कहलाते थे। अवश्य भारतचंद्र जैसे कवियों ने सफलतापूर्वक कुछ संस्कृत छंदों की भी बंगला में आमदनी की, किंतु ये छंद बंगला शब्दों की उच्चारण-पद्धति के साथ सामंजस्यहीन होने के कारण दूसरे कवियों ने उन्हें नहीं अपनाया। त्रिपदी, दीर्घ त्रिपदी और चौपदी में यति इकरस होते थे, फिर पग-पग पर तुक मिलाना पड़ता था, इस कारण मधुसूदन को जो बंगला कविता उत्तराधिकार सूत्र में मिली वह भाव-गद्‌गद् और रीढ़शून्य थी। मधुसूदन ने पयार को ही लिया, किंतु उसको नये तरीके से ढालकर उसमें नये संगीत की सृष्टि की। यह असाध्य साधन वह अपनी भाषा की ही बादौलत करने में समर्थ हुए।[1]

माइकेल ने इस पयार को ही महाकाव्य के सुर में बांध दिया। इस प्रकार माइकेल ने केवल विचार-जगत् में ही एक बिल्कुल नया जगत् नहीं पेश किया, बल्कि उस विचार के लिए उपयुक्त वाहन का भी निर्माण किया। भाषा और छंद यदि भावों से आगे निकल गये या पीछे रह गये तो कवि को सफलता नहीं मिलती, इसलिए अधिक या कम प्रत्येक कवि को अपनी भाषा तथा छंद आदि का सृजन करना पड़ता है। इसीको हम किसी कवि की शैली कहेंगे। मधुसूदन ने जैसे पौराणिक नामों को लेकर उनको बिल्कुल अपौराणिक आधुनिक बना दिया, उसी प्रकार उन्होंने बंगला छंदों में विशेषकर पयार को ग्रहण करते हुए उसमें ऐसे परिवर्तन कर दिये जो वैष्णव कवियों के लिए अकल्पनीय थे। पयार में चौदह अक्षर होते हैं। "उसके आठ पैर होते हैं, किंतु उसको कितने प्रकार से चलाया जा सकता है, इसका प्रमाण माइकेल के 'मेघनादवध' काव्य में मिलता है।" उस महाकाव्य की अवतारणा की प्रथम पंक्तियों को ही लीजिये। इन पंक्तियों

---

[1] आधुनिक बंगला साहित्य, पृष्ठ ११५

में उन्होंने विभिन्न वज़न का सुर अलापा है, किसी जगह पर भी पयार को उन्होंने प्रचलित यति स्थान पर रुकने नहीं दिया। पहली पंक्ति में ही वीरबाहु की वीर-मर्यादा सुगंभीर होकर बज उठी—

सम्मुखसमरे पोड़ि वीर चूड़ामणि वीरबाहु[1]

फिर मानों उनकी अकालमृत्यु का संवाद जैसे टूटी हुई रणपताका की तरह टूटे हुए छंदों में टूट पड़ा।

चलि जबे गेला यमपुर अकाले[2]

फिर जैसे छंद ने झुककर मंगलाचरण किया।

कह हे देवी अमृतभाषिणी[3]

इसके बाद असली बात जो सबसे महत्वपूर्ण है, परिणाम की सूचना की तरह जैसे आनेवाली आंधी के सुदीर्घ मेघगर्जन की तरह क्षितिज की एक ओर से दूसरी ओर तक प्रतिध्वनित होती है—

कोन बीरवरे वरि सेनापति पदे
पाठाइलो रणे पुनः रक्षकुलनिधि
राघवारि[4] **यह माइकेल का चमत्कार है:**[5]

अतुकांत होने के कारण कवि को तुक खोजने के लिए कहीं अपने भावों को कुंठित नहीं करना पड़ा।

: १२ :

इस युग के अन्य महत्वपूर्ण लेखक

बंकिमचंद्र के साथ-ही-साथ उपन्यासकार रमेशचंद्र का नाम लेने की परिपाटी है। इसका कारण यह है कि रमेशचंद्र (१८४८-१९०९) बंकिमचंद्र

---

[1] वीर चूड़ामणि वीरबाहु सम्मुख समर में खेत रहकर

[2] जब अकाल ही यमपुर चले गये

[3] तो बताओ हे देवी अमृतभाषिणी,

[4] राघवारिक्षकुलनिधि ने किस वीरवर को सेनापति पद में वरण कर भेजा।

[5] देखिये सबुजपत्र १३२५ में रवींद्रनाथ का छंद लेख

के बहुत-कुछ समसामयिक थे, और दोनों साहित्यकारों ने ऐतिहासिक उपन्यास लिखकर बंगला भाषा को समृद्ध किया। ऐसा मालूम होता है कि १८७२-७३ में बंकिमचंद्र और रमेशचंद्र नौकरी के सिलसिले में एक साथ हुए थे, तभी बंकिमचंद्र ने उन्हें बंगला साहित्य की ओर प्रवृत्त किया। रमेशचंद्र यह समझते थे कि वह शायद सफल उपन्यासकार न हो सकेंगे, पर बंकिमचंद्र ने उन्हें समझाया और उनके संबंध में भविष्यवाणी की कि वह बंगला के अच्छे उपन्यासकार होंगे।

इसपर रमेशचंद्र उपन्यास लिखने के लिए तैयार हुए और एक के बाद एक उनके छः उपन्यास निकले। इन उपन्यासों के नाम हैं—'बंग विजेता' (प्रथम पुस्तक रूप में प्रकाशन १८७४, पहले यह 'ज्ञानांकुर' पत्रिका में धारावाहिक रूप से प्रकाशित हुआ था), 'माधवी कंकण' (१८७७), 'महाराष्ट्र जीवन प्रभात' (१८७८), 'राजपूत-जीवन-संध्या' (१८७९), 'संसार' (बंगला सन् १८९३ याने लगभग और 'समाज' (१८९४)। इनमें से प्रथम दो आपात दृष्टि से ऐतिहासिक उपन्यास ज्ञात होने पर भी इतिहास की पृष्ठभूमि में रोमांटिक उपन्यास मात्र हैं। 'राजपूत-जीवन-संध्या' और 'महाराष्ट्र जीवन प्रभात' सचमुच ऐतिहासिक उपन्यास हैं और इनमें, जैसा कि ऐतिहासिक उपन्यासों में होता है, ऐतिहासिक पात्रों के साथ-साथ कल्पित पात्र भी हैं, पर ऐतिहासिक घटनाक्रम और वातावरण का ख्याल रक्खा गया है। रमेशचंद्र दत्त एक प्रसिद्ध इतिहासकार भी थे, इसलिए उनके लिए ऐतिहासिक वातावरण का निभाना बहुत आसान था।

यहांपर हम एक क्षण के लिए रुककर पाठक का ध्यान इस ओर आर्कषित करना चाहते हैं कि यद्यपि वन्देमातरम् गान में 'सप्त कोटि कंठ कलकल निनाद कराले' आता है, फिर भी इस युग के दोनों देशप्रेमी उपन्यासकार बंकिमचंद्र और रमेशचंद्र अखिल भारतीय देशभक्ति से अनुप्राणित थे। वन्देमातरम् गान जिस प्रसंग में आया है, उसमें कदाचित् त्रिंश कोटि देना संभव नहीं था क्योंकि 'आनंद मठ' की सारी कहानी बंगाल के एक स्थानीय विद्रोह के इर्द-गिर्द प्रवाहित होती है। ऐतिहासिक दृष्टि से तो सप्त कोटि का आदर्श भी उस ऐतिहासिक आंदोलन पर लादना बहुत बड़ा बोझ था, यद्यपि जैसा कि मैं पहले ही बता चुका हूं, इस प्रकार एक सीमित और छोटे-से आंदोलन पर एक बृहत् आदर्श लादने में बंकिम का जो उद्देश्य था, उसे देखते हुए वह ठीक ही था।

बंकिमचंद्र के 'राजसिंह' और रमेशचंद्र के 'महाराष्ट्र-जीवन-प्रभात' तथा 'राजपूत जीवन संध्या' अखिल भारतीय देशभक्ति की उपज है, न कि प्रादेशिकता की। मध्ययुग में राजपूतों को कोई विशेषता नहीं दी जाती थी, राणा प्रताप जैसे व्यक्ति की बात और है। समस्त राजपूत जाति को एक वीर जाति के रूप में पेश करने और भारत के सामने एक आदर्श के रूप में खड़ा करने का श्रेय कर्नल टाड (चाहे उनका इतिहास कसौटी पर कितना भी लचर सिद्ध हो चुका हो) और बंगाल के इन दो उपन्यासकारों तथा उनके बंगाली अनुकरणकारियों को बहुत-कुछ प्राप्य हैं। केवल यही नहीं, महाराष्ट्र को भी इसमें पहले-पहल शरीक किया गया। बाद को चलकर डी० एल० राय आदि नाटककारों ने इसी परिपाटी को कायम रक्खा। यहां यह बता दिया जाय कि इन उपन्यासों का अनुवाद फौरन हुआ और उसने उठती हुई अखिल भारतीय देशप्रीति को पुष्ट करने में हाथ बटाया।

यहां एक बात यह भी बता देना उचित होगा कि इन उपन्यासों को केन्द्र बनाकर, बल्कि इन उपन्यासों से पुष्ट होकर जो अखिल भारतीय राष्ट्रीयता की धारा चल पड़ी, वह अनिवार्य रूप से हिंदू राष्ट्रीयता हो गई। 'आनंद मठ' के संतान संप्रदाय के लोग सब विदेशी शासन के विरुद्ध थे, इस कारण वे मुस्लिम शासन के विरोधी थे। इसी प्रकार राजपूतों और मराठों का झगड़ा मुसलमान शासकों से ही था। इसका नतीजा यह हुआ कि इस राष्ट्रीयता में मुसलमानों का, विशेषकर हमारे देश के पिछड़े हुए मुसलमानों का, कोई स्थान नहीं रहा। हमारे यहां की परिस्थिति में यह कैसे आशा की जा सकती थी कि हमारे मुसलमान भाई इन रचनाओं में से मुस्लिम विरोध को यह कहकर उड़ा देंगे कि खुल्लमखुल्ला अंग्रेजों का विरोध करना संभव नहीं था, इसलिए इतिहास की आड़ ली गई थी, वस्तुतः लेखकों का अभिप्राय मुसलमानों का विरोध करना नहीं था, क्योंकि अब तो वे भी गुलाम हो चुके थे। सच तो यह है, जैसा कि मैंने अन्यत्र बहुत विस्तार के साथ दिखलाया है कि जिसे मुस्लिम काल कहा जाता है, उसमें भी उच्च वर्ग के थोड़े मुसलमानों के अतिरिक्त बाकी सब मुसलमान हिंदुओं की तरह ही शोषित और पददलित थे, बल्कि पूर्ण सत्य तो यह है कि हिंदुओं में भी सामंत तथा उच्च वर्ग के लोग शासकों के धर्मावलंबी न होते हुए भी शासन में साझीदार थे। इस पुस्तक में इस प्रश्न पर

संक्षेप में इतने से अधिक कहने की गुंजाइश नहीं है।

रमेशचंद्र के बाकी दो उपन्यास सामाजिक थे। रमेशचंद्र ने इन उपन्यासों में गांव की गृहस्थी का बहुत सुंदर चित्र खींचा है। इसपर डा० सुकुमारसेन का यह कहना है कि "उनकी तरह का जीवन नगरवासी धनी संतान के लिए ही उपयुक्त था। रमेशचंद्र से पहले और किसीने भी बंगला साहित्य में ऐसा शांत, कोमल, मधुर पल्लीचित्र नहीं प्रस्तुत किया।"

रमेशचंद्र दत्त ने उपन्यासों के अतिरिक्त अन्य क्षेत्र में भी बड़ा उपयोगी कार्य किया। उन्होंने ऋग्वेद के बंगला अनुवाद का प्रकाशन आरंभ किया। इसके अतिरिक्त उन्होंने सब धर्मशास्त्रों का निचोड़ भी हिंदूशास्त्र नाम से दो खंडों में प्रकाशित किया। रमेशचंद्र ने अंग्रेजी में रामायण और महाभारत का संक्षिप्त अनुवाद किया। इसके अतिरिक्त अंग्रेज़ी में उनकी कई अन्य पुस्तकें प्रकाशित हुईं, जिनसे अखिल भारतीय क्षेत्र में भी वह बहुत प्रसिद्ध हो गये।

बंकिमचंद्र के एक बड़े भाई **संजीवचंद्र** (१८३४-१८८९) अच्छे लेखक हो गये हैं। उन्होंने दो उपन्यास, दो कहानियां, एक ऐतिहासिक आख्यायिका और अन्य कई फुटकर चीज़ें लिखी हैं। संजीवचंद्र भी बड़े प्रतिभाशाली व्यक्ति थे, पर उनमें अपने छोटे भाई की तरह अध्यवसाय का अभाव था। 'जाल प्रताप चांद' नामक पुस्तक की भूमिका लिखते हुए उन्होंने लिखा था—"हम लोगों का कोई इतिहास नहीं है। जिसे हम बंगालियों का इतिहास करके पढ़ते हैं, वह अंग्रेज़ों का इतिहास है। बंगभूमि पर अंग्रेज़ों के कीर्ति-कलाप को बंगालियों की वस्तु करके हम ग्रहण कर रहे हैं। इस भ्रम को दूर करने का समय अभी नहीं आया है। जब वह समय उपस्थित होगा तो कहीं इतिहास के लिए उपयोगी उपकरण का अभाव न हो इस आशा से एक युग की सामाजिक दो-चार बातों को लिख रखने की चेष्टा हो रही है, इसलिए इस समय के लिए जाली राजा को मैंने उपलक्ष्य बनाया है।"

संजीवचंद्र शक्तिशाली लेखक थे, यहांतक कि यह कहा गया है कि संजीवचंद्र में रवींद्रनाथ का पूर्वाभास प्राप्त होता है। स्वयं रवींद्रनाथ भी उनके प्रशंसक थे, उन्होंने संजीवचंद्र के संबंध में लिखा था कि बहुत थोड़े-से लोग ऐसे हैं जो छापे के हरफों में मजलिस जमा पाते हैं, संजीवचंद्र उन थोड़े-से लोगों में हैं, जो यह सामर्थ्य रखते हैं।

बंकिमचंद्र के सबसे छोटे भाई **पूर्णचंद्र** भी उपन्यासकार थे। उन्होंने दो उपन्यास लिखे। समसामयिक उपन्यासकारों में कई ऐसे हुए, जो उस युग में प्रसिद्ध रहे। उदाहरणस्वरूप **दामोदर मुखोपाध्याय** (१८५३-१९०७) ने लगभग एक दर्जन उपन्यास लिखे। **देवीप्रसन्न राय चौधुरी** (१८५४-१९२०) ने बहुत-से उपन्यास लिखे। इनके सभी उपन्यास शिक्षामूलक पर इकरस थे।

सुप्रसिद्ध ब्राह्म नेता **शिवनाथ शास्त्री** (१८४७-१९१९) ने भी कई उपन्यास लिखे। उन्होंने कई काव्यों की भी रचना की थी। उनका पहला उपन्यास 'मझली बहू' १८७९ में प्रकाशित हुआ था और अगले साल ही उसका दूसरा संस्करण निकल गया था। बंकिमचंद्र के किसी भी उपन्यास का पहला संस्करण इतनी जल्दी समाप्त नहीं हुआ था। उनका दूसरा उपन्यास 'युगान्तर' १८९५ में और तीसरा उपन्यास 'नयनतारा' १८९९ में प्रकाशित हुआ था। रवींद्रनाथ ने इनके उपन्यासों की बहुत प्रशंसा की थी। पर शिवनाथ शास्त्री की सबसे मूल्यवान रचना उनका 'आत्मचरित्र' है। बंगला में बहुत-से लोगों ने आत्मकथा लिखी है, पर शिवनाथ शास्त्री की आत्म-कथा फिर भी महत्वपूर्ण है, क्योंकि उस समय के समाज का बहुत सुन्दर चित्र उसमें प्राप्त होता है।

स्वर्णकुमारी देवी भी बंगला साहित्य के क्षेत्र में उपन्यास लिखकर बहुत प्रसिद्ध हो गई हैं। उनका पहला उपन्यास 'दीपनिर्वाण' पृथ्वीराज संयोगिता की कहानी लेकर लिखा गया था। इसके बाद तो उनके बहुत-से उपन्यास प्रकाशित हुए। उनके उपन्यासों में 'स्नेहलता' सर्वश्रेष्ठ है। उस समय के समाज में नये विचारों के कारण जो आलोड़न-विलोड़न चल रहा था, उसका चित्र पेश किया गया है।

तारकनाथ विश्वास ने भी बहुत-से उपन्यास और कहानियां लिखीं। इनके एक उपन्यास 'लीला' के संबंध में रवींद्रनाथ ने लिखा था कि इस पुस्तक को पढ़ते-पढ़ते कई गृहस्थियों के चित्र हमारी आंखों के सामने आ जाते हैं और इसके पात्र प्रत्येक बंगाली के लिए सुपरिचित हैं।

चंडीचरण सेन (१८४५-१९०६) ने 'टाम काका की कुटिया' का अनुवाद करके ख्याति प्राप्त की। इसके अतिरिक्त उन्होंने 'महाराज नंदकुमार' (१८८५) आदि कई उपन्यास लिखे।

श्रीशचंद्र मजुमदार ने चार उपन्यास लिखे। श्रीशचंद्र की रचना में सरलता से अपनी बात कहने का गुण बहुत है। इंद्रनाथ वंद्योपाध्याय (१८४४-१९११) ने व्यंगात्मक उपन्यासों की रचना की। इस प्रकार यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि बंकिमचंद्र की ख्याति ही स्थायी हो सकी और उनकी ख्याति के सामने उनके समसामयिक उपन्यासकार बहुत कुछ डूब गये, फिर भी बंगला साहित्य में उपन्यास और कहानियों की साधना बड़ी तेजी से हो रही थी और रवींद्र तथा शरतचंद्र का पैदा होना कोई आकस्मिक घटना नहीं है।

रवीन्द्र की प्रतिभा के संबंध में आलोचना करने के पहले हम इस युग के अन्य साहित्य का थोड़ा-सा परिचय देंगे।

देवेंद्रनाथ ठाकुर के साथियों में **श्री राजनारायण वसु** (१८२६-१८९९) अपने युग के बहुत अच्छे वक्ता और लेखक थे। उन्होंने बहुत-सी धार्मिक पुस्तकें लिखीं, इसके अलावा उन्होंने बंगला भाषा और साहित्य पर भी एक पुस्तक लिखी। उनकी भाषा में बोल-चाल की भाषा का पुट बहुत अधिक है। उन्होंने 'ग्राम्य उपाख्यान' नामक गांव के संबंध में एक पुस्तक लिखी।

देवेंद्रनाथ ठाकुर के सबसे बड़े लड़के **द्विजेंद्रनाथ** (१८४०-१९२६) दार्शनिक विषयों के अच्छे लेखक हो गये हैं। १८७७ में 'स्वप्न प्रयाण' नाम से जो काव्य प्रकाशित किया था, वह उच्चकोटि का था। उनका पहला दार्शनिक ग्रंथ १८६६ में प्रकाशित हुआ था।

इसी प्रकार **चंद्रशेखर वसु** ने भी बहुत-से धार्मिक ग्रंथ लिखे। केशवचंद्र सेन (१८३८-८४) का पहले उल्लेख आ चुका है। वह १८७० में 'सुलभ समाचार' नामक दैनिक पत्र निकाल चुके थे। कई पुस्तकों में उनके व्याख्यान संगृहीत किये गए। केशवचंद्र ने नवविधान ब्राह्म-समाज का प्रवर्त्तन किया और १८८० में उन्होंने 'नवविधान' नामक एक पत्रिका निकाली। केशवचंद्र के साथियों में कई अच्छे लेखक हुए, जिनमें **गिरीशचंद्र** अरबी और फारसी के विद्वान थे। उन्होंने शेखसादी के गुलिस्तां का अनुवाद किया। कुरान के प्रथम बंगला अनुवादक वही हैं। इन्होंने मुहम्मद की जीवनी और परमहंस रामकृष्ण की जीवनी भी लिखीं। **त्रैलोक्यनाथ सान्याल** ने चिरंजीव शर्मा नाम से कई धर्म और नीति संबंधी पुस्तकें, दो उपन्यास और तीन नाटक लिखे।

स्वामी विवेकानंद (१८६२-१९०२) ने बंगला में लिखने के उद्देश्य से कुछ

नहीं लिखा, पर वह बंगला के बहुत अच्छे वक्ता थे और उन्होंने जो कुछ थोड़ा-बहुत बंगला में लिखा, उसमें उनकी अपनी ओजपूर्ण शैली स्पष्ट हो जाती है। उनके बंगला व्याख्यानों का भी संग्रह प्रकाशित हुआ।

जीवनी-रचना के क्षेत्र में भी बंगला में बराबर काम होता रहा। आत्म-चरित भी बहुत-से लिखे गये। जीवनी रचना के क्षेत्र में श्री **योगेन्द्रनाथ विद्याभूषण** (मृत्यु १९०४) विशेष उल्लेख-योग्य हैं। उन्होंने जान स्टुअर्ट मिल और इटली के देशभक्त मैजिनी और गैरीबाल्डी की जीवनी लिखी। ये पुस्तकें १८८७ के लगभग प्रकाशित हुईं। उन दिनों भारतीय देशभक्त इटली के देशभक्तों के उदाहरण से अनुप्रेरित हो रहे थे, उसीका नतीजा था इन जीवनियों का प्रकाशन। ये पुस्तकें बंगाल के क्रांतिकारी आंदोलन में बहुत काम आईं और पाठ्यपुस्तक के रूप में पढ़ी जाती रहीं।

सत्यचरण शास्त्री ने भी कुछ महत्वपूर्ण जीवनियां लिखीं। डा० सुकुमार सेन के अनुसार अन्य उल्लेख योग्य समसामयिक जीवनीकारों तथा जीवनियों में ये उल्लेख-योग्य हैं—**नगेन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय** रचित राजा राममोहन राय का जीवन-चरित (१८८१), **महेन्द्रनाथ राय** रचित अक्षयकुमार दत्त की जीवनी (१८८५), **योगेन्द्रनाथ वसु** रचित माईकेल मधुसूदन दत्त की जीवनी, दूसरा संस्करण (१८९५), **बिहारीलाल सरकार** रचित विद्यासागर (१८९५)।

ऐतिहासिक आलोचना के क्षेत्र में कई लोगों ने इस युग में अच्छा काम किया। **रजनीकांत गुप्त** (१८४९-१९००) ने १८७६ में सिपाही-विद्रोह के इतिहास का प्रथम खंड प्रकाशित किया। इसके अतिरिक्त इन्होंने जयदेव, पाणिनि आदि पर भी कई पुस्तकें लिखीं। **रामदास सेन** (१८४५-८७) ने ऐतिहासिक रहस्य, भारत रहस्य तथा उमेशचंद्र राय ने सिक्किम का इतिहास (१८७५ में) लिखा। **प्रफुल्लचन्द्र वंद्योपाध्याय** ने (१८४९-१९००) ग्रीक और हिंदू तथा वाल्मीकि और उस समय के वृत्तांत पर पुस्तकें लिखीं। **चंद्रशेखर मुखोपाध्याय** ने १८७६ में 'उद्भ्रांत प्रेम' नाम से एक उच्छ्वास-पूर्ण शोकगाथा लिखी, जो लगभग ५० वर्ष तक बंगाल में बहुत जनप्रिय रही। **मीर मुसर्रफ हुसेन** ने करबला की कहानी लेकर 'विषाद सिंधु' नाम से एक पुस्तक लिखी।

भ्रमण पर भी अच्छी पुस्तकें लिखी गईं। एक काल्पनिक भ्रमण कहानी लिखी गई, जिसका नाम था 'देवताओं का मर्त्य में आगमन'। इस पुस्तक में

समसामयिक समाज की हँसी उड़ाई गई थी। आगे चलकर बंगला साहित्य में भ्रमण-संबंधी पुस्तकों को साहित्यिक ढंग पर लिखने में जो सफलता प्राप्त हुई, उसका बीज इसी युग में पड़ चुका था।

यह बताने की आवश्यकता नहीं है कि उपन्यास के साथ-साथ कहानी-साहित्य की भी बराबर उन्नति होती जा रही थी। पर जिस प्रकार से उपन्यास के क्षेत्र में बंकिमचंद्र, रमेशचंद्र आदि महान् लेखकों का उद्भव हुआ था, उस प्रकार कहानी-साहित्य में कोई बड़ा नाम देखने में नहीं आता। उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम दशकों में नगेन्द्रनाथ गुप्त और स्वर्णकुमारी देवी का नाम विशेष उल्लेखनीय है। यों तो बंकिमचंद्र ने भी 'युगलांगुरीय', 'राधारानी' और 'इंदिरा' तीन रचनाएं प्रस्तुत की थीं, जो बड़ी कहानियों की श्रेणी में ही आती हैं। संजीवचंद्र की एक रचना 'दामिनी' भी कहानी की श्रेणी में आती है। डा० सुकुमार सेन का कहना है कि रवींद्रनाथ के पहले जो कहानियां प्रकाशित हुई थीं, उनमें 'दामिनी' ही श्रेष्ठ है।

: १३ :

कवि बिहारीलाल

इस युग के दूसरे प्रतिभावान कवि का नाम **बिहारीलाल चक्रवर्ती** था। "मज़े की बात यह है कि कवींद्र रवींद्र के अतिरिक्त और भी बहुत-से समसामयिक कवियों के उन्हें अपना काव्यगुरु करके मानने पर भी उनको माइकेल मधुसूदन के मुकाबले में बंगाल के बाहर ही कम लोग जानते हैं। ऐसा ही नहीं, बल्कि बंगाल में भी वह कम प्रसिद्ध हैं। फिर भी बंगला साहित्य में बिहारीलाल का स्थान माइकेल से कुछ कम नहीं है, बल्कि बाद को चलकर बिहारीलाल की विशेष काव्य-साधना ही बंगला साहित्य में अधिक रंग लाई। बिहारीलाल की काव्य-प्रेरणा मधुसूदन के मुकाबले में और भी सरल और स्वतःस्फूर्त थी, साथ ही बंगाली जाति के भावों के अनुकूल थी। इस दृष्टि से आधुनिक बंगला काव्य के इतिहास में बिहारीलाल एक व्यक्ति नहीं बल्कि युग-प्रवर्तक थे।"[1]

[1] बिहारीलाल, श्री मोहितलाल मजुमदार के आधार पर मुख्यतः लिखा गया।

बिहारीलाल ने 'सारदामंगल', 'प्रेम प्रवाहिनी', 'बन्धुवियोग', 'निसर्ग संदर्शन', 'बाउलविंशति', 'संगीतशतक' आदि कई एक काव्य-ग्रन्थ लिखे, किंतु आज बंगाली समाज में इनको पढ़नेवालों की संख्या बहुत ही कम है। बात यह है बिहारीलाल की प्रतिभा मुख्यतः गीति(Lyric)थी। गीत गाते-गाते वह इतना विभोर हो जाते थे कि वह भूल ही जाते थे कि उनके सामने श्रोता हैं। उनकी उड़ान अत्यंत आत्मपरायण उड़ान है। उनके काव्यों में गम्भीरता और स्वकेन्द्रीयता जितनी हृदयस्पर्शी है, भाव की मूर्ति उतनी स्पष्ट नहीं है। इस कारण वह साहित्य में एक नवीन रीति के प्रवर्तक होते हुए भी साधारण कविता-प्रेमी पाठक के प्रिय नहीं हो सके। मधुसूदन के मुकाबले में तो वह कम पढ़े ही जाते हैं, किंतु नवीनचंद्र और हेमचंद्र से भी वह कम पढ़े जाते हैं। यह प्रथम दृष्टि में आश्चर्यजनक होते हुए इसका कारण स्पष्ट है, और वह यह कि नवीनचंद्र और हेमचंद्र चाहे कवि रूप में इनसे कितने ही निकृष्ट रहे हों, किंतु उन्होंने पलासी का युद्ध आदि ऐसा विषय लिया था जो कितना भी बिगड़ता तो उसकी एक हद थी।

बिहारीलाल की भाषा एक विशेष भाषा है। समालोचक कवि मोहितलाल के अनुसार उनके भाव शिशु की तरह सरल हैं तो उनकी भाषा भी शिशु की तरह नग्न अकृत्रिम है। बिहारीलाल की यह भाषा ही जैसे उनकी काव्य-रचना की विशेष प्रतिभामयी भाषा है। बिहारीलाल के काव्य 'सारदामंगल' को पढ़ने से हमें उनकी भाषा की कला पग-पग पर खूब देखने को मिलती है। कविवर कीट्स ने जिस प्रकार के कवि-स्वप्न को

> Upon the night's starred face,
> Huge cloudy symbols of a high romance

बतलाया है, उस प्रकार के रूप-रस की उत्कंठा उनमें नहीं थी। उनके काव्यों में विचार से बढ़कर भाव, कल्पना से बढ़कर प्रीति-विभोरता, जो नहीं है, उसकी उद्‌भावना से जो है उसीसे आनंदलोक सृष्टि की साधना हम अधिक देखते हैं।

बिहारीलाल की यह आत्मनिमग्नता कहीं इतनी अधिक हो जाती है कि वह पाठक के उपहास की वस्तु हो जाती है। समझ में नहीं आता कि इसमें कवितापन कहां है। अपने बाल्यबन्धु पूर्णचंद्र की मृत्यु पर वह एक कविता लिख गये, जिसमें वह मित्र की इसलिए प्रशंसा करते दिखाई देते हैं कि वह एक दिन

गंगा नहा रहे थे, ऐसे समय में एक नाव डूब गई। उस नाव का मल्लाह बच गया किंतु उसका कपड़ा बह गया। वह किनारे पर कम पानी में आकर थरथर कांपने लगा, किंतु उसे हिम्मत न हुई कि किसीसे कपड़ा मांगे। पूर्णचंद्र ने उसे अपना कपड़ा दे दिया और खुद अंगोछा पहनकर घर चले आये। इस घटना को कवि ने नमक-मिर्च न मिलाकर ऐसे ही लिख दिया, जैसे मैंने उसका विवरण लिखा। कहना न होगा यह कोई कविता नहीं है, किंतु इससे वही बात साबित होती है जो मैं पहले लिख आया हूं, याने कवि बिहारीलाल को अपने ही भावों की परवा है, श्रोताओं की नहीं। सौभाग्य से इस तरह की आत्मकेंद्रित कविता उनकी रचना में कम है। कुछ भी हो, बिहारीलाल की कविता इतनी सरल है कि हम सहज ही में कवि के हृदय की धड़कन को गिन सकते हैं।

हिमालय को कविवर बिहारीलाल किस प्रकार चित्रित करते हैं देखने की चीज है। नीचे जो कविता उद्धृत की जायगी उसमें पाठक देखेंगे कि हिमालय कोई प्रस्तर स्तूप नहीं, बल्कि रक्तमांसस्पर्शयुक्त एक विराट शरीर है, जिसके हृदय की धड़कन की यह कविता मानों स्वरलिपि है। हम इस कविता में साफ देख सकते हैं कि अब बंगला साहित्य में रवीन्द्रनाथ जैसी विभूति आने ही वाली है। बिहारीलाल की कविता मानो उस आनेवाली महान् प्रतिभा का पेशखेमा है। हम जरा कान खड़े कर सुनें तो हमें रवीन्द्रनाथ के आने की गड़गड़ाहट सुनाई पड़ेगी।

असीम नीरद नय
ओ-इ गिरि हिमालय
उथुले उठेछे जेनो अनंत जलधि
व्येपे दिक दिगंतर
तरंगिया घोरतर
प्लाबिया गगनांगने जागे निरवधि

—यह हिमालय पहाड़ कोई सीमाहीन बादल नहीं है, बल्कि जैसे अनंत समुद्र उमड़कर खड़ा हो गया है, सब दिशाओं को बड़े जोरों के साथ व्याप्त तथा तरंगित करता हुआ मानों वह आकाशरूपी आंगन को डुबोता हुआ निरवधि रूप से जाग रहा है।

पदे पृथ्वी, शिरे व्योम,
तुच्छ तारा सूर्य, सोम,
नक्षत्र नखाग्रे जेनो गनिबारे पारे
समुखे सारदाम्बरा
छड़िए रयेछे धरा,
कटाक्षे कखनो जेनो हेरिछे ताहारे ।

—चरणों पर उसकी वसुन्धरा है, सिर पर आकाश है; सूर्य-चंद्र फिर उसके लिए तुच्छ क्यों न हों, वह तो जैसे नखाग्र से नक्षत्रों को गिन सकता है। सामने सागराम्बरा धरा फैली हुई है, कभी-कभी वह कटाक्ष से उसे देख भर लेता है।

कतशत अभ्युदय
कतई विलय लय
चक्षेर ऊपरे जेनो घटे क्षणेक्षणे
हरहर हरहर
सुरनर थरथर
प्रलय-पिनाक-राब बाजे ना श्रवणे

—सैकड़ों अभ्युत्थान और पतन उसकी आंखों के सामने हर-हर क्षण होते रहते हैं। हरहर-हरहर, सुरनर थरथर कांपते हैं, किंतु प्रलय का पिनाक रव उसे सुनाई भी नहीं पड़ता।

झटिका दुरंत मेये
बुके खेला करे धेये
धरित्री ग्रासिया सिंधु लोटे पदतले ।
ज्वलंत अनल छबि
ध्वकध्वक ज्वले रवि
किरन-जलन-ज्वाला माला शोभे गले ।

—आंधी तो उसकी एक शरारती लड़की भर है, वह दौड़-दौड़कर उसके सीने पर खेलती है, धरित्री सिंधु को ग्रसकर उसके पैर पर लोटती है। जलती हुई महान् आग की तरह सूर्य धकधक जलता है, किरणों की जलती हुई माला से उसका कंठ सुशोभित है।

कालेर कराल हासि
दमके दामिनी राशि
कक्कड़ दंते-दंते भीषण घर्षण
त्रिजगत त्राहि त्राहि
किछुई भूक्षेप नाहि
के योगेन्द्र व्योमकेश योगे निमगन

—काल की कराल हँसी की तरह बिजली कोंध जाती है, दांत से दांत पीसकर काल मानों कड़कड़-कड़कड़ शब्द करता है, तीनों भुवन त्राहि-त्राहि करते हैं, किंतु उसे किसी बात की परवा नहीं, हे योगनिमग्न व्योमकेश, तुम भला कौन हो?

मानों कवि ने इस हिमालय में भारतवर्ष को ही चित्रित कर दिया है, बाहरी प्रभाव के प्रति उदासीन, मुक्त, उदार, अपने में आप समाहित।

: १४ :

प्रमुख प्राक-रवीन्द्र कवि

कवि सुरेंद्रनाथ मजुमदार

सुरेन्द्रनाथ मजुमदार इस युग में कहीं-कहींपर बहुत अच्छी कविता लिख गये हैं। मुख्यतः इन्होंने अनुवाद ही किये हैं, किंतु इनकी एक मौलिक कविता में कवि की वैयक्तिक स्वतन्त्रता कितनी उग्र मालूम होती है—

हे कवि-कल्पना माया सत्येर सोनालि छाया
काव्य-इंद्रजाल-भानुमती,
सुखे तुमि यथा इच्छा थाको क्रीड़ावती।
चड़िया पुष्पक-रथे
भ्रमो गिया छायापथे
कर इंद्रचाप-विरचन,
किम्बा करो परीसने चंद्रिका भोजन,
आमि ना करिबो देवी तव आवाहन।

—हे कवि कल्पना रूपी माया, सत्य की सुनहरी छाया, काव्य-रूपी इंद्रजाल

की भानुमती, क्रीड़ाशीले, तुम्हें जहां भी रहना हो सुख से रहो। पुष्पक विमान पर चढ़कर चाहे छायापथ में भ्रमण करो और इंद्रधनुष बनाओ या परियों के साथ जाकर चांदनी का भोजन करो; किंतु देवी, मैं तुम्हारा आवाहन नहीं करूंगा—

विधातार ए संसारे यारे ना तुषिते पारे—
जे कविर महती कामना,
से कबि कोरिबे देवी तव उपासना।
तोमार मुकुर परे
हेरे से हरषभरे
छाया तार काया नाही जार—
ततो लोकातीत नय वासना आभार
लक्ष्य मम सामान्य ए सत्येर संसार।

—विधाता का बनाया हुआ यह संसार जिसे तुष्ट नहीं कर सकता, जिस कवि की कामना इससे महान् है, वही, देवी, तुम्हारी उपासना करेगा। वह तुम्हारे दर्पण में आनंद के साथ उस चीज की छाया देखकर खुश होता है, जिसका शरीर ही नहीं है ? मेरी वासना इस प्रकार लोकातीत नहीं है, मेरा तो लक्ष्य मामूली यह सत्य का संसार है।

ऊपर जो कविता उद्धृत की गई उसको हम पाश्चात्य कवियों का अनुकरण कहकर उड़ा नहीं दे सकते, क्योंकि उन्नीसवीं सदी में पाश्चात्य कवि भी बहुत अंश में चांदनी भोजन करते थे। आजकल के उस भारतीय साहित्य के संबंध में, जो आधुनिक दीखते हुए भी आधुनिक नहीं है, ऊपर उद्धृत की हुई कविता एक अच्छी समालोचना है। यह भी देखने की बात है कि सुरेन्द्रनाथ ने अपनी कविता को बंदों के रूप में लिखा है।

हरेक युग की कविता में नारी की पूजा एक प्रधान चीज रही है। कविता की उत्पत्ति के फ्रायडीय सिद्धान्त को यह बात प्रतिपादित करती है। बंगला के प्राचीन साहित्य में राधा, यशोदा, कौशल्या के रूप में नारी की पूजा बहुत हुई है, किंतु उर्वशी के रूप में नारी की पूजा इसी युग की विशेषता है। हम रवीन्द्र-साहित्य की आलोचना के अवसर पर इस विषय पर आयेंगे, किंतु 'उर्वशी' लिखे जाने के पहले उर्वशी भाव से नारी-पूजा की एक बानगी हमें इन्हीं सुरेंद्रनाथ मजुमदार की 'महिला' कविता में मिलती है—

वर्णिते ना चाइ ह्रद नदी सरोवर
सिंधु शैल वन उपवन,
निर्मल निर्झर, मरु बालुर सागर,
शीत-ग्रीष्म-वसंत वर्तन ।
हृदये जेगेछे तान,
पुलके आकुल प्राण
गावो गीत खुलि हृदि-द्वार—
महीयसी महिमा मोहिनी महिलार ।

—'मैं झील, नदी, तालाब, सिंधु, पहाड़, वन-उपवन, निर्मल झरना, बालू के सागर मरुभूमि या शीत, ग्रीष्म या वसन्त ऋतु के परावर्तन का वर्णन नहीं करना चाहता । मेरे तो हृदय में तान जगी है, प्राण पुलकित हो रहा है, इसलिए मैं हृदय का द्वार खोलकर मोहिनी महिला की महीयसी महिमा गाऊंगा ।

आगे मूल न देकर बाकी कविता का अनुवाद ही दिया जाता है—

—'वह मन की सुषमा का सविलास विग्रह है, आत्मा के आनन्द की प्रतिमा है, कविता के ध्यान का जैसे साक्षात् आकार है, माया की मुग्धमुखी मूर्ति है, हृदय के जितने काम्य हैं, उन सबका संग्रह है । भला मैं रमणी के सम्बन्ध में आये हुए अपने विचारों को कैसे समझाऊं ?' वह इस संसाररूपी फणी का मंत्र है, महौषधि है ।

इस कविता की कुछ पंक्तियां यों हैं—

एलोकेशे के एलो रूपसी
कोन वनफूल, कोन, काननेर शशी

—बालों को लटकाकर कौन यह रूपसी आई है ? यह कौन-सा वनफूल है, किस कानन का चन्दा है ?

इस युग में इतने कवि हुए हैं कि उनकी एक-एक पंक्ति भी दी जाय तो एक बड़ी भारी पुस्तक हो जाय । इसलिए केवल कुछ ही कविताएं देना संभव है । शिवनाथ शास्त्री की ख्याति मुख्यतः एक सुधारक के रूप में है, फिर भी उन्होंने कुछ कविताएं लिखी हैं । उनकी 'गभीर निशीथे' नामक कविता में रहस्यवाद का एक अस्पष्ट रूप मिलेगा ।

कवि देवेन्द्रनाथ सेन

कवि देवेन्द्रनाथ सेन तथा अक्षयकुमार बड़ाल रवीन्द्रनाथ के समसामयिक हैं अर्थात् थे, किंतु फिर भी कई दृष्टियों से उनकी कविता रवीन्द्र-युग के पहले की कविताओं के साथ अध्ययन योग्य है। इसलिए हम इस दौर में ही उनकी कविता का नमूना देकर इस अध्याय को समाप्त करेंगे। देवेन्द्रनाथ क्या हैं, यह उन्हींके अपने मुंह से सुनिये—

चिरदिन चिरदिन रूपेर पूजारी आमि
रूपेर पूजारी
सारासन्ध्या सारानिशि रूपवृन्दावने वसि
हिन्दोलाय दोले नारी आनंदे नेहारि
अधरे रंगेर हास विद्युतेर परकाश
केशेर तरंगे नाचे नागेर कुमारी
वासन्ती ओढ़ना साजे प्रकृति राधिका नाचे
चरणे घुंगुर बाजे आनंदे झंकारि
नगना दोलना कोले मगना राधिका दोले
कविचित्ते कल्पनार अलका उधारि
आमि से अमृत विष पान करि अहर्निश
संसारेर व्रजवने विपिनविहारी।

—हमेशा से, हमेशा से, मैं रूप का पुजारी रहा हूं, रूप का पुजारी। सारी संध्या और सारी रात रूप-वृन्दावन के हिंडोरे में झूलने का मजा लेती रहती है। मैं इसको आनंद के साथ देखता रहता हूं। अधरों पर रंगीली हँसी है, मानों विद्युत् का प्रकाश हुआ है, बालों की लहरों में मानों नागकुमारी नाच रही है। ओढ़ना वासन्ती रंग का है, प्रकृति-रूपी राधा नाच रही है, कविचित्त मे कल्पना का उद्रेक होता है। इस अमृत-विष को मैं दिन-रात पीता रहता हूं, इस प्रकार मैं संसार के व्रजवन में विपिनविहारी हूं।

देवेन्द्रनाथ सेन की रचनाएं इस अमिट रूप-पिपासा से ओत-प्रोत हैं। 'लखनऊ का शरीफा' नामक कविता लीजिये। मामूली फलों को लेकर कवि-कल्पना किस प्रकार अबीर-गुलाब की पिचकारी भरती हुई अठखेलियां करती चलती है—

"मैं अनार नहीं चाहता, जिसका रंग अभिमान से निष्ठुर ब्रज-सुन्दरियों के होठों की लालिमा से मिलता है। मैं सेब भी नहीं चाहता, जो विरह-विधुरा जानकी के मुख-रुचि की पांडुरता लिये हुए है। ज़रा-से रस से भरा हुआ अंगूर, जो नई बहू के लज्जा से दिये हुए चुम्बन की तरह है, वह भी मैं नहीं चाहता। मैं गन्ने का स्वाद भी नहीं चाहता जो प्रौढ़-दम्पतियों के प्रगाढ़ प्रेमालाप की तरह कठिन में मधुर है। मुझे तो बस वह ऊंची पैदाइश का शरीफा दो, जो लखनऊ के नवाबों के उद्यान में रस से लबरेज लटकता रहता है, किसी नवाब-जादी ने आकर छू भर दिया और फट पड़ा। अहा, यह मृत्यु भी कैसी विचित्र है, किसी रसिका की रसना के ऊपर मरकर रह जाना।"

'आंखिर मिलन' नामक कविता लीजिये—

आंखिर मिलन ओ जे—आखिर मिलन।
लोके ना बुझिलो किछु लोके ना जानिलो किछु
दम्पतिर हलो तबु शत आलापन
हलो मन-जानाजानि हलो मन टानटानि
आशाय चिकन हासि मनेर रोदन
विजयार कोलाकुलि आंधारे श्यामार बुलि
प्रेमेर विरह-क्षेते चन्दन लेपन
ओई आंखिर मिलन।

—यह तो आंखों का मिलना है आंखों का मिलना, न लोगों ने कुछ जाना, न लोगों ने कुछ कहा, फिर भी पति और पत्नी में सैकड़ों बातें हो गईं। एक ने दूसरे के मन को जान लिया, एक ने दूसरे को खींच लिया, आशा की चिकनी हँसी हो गई, या अभिमान का रोदन हुआ। दशहरे का मिलना हो गया, अंधेरे में जैसे श्यामा बोल गई, प्रेम और विरह के घाव पर चंदन का लेप हो गया। बात यह है, यह आंखों का मिलना था।"

कवि अक्षयकुमार बड़ाल

अब हम अक्षयकुमार बड़ाल की 'आह्वान' नामक एक कविता का अनुवाद देकर इस दौर को समाप्त करते हैं। इस कविता में प्रकृति के साथ कवि का कितना निकट संबंध है, फिर उस संबंध को किस प्रकार दार्शनिकता में अनुवाद

किया गया। आधुनिक कविता केवल उपमा, उत्प्रेक्षा की अनवरत घनघटा नहीं हैं। यदि उसमें दार्शनिकता नहीं है, जीवन की सैकड़ों दुर्दांत पहेलियों पर एक झलक रोशनी नहीं है, जीवन का स्पंदन नहीं है तो वह कविता ही नहीं है। कविता बड़ी है, इसलिए हम केवल उसका अनुवाद ही पाठकों के सामने प्रस्तुत करेंगे—

"देखो प्रिया, इस तरु-लता-पुष्प से भरी हुई तथा गिरि-नदी-सागर से समन्वित पृथ्वी को, यह नम्र देह से तथा मुक्त प्राण से आकाश की ओर ताक रही है, न इसमें कोई लज्जा है, न कोई छलना ही। फिर देखो उस महाकाश को, जो मेघों की राशि के साथ रोशनी तथा अंधकार लेकर पृथ्वी के हृदय पर पड़ा है, न उसे घृणा है, न अहंकार। ऊपर तो महाशून्य है और पैरों के नीचे भूमि है, बीच में तुम और मैं हूं। नेह है, भूख भी है, हृदय है और हम सुधा की तलाश कर रहे हैं। होना तो मृत्यु है, लेकिन हम अमरता की चाह करते हैं। दुःख है, किंतु उससे बचत का उपाय भ्रांति है; सुख है किंतु उसमें श्रांति आ जाती है; त्याग है तो संग्रह भी है। जीवन क्या है, आंधी में सागर की तरह आमरण उठना-गिरना। मैं पूछता हूं क्या तुम इसको निभा सकोगी? मेरे हाथों में हाथ रखकर क्या तुम मुझे समझ रही हो? क्या तुम मेरे मन-प्राण सबकी थाह पा रही हो। यह न तो मिट्टी ही है, न शून्य ही है; पाप भी नहीं है, पुण्य भी नहीं है, यह तो आत्मा से आत्मा को अनुभव करना है।

"क्या तुम समझ रही हो कि इसमें कितना आनंद है? जन्म-मृत्यु, स्वर्ग-मर्त्य के द्वारा मैं तुम्हारा किस प्रकार आह्वान करता हूं। चित्र में, शिल्प में, गान में, मैं तुम्हारा ही ध्यान करता रहता हूं। देखती नहीं हो, हरेक पाषाण पर तुम्हारी रेखा है, तुम्हारे प्रणय का लेखा है, मरणशील जड़ में तुम्हारी अमर महिमा है।

"प्रेम का सुधापात्र लेकर आओ मेरी देवी, आओ मेरी दासी, आओ मेरी सखी।"

: १५ :

रवीन्द्र-काव्य

कवीन्द्र रवीद्रनाथ बंगला साहित्य के एक व्यक्तित्व नहीं, बल्कि एक युग हैं। वह अपनी प्रतिभा की विपुलता, विविधता तथा भास्वरता के द्वारा एक शताब्दी की दो-तिहाई से बंगला साहित्य के आकाश में जाज्वल्यमान रहे। उनकी प्रचण्ड दीप्ति के सामने पहले के साहित्यिक तथा कविगण टिमटिमाते-बुझते मालूम होते हैं, समसामयिकगणों की तो हालत जुगनुओं की तरह हो रही है। कभी मालूम होता है, इस अनंत आकाश में केवल रवीन्द्रनाथ ही हैं, कभी मालूम होता है साथ में वे भी हैं। कवीन्द्र रवीन्द्र केवल बंगला के कवि ही नहीं, नाटककार, उपन्यासकार, दार्शनिक, चित्रकार, समालोचक, राष्ट्रीय लेखक, भाषा-तात्विक, वैयाकरणिक, अभिनेता सभी हैं। कलामय अभिव्यक्ति का शायद ही कोई विभाग बचा हो जिसमें उन्होंने सफलता के साथ हाथ न लगाया हो। उनकी प्रतिभा जिस दिशा में भी गई, उसी दिशा में उसने नवीन पथ काटकर फूलों की फसल खिलाकर रख दी। कहने को कहा जाता है बिहारीलाल उनके काव्यगुरु थे। बात यह है कि इस अभागे देश में कान फूंकनेवाला न हो तो कोई सिद्ध नहीं होता। वह स्वयं भी इस बात को प्रतिभा के ही योग्य उदारता के साथ मानते हैं, किंतु सच बात तो यह है कि एक छत्ते में कहां-कहां का शहद आकर एक सामंजस्यपूर्ण मिठास में परिणत हो गया है, यह मधुमक्खी स्वयं भी नहीं कह सकती।

फिर कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ का काम केवल दूसरे फूलों से शहद लाकर सामंजस्यपूर्ण रूप से एक छत्ते में इकट्ठा कर देना ही नहीं था, बंगला-काव्य-साहित्य में यदि इस कार्य को किसी बड़े कवि ने किया है तो वह माइकेल हैं, न कि रवीन्द्रनाथ। माइकेल ने लिखा है, "मैं ऐसा मधुचक्र (मधुमक्खी का छत्ता) बनाऊंगा, जिसपर बंगवासी गौरव करेंगे।" उन्होंने सचमुच एक छत्ता बनाया। स्मरण रहे इस काव्य-मधुचक्र का निर्माण कोई मामूली काम न था। अंग्रेज़ कवि मिल्टन ने भी ऐसा ही किया था। पेरेडाइज लौस्ट (Paradise Lost)

मिल्टन की सबसे बड़ी तथा सुंदर साहित्यिक कृति है। १७२७ में प्रसिद्ध फ्रेंच समालोचक वालटेयर ने ही पहले-पहल बतलाया कि जिओवानी बेतिस्सा एन्द्रीनी (Giovanni Battista Andreini) के 'एदोमो' (Adomo) नामक पौराणिक नाटक को (१८३८-३९) देखकर ही मिल्टन ने पेरेडाइज लौस्ट (Paradise Lost) महाकाव्य की परिकल्पना की। विलियम लौडर (William Lauder) नामक एक लेखक ने तो खुल्लमखुल्ला 'इन्क्वायरी इन टू दी ओरिजन आफ पेरेडाइज लौस्ट (Inquiry Into the Origin of Paradise Lost) में मिल्टन को चोरी का दोषी बतलाकर सनसनी पैदा कर दी। एक उच्च कवि जूस्ट वान डन वोन्डल (Joost Van Den Vondel) की एक रचना 'ल्यूसीफर' (Lucifer) से भी इस मिल्टनीय महाकाव्य का संबंध बतलाया गया। यह तो केवल दो-एक बातें हुईं, इसी प्रकार इस महाकाव्य के संबंध में सैकड़ों बातें खोजनेवालों ने खोजीं। फिर भी अंग्रेजी साहित्य में मिल्टन एक महाकवि ही माने गये, क्योंकि उन्होंने अगर कहीं से कुछ लिया तो उसको इतना परिवर्तित कर दिया कि उसकी आत्मा तक बदल गई। यह साहित्य का एक बहुत ही टेढ़ा प्रश्न है कि दूसरों के भाव कहांतक अपनाये जा सकते हैं। इसपर स्वयं मिल्टन का ही मत सुन लिया जाय। उन्होंने लिखा है—

"Such kind of borrowing as this if it be not bettered by the borrower, among good authors is accounted plagiary. It is not hard for any man who hath a Bible in his hands to borrow good words and holy sayings in abundance, but to make them his own work of grace only from above."

—इस प्रकार का भाव-ग्रहण, जिसमें ग्रहण के बाद भाव सुन्दरतर नहीं हो जाते, अच्छे साहित्यिकों की दृष्टि में चोरी कहलाती है। किसी भी व्यक्ति के लिए यह आसान है कि हाथ में बाइबल लेकर सुभाषित या पवित्र कहावतें अधिक-से-अधिक ले डाले, किन्तु उनको अपनी बना लेना केवल ईश्वर-कृपा से ही सम्भव है।

भावग्रहण करके उसे पचाना और सम्पूर्ण रूप से उसे अपना रक्त बनाकर उसे अपनी धमनियों तथा नसों में प्रवाहित कर देना सशक्तता सूचित करता है, न कि किसी प्रकार की कमजोरी। केवल साहित्यकार ही नहीं, वैज्ञानिकों ने भी अपने पूर्ववर्तियों से इसी प्रकार ग्रहण किया है।

माइकेल के सामने मिल्टन से कहीं व्यापक तथा विविध साहित्य खुले हुए थे। संस्कृत-साहित्य का काव्यभाग किसी भी समृद्ध भाषा से पीछे नहीं था, माइकेल के सामने वह सब साहित्य सुलभ था, जो मिल्टन के सामने था, इसके अलावा संस्कृत का विराट् काव्य-साहित्य भी था। याद रहे, गेटे संस्कृत की शकुंतला पर सबसे ज्यादा मुग्ध हुए थे, यद्यपि उनके सामने पूरा विश्व-साहित्य था।

रवीन्द्रनाथ माइकेल नहीं थे, फिर रवीन्द्रनाथ को यदि कहा जाय कि वह प्राच्य और पाश्चात्य साहित्य के समन्वयकर्ता हैं तो यह भी गलती होगी। यह बात ज़रूर है कि प्राच्य और पाश्चात्य में जो कुछ भी उत्कृष्ट है वह रवीन्द्रनाथ में आकर एकत्र हुआ, किन्तु प्राच्य-पाश्चात्य का यह मिलन बहुत-से और व्यक्तियों में हुआ, किन्तु वह रवीन्द्रनाथ तो क्या, नीम-रवीन्द्रनाथ तक न हो पाये। बंगला-साहित्य में ही बंकिमचन्द्र को ही लीजिये, बंकिमचन्द्र बहुत बड़े साहित्यिक थे। रवीन्द्रनाथ के पहले बंगला-साहित्य के नेता, पुरोधा, ऋत्विक वही थे। उनकी प्रतिभा से ही बंगला साहित्य को आभिजात्य की मर्यादा प्राप्त हुई थी, किन्तु फिर भी वह रवीन्द्रनाथ नहीं थे। रवीन्द्रनाथ केवल बंगला-साहित्य के ही एक युग के प्रवर्तक तथा पुरोधा हैं, यह बात नहीं, विश्व-साहित्य में उनका दान एक अभिनव प्रकार का है। हमारे हिन्दी-साहित्य में रवीन्द्रनाथ के प्रभाव का परिमाण कम नहीं है। ऐसे ही सभी भारतीय साहित्य में एक नये युग का प्रवर्तन रवीन्द्रनाथ से हुआ। केवल यही नहीं, यूरोपीय साहित्य में रवीन्द्रनाथ का प्रभाव बहुत-से कवियों में स्पष्ट है, इसको बहुत-से यूरोपीय समालोचकों ने भी माना है।

इस स्थान पर हम विशेषकर कवि रवीन्द्रनाथ से ही सम्बन्ध रखते हैं, किन्तु यह पहले ही बतलाया गया है कि वह एक युगांतरकारी गद्यकार भी हैं। मज़े की बात यह है कि यूरोप में रवीन्द्रनाथ की ख्याति मुख्यतः एक रहस्यवादी कवि के रूप में है, किन्तु उनकी अधिकांश कविताएं और कुछ भी हों, रहस्यवादी नहीं हैं। 'कथा ओ काहिनी', 'बलाका' आदि उनकी अनेक सर्वोत्कृष्ट रचनाओं का रहस्यवाद से कोई सम्बन्ध नहीं। वे रचनाएं तो मध्याह्न-सूर्य की तरह स्पष्ट हैं। उनमें कोई रहस्य नहीं। गद्य में तो रवीन्द्रनाथ शायद ही कहीं रहस्यवादी के रूप में आते हैं। 'अचलायतन', 'गोरा', 'घरे बाइरे' किसीकी भी न

तो बनावट और न उद्देश्य ही रहस्यवादी है। बल्कि जिस ज़माने में ये कृतियां पहले प्रकाशित की गईं, उस समय कुछ लोगों ने यही शिकायत की कि इनमें प्रचार-कार्य बहुत ज्यादा है। समग्र रवीन्द्रनाथ को विश्लेषण करने पर देखा जायगा कि सब बातें कहने के बाद नेति-नेति कहते-कहते वह कलाकार भर रह जाते हैं।

"रवीन्द्रनाथ की काव्य-प्रतिभा मुख्यतः गीतधर्मी है। यह बंगला काव्य-प्रतिभा की विशेषता बताई गई है, किन्तु उसके मूल में कल्पना की जो शैली है, वह भारतीय साहित्य तथा काव्य-पन्था के अनुरूप न होने पर भी भारतीय साधना के आदर्श से अनुप्राणित है। रवीन्द्रनाथ की तरह विशुद्ध भारतीय मानस-प्रकृति बंकिमचंद्र की भी नहीं है, बल्कि उस दृष्टि से देखा जाय तो बंकिमचंद्र भारत से कहीं बढ़कर यूरोप के मानसपुत्र हैं। रवीन्द्र-काव्यों में जो बात दिखाई पड़ती है उसमें भारतीय तत्वचिन्ता की प्रेरणा का एक बड़ा भाग है। भारतीय भाव-साधना की जो विशेषता रही है वह यह है कि उसने हमेशा समस्त जगत् को एक रस-चेतना में अपने अंदर कर लिया है, वह हमेशा भाव को लेकर तृप्त रही है। रूप की अरूप साधना ही इस प्रतिभा की विशेषता थी।...रूप में भाव को प्रत्यक्ष करना या रूप की भाषा में उसे प्रकाश करना कवि का काम हो सकता है, यह इस भावुकता-सर्वस्व जाति ने कभी सोचा भी नहीं था।"[१]

ऊपर की विश्लेषण-पद्धति को यदि हम सच मानें तो कवित्व की दो मुख्य धाराएं होती हैं, एक रूप की भाव-साधना, दूसरे भाव की रूप-साधना। मैं समझता हूं, मोहितलाल ने ऐसा लिखकर कविता के साथ अन्याय किया है, क्योंकि भाव और रूप के अलावा भी कवि का मन एक तीसरी चीज़ है, जिसको हम भूल नहीं सकते। श्रेणी-विभाग के खब्त में हमें यह नहीं भूल जाना चाहिए कि प्रत्येक कवि का हृदय भिन्न होता है। हां, हम चाहें तो कवि-हृदयों को भी श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं, किन्तु फिर भी एक-एक कवि स्वयं ही एक-एक श्रेणी है। मैं पहले ही लिख चुका हूं कि 'कथा ओ काहिनी', 'बलाका', 'गीतांजलि' में हम रवीन्द्र की कवि-प्रतिभा का विभिन्न रूप देखते हैं। हां, हम

१ आधुनिक बंगला-साहित्य, पृष्ठ १७१

चाहें तो इन सब विशेष कवि-प्रतिभा को एक श्रेणी में ले जा सकते हैं, किन्तु उस हालत में हमारी श्रेणी बहुत व्यापक श्रेणी होगी। शायद हमें कवि कहकर ही संतोष करना पड़े। रवीन्द्रनाथ की एक बहुत ही प्रसिद्ध कविता 'उर्वशी' हैं, किंतु इस कविता में विशुद्ध कविता ही है। रवीन्द्रनाथ को अंग्रेज़ी 'गीतांजलि' पर नोबुल पुरस्कार मिला, इसीपर वह रहस्यवादी कहलाये, किंतु मैं इस बात को गंभीरता के साथ चुनौती देता हूं कि वह केवल सौन्दर्यवादी कवि हैं। रवीन्द्रनाथ के गीतों का अक्सर झुकाव इसी ओर है, किंतु गीतों को छोड़ दिया जाय तो भी उनकी काव्य-रचना विराट् है। रवीन्द्रनाथ ने अपनी रहस्यवादी रचनाओं को ही विश्व-साहित्य के दरबार में पहले-पहल अंग्रेज़ी अनुवाद में पेश किया, यह कोई आकस्मिक बात नहीं थी। मालूम होता है कि वह जानते थे कि यह एक नई धारा है, जिसकी यूरोप के विद्वानों में कद्र होगी, इसलिए उन्होंने खास करके इसी चीज़ को विश्व के सामने प्रस्तुत किया। किन्तु इससे यह निचोड़, निकालना कि रवीन्द्रनाथ रहस्यवादी ही हैं, गलत है। इसके अलावा रवीन्द्र ने रहस्यवाद का जो रूप पेश किया है, वह बिल्कुल नवीन है और कला के जगत् में वह उतना ही नया है, जितना विज्ञान-जगत् में रेडियम है।

फिर रवीन्द्रनाथ जहां रहस्यवादी हैं वहां भी वह निरे रहस्यवादी इस अर्थ में नहीं हैं कि रूप से भाव में चले जाकर रह जाते हैं। इस माने में तो बिहारीलाल उनसे अधिक रहस्यवादी जान पड़ेंगे, क्योंकि वह रूप से भाव में गये और वहीं जाकर बैठ रहे। इसके विपरीत हम रवीन्द्रनाथ को 'भाव से रूप में तथा रूप से भाव में अनवरत आवागमन' करते देखते हैं। रवीन्द्रनाथ के रहस्यवाद की यही विशेषता मालूम देती है। रवीन्द्रनाथ की यह भाव-साधना ऐसी है कि उसमें भारतीय अध्यात्मवाद को एक नवीन भोगवाद को समर्थन देने के लिए विवश किया गया है। रवीन्द्र-साहित्य में मनुष्य-जीवन को एक महिमा प्राप्त हुई, जो प्राचीन साहित्य में कहीं नहीं थी। हमारे प्राचीन साहित्य में देवताओं के ज़रिये से मानव को देखने की प्रथा थी, स्वर्ग के देवताओं की नर-लीला ही एक शब्द में सारे प्राचीन साहित्य का विषय है, किन्तु रवीन्द्रनाथ के साहित्य में हम मनुष्य के माध्यम से देवता को देखते हैं।

रवीन्द्र-प्रतिभा की एक वाक्य में परिभाषा करने की चेष्टा करते हुए कवि मोहितलाल मजुमदार ने लिखा है, "रवीन्द्रनाथ की कल्पना-शक्ति के मूल में

अंतर और बाहर, भाव और वस्तु, विचार और अनुभूति की एक सामंजस्यमूलक गीतिप्रवणता है। इसीसे उनके मन की मुक्ति है। इस मुक्ति के आनंद में उनकी कल्पना सभी विरोध तथा सभी संस्कारों को पार कर एक ऐसी रसभूति में अधिष्ठान करती है, जहां जीवन का सब असामंजस्य तथा वास्तविकता की सब विषमताएं कवि के प्राण में भावेक-परिणाम रागिणी में समाहित होती हैं'।" मुझे फिर कहना पड़ा, नेति। रवीन्द्रनाथ एक नाम होने पर भी इस नाम के अंदर बीस विभिन्न कवि मौजूद हैं। रवीन्द्रनाथ ने अपनी काव्य-लक्ष्मी को जो 'जगतेर माझे कतो विचित्र तुमि हे, तुमि विचित्र रूपिणी' कहकर वंदना की है, असल में यह अक्षरशः सत्य है। सचमुच कवि रवीन्द्रनाथ विचित्र हैं, और पाठकों के प्राणों में विचित्र रूपों से आते हैं। हम आगे उनके कुछ रूपों पर इस अध्याय में रोशनी डालेंगे।

बंगला भाषा को रवीन्द्र ने जो कुछ दिया है उसकी तुलना नहीं है। उनकी प्रतिभा के वरद स्पर्श से बंगला भाषा को जो संगीत और नमनीयता प्राप्त हुई, वह अतुलनीय है। बाद में बंगला को शायद और रवीन्द्रनाथ के समान प्रतिभाशाली पैदा करने का गौरव प्राप्त हो, किंतु बंगला भाषा को रवीन्द्रनाथ जिस प्रकार बदल गये, उस बदलने-बनाने का गौरव फिर किसीको नहीं मिलेगा। आज बंगला में रवीन्द्रनाथ के पैदा होने का फल यह हुआ है कि इस भाषा में वैज्ञानिक भी लिखता है तो उसकी भाषा में कविता का पुट होता है।

भाषा की दृष्टि से रवीन्द्रनाथ का प्रभाव इस प्रकार सर्वव्यापी होने पर भी, रवीन्द्र-धारा के बहुत ही कम सफल अनुयायी बंगला भाषा में पैदा हुए हैं। इसके बहुत-से कारण बताये गए हैं, किंतु मैं समझता हूं कि इसका एक प्रधान कारण यह भी है कि रवीन्द्रनाथ ने स्वयं ही अपनी शैली की सारी संभावनाओं को अपनी सुदीर्घ साहित्यिक आयु में खत्म कर डाला। दूसरा कारण यह है कि सारे रवीन्द्र-साहित्य का मूल रवीन्द्रनाथ के विपुल व्यक्तित्व में था। उसका चारों तरफ के समाज से उतना ही संबंध था जितना एक तार से झूलते हुए गमले में रोपे हुए पेड़ का जमीन के साथ होता है। महर्षि देवेन्द्रनाथ के पुत्र रवीन्द्रनाथ में प्राच्य और पाश्चात्य की सबसे अच्छी बातें थीं। रवीन्द्रनाथ लड़कपन से ही स्कूल से फरार रहे, किंतु उन्होंने इंग्लैंड में जाकर अंग्रेज़ी का अध्ययन किया, देश में भारतीय साहित्य का अध्ययन किया। रवीन्द्रनाथ का व्यक्तितत्व ज़रूर चारों

तरफ के भारतीय समाज की ही उपज है, किंतु यदि जन-साधारण की दृष्टि से देखा जाय तो उससे उनका ऊपर बताये गए टब में कंद पौधे की तरह कोई सीधा संबंध नहीं है। हां, एक बात में रवीन्द्रनाथ का संबंध जनता से बहुत करीब है, वह यह कि उनकी सांगीतिक आत्मा बिल्कुल बंगाल की जनता की सांगीतिक आत्मा के साथ अभिन्न है। जर्मन कवि गेटे की तरह जनता के संगीत से रवीन्द्रनाथ ने अनुप्रेरणा ली है, यह एक कारण है कि रवीन्द्रनाथ के काव्य में एक मादक आकर्षण है, जिससे बचना मुश्किल है।

यह सवकुछ कह चुकने पर भी रवीन्द्रनाथ का गद्य तथा पद्य मध्यम श्रेणी का साहित्य है। कहा जाता है, हमारे देश में केवल इसी श्रेणी का साहित्य हो सकता था, क्योंकि जिसको जनता कहते हैं, उसका अस्तित्व इतना निम्नकोटि का है, करीब-करीब पाशविक है कि वह उच्च साहित्य का विषय ही नहीं हो सकता। ऐसा जो लोग कहते हैं, वे कहते हैं। जिन लोगों में न अभिसार है, न विरह की तड़प, न रिझाने की वृत्ति है, न प्रेमभिक्षा है, बस एक तरह से जबर्दस्ती काम-पिपासा शांत करना भर है, उनमें प्रेम की कविता क्या हो सकती है?

यह एक बहुत ही टेढ़ा प्रश्न है। मौलिक कारणों पर बिना गये इनपर कुछ फैसला नहीं हो सकता, फिर भी साहित्यिक ढंग पर ही मैं एक बात कहना चाहता हूं। वह यह कि कवीन्द्र ने ताजमहल पर एक सुन्दर कविता लिखी है। इसमें इस ऐतिहासिक इमारत को एक विरही के प्रेम-अर्घ्य के रूप में न मालूम कितने तरीकों से देखा, समझा और दिखलाया गया है। यदि कोई मान भी ले कि यह एक सम्राट् का अपनी प्रियतमा के प्रति प्रेम-अर्घ्य है, या उनके आंसुओं का प्रस्तरी-भूत रूप है, इत्यादि, फिर भी यह कैसे कहा जा सकता है कि एक गरीब स्त्री जो अपने स्वर्गगत पति की मिट्टी की कब्र पर जाकर रोज़ शाम को बिलानागा एक छोटा-सा दीया जला आती है, और जाकर चार आंसू रो आती है, जिनसे सींचे जाकर एक गुच्छा दूब हरी बनी रहती है। उसका वह छोटा-सा मिट्टी का दीया, जो शायद उस स्त्री के पीठ फेरते ही बुझ जायगा, या वह घास का गुच्छा किस भांति उस ताजमहल से निकृष्ट है? क्या प्रेम के राज्य में इस सिक्के का दाम उस सिक्के से कम है? क्या प्रेम के राज्य में भी रुपयों से चीज़ें छोटी-बड़ी होती हैं? इसपर यह कहा जा सकता है कि मिट्टी का दीया कला की वस्तु

नहीं, किंतु ताजमहल है। लेकिन इससे साफ हो जायगा कि ताजमहल की भावुकता-पूर्ण व्याख्या (जो कवीन्द्र की 'ताजमहल' नामक कविता का विषय है) से ताज-महल के बड़प्पन का कोई संबंध नहीं है। इस व्याख्या का खोखलापन इस बात से और भी जाहिर हो जाता है कि मुमताज के अलावा शाहजहां की और भी प्रियाएं थीं। इस बात के मालूम होने के बाद ताजमहलप्रेम के स्मारक के बजाय शायद गर्व की मीनार जंचे।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे शायद रवीन्द्रनाथ के साथ कुछ अन्याय हो, इसलिए यह कह देना आवश्यक है कि दुनिया के ६० फीसदी साहित्य के विरुद्ध यह समालोचना की जा सकती है। जमाना बदल रहा है। भविष्य के कवियों की वीणाएं दूसरे सुर में बजेंगी, इसमें सन्देह नहीं; किंतु बंगला-साहित्य में कुछ भी हो, उसके आदर्शों में कितनी ही क्रांति हो, फिर भी भाषा के रूप में रवीन्द्रनाथ बंगला भाषा को जो सौंदर्य, नमनीयता और रूप दे गये, उसके ऋण से उऋण कम-से-कम कोई बंगला-भाषी नहीं हो सकता।

इस अध्याय में हम पहले भी कह चुके है और फिर भी कहते हैं कि रवीन्द्रनाथ केवल एक सौन्दर्यद्रष्टा कलाकार थे, जैसा कि यूरोप में लोग कम समझते हैं और भारतवर्ष मे भी इस सम्बन्ध में भ्रम है। मैंने यह भी बतलाया है कि इस भ्रम की उत्पत्ति अंग्रेज़ी गीतांजलि से हुई। अंग्रेजी गीतांजलि को पढ़कर लोगों ने कहा रवीन्द्रनाथ केवल अध्यात्मवादी कवि है, लोग इस भूल को बार-बार दुहराते गये, बस यह एक सत्य मान लिया गया। रवीन्द्रनाथ ने जो और हजारों कविताएं लिखी थीं, जिनसे अध्यात्मवाद से कोई संबंध नहीं था, जो केवल सौंदर्य की एक-एक लड़ियां थीं, उनको लोग भूल गये और रवीन्द्रनाथ एक अर्द्धधार्मिक कवि समझ लिये गए! मुझे आश्चर्य है कि रवीन्द्र-काव्य के बंगाली समालोचकों तक ने इस अजीब बात को कम लोगों में आविष्कार किया और वे इस भूल के प्रवाह में बहते चले गये। अंग्रेज़ी में ही golden boat (सोनार तरी) नाम से रवीन्द्रनाथ की कविताओं का एक अनुवाद निकला। इसमें शायद दो-चार कवितायें आध्यात्मिक ढंग की हों, किंतु फिर भी रवीन्द्रनाथ पूरे नहीं समझे गए। दो-एक उदाहरण लिये जायं, पाठक स्वयं ही अपनी राय कायम कर लें।

एक नक्षत्र की आत्महत्या

एक नक्षत्र आकाश से पागल की तरह समुद्र के काले पानी में कूद पड़ा। करोड़ों दूसरे नक्षत्रों ने इस आत्महत्या को भीत तथा चकित होकर देखा। देखा कि किस भांति प्रकाश का एक परमाणु, जो उनके साथ था, बात-की-बात में अंधकार में विलुप्त हो गया। यह जाकर समुद्र के चट्टानी गर्भ तक पहुंच गया, जहां सैकड़ों नक्षत्र जिनका प्रकाश लुप्त हो चुका, बिखरे पड़े हुए थे।

आखिर इस आत्महत्या की मर्म-कथा क्या थी ? केवल मैं ही जानता हूं कि उसकी इस रौनक़ में कौन-सी बात उसे खाये जा रही थी।

यह अनवरत हँसी की यंत्रणा थी। एक जलता हुआ कोयले का टुकड़ा अपने कालेपन को छिपाने के लिए हंसता है। जितना ही वह हँसता है उतना ही वह जलता है। उसी तरह यह नक्षत्र हँसा और उज्ज्वल हो गया। फिर जब जलने की यंत्रणा उससे और बर्दाश्त नहीं हुई तो वह प्रकाश के जगत् से समुद्र के ठंडे काले पानी में कूद पड़ा।

करोड़ों उज्ज्वल नक्षत्रों ने इस पतित नक्षत्र की ओर देखा और वह घृणा से हँस पड़े।

उन लोगों ने कहा—"भला हमें क्या हानि है ! आकाश तो उसी तरह उज्ज्वल बना है।"

यदि कोई तुला हुआ ही हो तो इस कविता का भी रहस्यवादी अर्थ हो सकता है, किन्तु जैसी यह है वह बिना व्याख्या के ही हमारी समझ में आती है। इसकी किसी आध्यात्मिक या अतीन्द्रिय व्याख्या की जरूरत नहीं।

एक दूसरी कविता लीजिये—

प्रेतात्मा

जब वृद्ध मरने लगा तो सारा देश रोया-पीटा, सिर धुना और कहा—"प्रभो, तुम्हारे बगर हमारा काम कैसे चलेगा ?"

वृद्ध मन-ही-मन यह सोचकर परेशान हो रहा था कि यदि मैं मर गया तो इनको राहेरास्त पर कौन कायम रखेगा। हाय !

देवताओं ने जाति की प्रार्थना सुन ली और यह हुक्म दिया कि वृद्ध मरने पर प्रेत होकर देश में रहेगा। मनुष्य तो मर जाते हैं, किन्तु प्रेत अमर होते हैं।

जाति की जान-में-जान आई।

बात यह है कि जब दृष्टि भविष्य पर निबद्ध होती है तभी परेशानी होती है, जब आंखें केवल भूतकाल पर रहती हैं तो परेशानियां खत्म हो जाती हैं। फिर तो सारी जिम्मेदारियों को भूतकाल के सिर मढ़ दिया जाता है और भूतकाल एक प्रेत के रूप में जीता है।

फिर भी कुछ लोगों ने हर बात पर भूतकाल से अनुप्रेरणा लेने की बजाय सोचना चाहा। प्रेत ने उनके कान पकड़कर खींचे, बात यह है कि उसकी कंकाल-लय उंगलियों से कोई बच तो सकता ही नहीं था।

आंखों को तथा मन को बन्द कर सारा देश प्रेत के नेतृत्व में चलने लगा। बूढ़ों तथा विद्वानों ने कहा—इसी प्रकार चलना ही पृथ्वी की पुरानी परिपाटी के अनुसार है। जीवन की उषा के समय दृष्टिशक्तिहीन सरीसृप भी इसी तरह चलते थे, पेड़-पौधे अब भी ऐसा करते हैं, इसीमें उनकी बुद्धिमानी है।

प्रेताविष्ट जाति ने बड़े-बूढ़ों की यह बात जो सुनी तो उनमें आनंद की एक लहर दौड़ गई कि उनके बाप-दादे ऐसा ही करते थे और आदिम पृथ्वी के आदिम सरीसृप तक ऐसा ही करते थे।

देश के चारों ओर कारागार की तरह एक चहारदीवारी बन गई। हां, ये दीवारें अदृश्य थीं, इसलिए कोई भी जानता नहीं था कि इनको कैसे पार किया जाता है या इनसे कैसे भागा जा सकता है।

कैदी जाति प्रेत के नेतृत्व में गुलामी करती रही। कड़े परिश्रम का नतीजा यह हुआ कि विद्रोह का जोश जाता रहा। वह डरपोक हो गई। फल-स्वरूप इस प्रेत के राष्ट्र में चाहे स्वास्थ्य, अन्न, वस्त्र की कमी हो, किन्तु शांति की कमी नहीं रही।

ऐसे ही दिन बीतते गये। जाति सन्तोष में रही, मानो वह प्रेत के गाड़े हुए इस्पात के खूंटे में बंधा हुआ एक भेड़ का बच्चा हो।

किंतु दिक्कतें पैदा होने लगीं। पृथ्वी की किसी और जाति पर प्रेत का राज्य नहीं था, इसलिए दूसरे देशों में उन्नति का रथ जल्दी-जल्दी आगे ही बढ़ता गया। ऐसी जातियां थीं, जिन्होंने प्रेत की प्यास बुझाने के लिए एक भी बूंद रक्त नहीं दिया था, इसलिए उनकी शक्ति का क्षय होने के कारण वे बिल्कुल जिन्दा थीं।

बूढ़ों ने भूतकाल की अपनी पोथियों तथा पत्राओं को देखा और एक स्वर से कहा—दोष न तो हमारा है, न तो हमारे शासक प्रेत का ही है, बल्कि समस्याओं का है। भला इन समस्याओं का क्या काम था कि ये होतीं ?

जाति ने जब बूढ़ों की इन बारीक बातों को सुना तो उसे तसल्ली हुई।

किंतु दोष चाहे किसी का हो, समस्याओं की वृद्धि को कौन रोक सकता था ? कुछ दिनों के अंदर समुद्र पर से टिड्डियों की तरह विदेशियों के झुंड आने लगे और फसलों से भरे खेतों को चाट डालने लगे। ये विदेशी व्यावहारिक बुद्धि के व्यक्ति थे, इनमें काम करने की शक्ति थी तथा दूरदर्शिता थी। प्रेताविष्ट होने के कारण जाति ने या तो इनकी अवज्ञा की थी, या इनसे दूर रही, जिससे कि कहीं धर्म-नाश न हो जाय। तब बूढ़ों ने फिर किताब खोली, और कहा—वे ही सौभाग्यवान हैं, जो दुनिया के रगड़ों-झगड़ों से दूर रहते हैं।

लोगों ने सुना, और उनके हृदय की तसल्ली हुई।

किंतु फिर भी वह प्रश्न जो लोगों को परेशान कर रहा था, हल नहीं हुआ—"फिर इन उजड़े हुए खेतों से लगान कैसे दिया जाय ?"

कब्रिस्तान से हहराती हुई एक हवा आई, जैसे किसी प्रेत की हँसी हो। उसने कहा—अपनी इज्जत से दो, हृदय के रक्त से दो, अपनी आत्मा से दो।

जब प्रश्न आते हैं तो उनकी झड़ी-सी लग जाती है।

इसलिए एक दूसरा प्रश्न उठा—क्या प्रेत का राज्य चिरस्थायी है ?

दादे और दादियां धक से रह गईं, कहा—हमने ऐसा प्रश्न कभी सात जन्म में भी नहीं सुना था। भला यह भी कभी हो सकता है कि यह राज्य न रहे।

प्रेत के कर्मचारियों ने व्यंग की हँसी हँसकर कहा—कोशिश करके देखो कि कभी ये अदृश्य दीवारें टूट भी सकती हैं।

सच बात तो यह है कि भूतकाल न तो मरा ही था न जिंदा था, बल्कि यह प्रेत रूप में था। कभी न तो इसने देश में कोई उथल-पुथल ही मचाई, और न वह देश को छोड़कर चला ही गया।

एक या दो आदमी, जो दिन में मुंह इसलिए नहीं खोलते थे कि कहीं राजद्रोह न हो जाय, उन्होंने रात को प्रेत से कहा—प्रभो, क्या अभी तुम्हारा जाने का समय नहीं हुआ ?

प्रेत हँसा और बोला—अरे सरल, हम कैसे तुझे छोड़कर जा सकते

हैं, जब तू हमसे जाने को नहीं कहता ?

उन लोगों ने कहा—प्रभो, हममें से बहुतेरे तुम्हारे जाने के नाम से घबड़ाते हैं ।

प्रेत फिर हँसा ।—"तुम्हारे भय के स्तम्भ पर ही मैं राज्य कर रहा हूं ।" उसने कहा ।

यदि कोई कहे कि इस कविता में कुछ अस्पष्टता है तो हम नहीं मानेंगे । यह तो बूढ़े धर्मपीड़ित भारतवर्ष का एक चित्र है, इसका उद्देश्य स्पष्ट है । कवि के हृदय में भारतीयों के रूढ़िवाद से चोट लगी है, यह कविता उसीका स्फुरण मात्र है । फिर भी इस कविता में उद्देश्य ही सबकुछ नहीं है । जिस कलामय तरीके से यह कहा गया है, वही उसे कविता बनाता है । हम इसी प्रकार की कवीन्द्र की सैकड़ों कविता दिखा सकते हैं, जहां केवल सौन्दर्यान्वेषण है ।

रवीन्द्रनाथ की बहुत-सी कविताएं ऐसी हैं, जिन्हें हम काव्यमय कहानी कह सकते हैं, इनमें किसी एक भाव को लेकर अत्यंत कलामय चुभती हुई भाषा में एक कहानी कही गई है, पाठक के हृदय में एक टीस या आनंद की लहर छोड़ जाती है । यह कहा जा सकता है कि इन कहानीमूलक कविताओं में कवि अपनी कला के शिखर पर नहीं पहुंचे, किंतु यह गलत है । आश्चर्य तो बल्कि इस बात से होता है कि दैनिक छोटी घटनाओं को लेकर कवि कैसे कला के उत्तुंग सौध का निर्माण करते हैं ।

डाक्तर जा वले बलुक नाको
राखो राखो खुले राखो
शिओरेर ओई जानला दुटो, गाये लागुक हावा ।
ओषुध ? आमार फुरिये गेछे ओषुध खावा ।
तितो कड़ा कतो ओषुध खेलाम ए जीवने,
दिने दिने क्षणे क्षणे ।
बेंचे थाका, सेई जेनो एक रोग;
कतो रकम कविराजी, कतोई मुष्टियोग
इत्यादि[1]

---

[1] पूरी कविता न देकर आगे हम केवल उसका अनुवाद दे रहे हैं । पाठक इस कविता के छंद को देखें ।

"डाक्टर चाहे जो कुछ भी कहे, रहने दो, सिरहाने के उन दो जंगलों को खुले रहने दो, ज़रा बदन में हवा लगने दो। दवा ? दवा पीना मेरा खत्म हो चुका है। जिन्दगी में मैंने कितनी ही दवा खाई, रोज खाई, क्षण-क्षण खाई। वैद्य की दवा खाई, फुटकर दवा खाई, किंतु क्या फायदा ? ज़रा इधर-से-उधर हुआ नहीं कि फिर वही। यह अच्छा यह खराब, जो जो कुछ कहता था सबकी बातों को मानती हुई, घूंघट काढ़कर मैंने तुम्हारे घर में बाईस साल काट दिये। तभी तो घर में और घर के बाहर सभी मुझे लक्ष्मी कहते हैं, अच्छी बतलाते हैं। इस घर में मैं नौ साल की एक लड़की आई थी, फिर इस परिवार की गली से होकर तमाम लोगों की इच्छा का बोझ उठाती हुई मैं अपने रास्ते के अंत में पहुंची।

"सुख-दुःख की बात ज़रा सोचूं, इतना समय नहीं था। यह जीवन अच्छा है, या बुरा, या और कुछ, कुछ आगा-पीछा सोचूं इतना मौका कब मिला ! एक इकरस क्लांत धुन में काम का चक्का घूमता रहा। बाईस वर्ष तक मैं एक ही चक्के में बंधी रही, घुमनी में अंधी बनी हुई। मुझे मालूम ही नहीं हुआ मैं क्या हूं। मुझे यह भी मालूम नहीं हुआ कि यह पृथ्वी भी कोई चीज़ है और उसका कोई अर्थ भी है। मैंने यह कभी नही सुना कि मनुष्य की कोई वाणी है, जो महाकाल की वीणा में झंकृत हो उठती है। मैं सिर्फ यही जानती थी कि पकाने के बाद खाना है, और खाने के बाद पकाना है। बाईस साल तक मैं एक ही चक्के में बंधी रही। अब मालूम होता है कि वह चक्का बंद होनेवाला है। तो होने न दो। अब दवा की क्या ज़रूरत ?

"बाईस वसंत आये थे। गंध से विह्वल दक्षिण वायु ने जल और स्थल में एक उत्तेजना पैदा की थी। उसने चिल्लाकर कहा होगा—खोलो, किवाड़ें खोलो—किंतु मैं भला कब जान पाती थी कि वह कब आई और कब सिर टकराकर चली गई ! शायद वह धीरे-से आकर मेरे मन को छू देती थी, शायद उससे घर के काम में कुछ गलती हो जाती थी; हृदय में जैसे कोई पिछले जन्म की व्यथा छू जाती थी, अकारण ही जैसे किसीके पैर की आहट सुनकर विह्वल फागुन में मन उचट जाता था। तुम शाम को दफ्तर से लौटते थे, फिर कहीं मुहल्ले में शतरंज खेलने जाते थे। जाने दो उन बातों को ! हाय, आज यह सब क्षणिक व्याकुलता की बातें क्यों याद आ रही हैं ?

'आज पहली बार बाईस वर्ष के बाद वसंत इस घर में आया है। जंगले से आकाश की ओर ताकते हुए मन आनंद से सिहर-सिहर उठता है। आज मुझे मालूम हो रहा है कि मैं नारी हूं, महीयसी हूं, मेरे ही सुर में निद्रा-हीन चंद्रमा ने अपनी ज्योत्स्ना रूपी वीणा को बांधा है। यदि मैं न होती तो सांध्य नक्षत्र का निकलना व्यर्थ होता, तथा उद्यान में फूलों का खिलना अर्थहीन होता।

'बाईस वर्ष तक मैं तुम्हारे इस घर में कैदिन थीं। फिर भी उसके लिए दुःख नहीं था। बात यह है कि सुधबुधहीनता में दिन बीत जाते थे, यदि जीती तो और भी बीत जाते। जहांपर जो भी हमारे रिश्तेदार थे वे मुझे लक्ष्मी कहते थे, मानों इस जीवन में ऐसी कहलाना ही मेरी परम सार्थकता थी। घर के कोने में रहना, और वहीं से लोगों की इस किस्म की तारीफें सुनना। आज न मालूम कब मेरे बंधन की वह रस्सी कट गई। आज वहांपर, जहां जन्म तथा मृत्यु एक तटहीन मुहाने में जाकर मिल गये हैं, मैं देखती हूं कि रसोईखाने की दीवारें ज़रा से बुलबुले की तरह विलीन होगई हैं। इतने दिनों में, मालूम होता है, पहले-पहल विवाह की वंशी विश्व-आकाश में बज रही है। तुच्छ बाईस साल आज घर के कोने के धूल में पड़े रहे। मृत्यु की सुहागरात में आज जो मुझे बुला रहा है वह मेरे द्वार में प्रार्थी बनकर आया है, वह केवल मेरा प्रभु नहीं है, इसलिए वह मेरी अवहेलना नहीं करेगा। मुझमें जो सुधा-रस है, वह आज उसे मांग रहा है। ग्रहताराओं की सभा में वह निर्निमेष नेत्रों से मेरे मुंह की ओर टकटकी लगाये खड़ा है। यह भुवन मधुर है, हे मेरे अनंत भिखारी, मेरे मरण, व्यर्थ बाईस वर्षों के काल के पारावार से मुझे पार कर दो।"[1]

इस कविता में कुछ भी अस्पष्टता नहीं है। इसमें नारी, विशेषकर भारतीय नारी की अत्यंत मर्मभेदी कहानी है। नारी की दयनीय पराधीन दशा का इसमें चित्र है। सच है, इसमें नारी को आधुनिका की तरह विद्रोह की तलवार झनझनाते नहीं सुनते, परंतु उसे एक भाग्यवादी (Fatalist) की तरह अपने अंत का आवाहन करती हुई पाते हैं, किंतु क्या यही हमारे यहां की नारी का सच्चा चित्र नहीं है? 'उर्वशी' तथा अन्य ऐसी कविताओं में कवीन्द्र ने नारी को कल्पना के रंगीन चश्मों से देखा है, किंतु बंगाली मध्यवित्त श्रेणी की नारी का जो चित्र 'मुक्ति'

---

[1] पहली बार यह कविता सबुजपत्र (वैशाख १३२५) में छपी।

कविता में दिखलाया गया है वह वास्तविक है ।

रवीन्द्र-समालोचना में उनकी 'उर्वशी' की आलोचना एक मुख्य वस्तु है। कवि मोहितलाल ने इस कविता की विस्तृत आलोचना की है, हम पहले उसे उद्धृत करेंगे, फिर अपना वक्तव्य देंगे । वह लिखते हैं—

"रवीन्द्रनाथ की 'उर्वशी' नामक कविता भाषा, छंद तथाचित्र-रचना के इंद्र-जाल की दृष्टि से कितनी भी मनोहर हो, उसमें कवि अपनी मूल कल्पना से हट गया है । उर्वशी का जो चित्र इसमें प्रकट हुआ है, उसमें सौंदर्य देवी को कामना की देवी के रूप में देखने में किसीको आपत्ति नहीं हो सकती, बल्कि उसका यही रूप यहांपर रंग लाता है, किंतु बात तो यह है कि कवि ने उर्वशी को आदर्श सौंदर्य की आदि प्रतिमा रूप में कल्पना कर ऐसे चित्र तथा विशेषणों का प्रयोग किया है कि उनसे विरोध की उत्पत्ति हुई है । कवि ने इस कविता में कामना को जो रूप दिया है, वह पाठक को मुग्ध करता है, किंतु इस कामना से ही उन्होंने सौंदर्य का जो आदर्श खड़ा किया है, जरा सोचकर देखा जाय तो वह इस कल्पना का विरोधी मालूम होगा । इसलिए सौंदर्यतत्व की दृष्टि से मैं इस कविता का ज़रा विश्लेषण कर दिखाना चाहता हूं ।

कवि कहते हैं—

आदिम वसंतप्राते उठेछिलो मंथितो सागरे,
डान हाते सुधापात्र विषभांड लये वाम करे ।

'उर्वशी आदिम वसंत के प्रातःकाल में सागर को मंथित कर उठी थी, उसके दाहिने हाथ में अमृत का पात्र और बायें हाथ में विषभांड था ।' अच्छी बात है, किंतु जहांपर विषभांड की भावना थी वहां विशुद्ध सौंदर्यानुभूति की बात नहीं आ सकती, काम या प्रेम की ही बात बड़ी हो उठती है । सुन्दर वस्तु से हमेशा आनंद ही मिलता है (A thing of beauty is a joy for ever), विशुद्ध सौंदर्य-प्रेम जहां है, वहां विष भी अमृत हो उठता है । उर्वशी का रूप जिस कामना को उद्रेक करता है, उसमें

मुनिगण ध्यान भाङि देय पदे तपस्यार फल
तोमार कटाक्षधाते त्रिभुवन यौवन चंचल
अकस्मात पुरुषेर वक्षोमाझे चित्त आत्महारा,
नाचे रक्त धारा ।

—मुनियों का ध्यान भंग हो जाता है, वह अपनी तपस्या का फल तुम्हारे चरणों में सौंपते हैं, तुम्हारे कटाक्ष के आघात से त्रिभुवन यौवन-चंचल हो जाता है, अकस्मात पुरुष के हृदय में चित्त अपनेको खो बैठता है, उसके रक्त की धारा नाच उठती है।

कवि किस सौंदर्य की वंदना कर रहे हैं ? कवि ने जिसका उद्‌बोधन—

नहो माता, नहो कन्या नहो वधू

—'माता नहीं हो, कन्या नहीं हो, वधू नहीं हो'—कहकर किया है, वह, चाहे उषा के उदय की तरह 'अनवगुंठिता' और 'अकुंठिता' हो, किंतु उसके कटाक्ष के आघात से यदि त्रिभुवन यौवन-चंचल हो उठे तो भी माता, कन्या या वधू न होना उसके लिए गौरव की वस्तु नहीं हो सकती, वह मोहिनी है तथा समाधि के लिए विघ्नस्वरूपा स्वर्गवेश्या मात्र है, इसलिए उसका सर्वांग निखिल के नयन के आघात से रोयेगा, यह अधिकतर सत्य है। इस प्रकार सौंदर्य का उदय केवल आदियुग में ही नहीं, हर युग में मानवचित्त में होता रहता है। यह सौंदर्य स्वर्ग का उदयाचल नहीं है, मर्त्य का उदयाचल और अस्ताचल उभयाचलवासी है। इसके लिए जो क्रन्दन है वह आदियुग से आजतक निरवच्छिन्न रूप से होता जा रहा है। इस कविता में परस्पर-विरोधी कल्पना का और भी प्रमाण यह है कि जिसे कवि ने बालिका के रूप में अंधेरे सागर के नीचे अकलंक हास्यमुख में प्रवाल के पलंग में सोते देखा है और जिसको यौवन में अपने कटाक्ष के आघात से त्रिभुवन को यौवन-चंचल करते देखा है उसीको कवि पूछते हैं—

वृन्तहीन पुष्पसम आपनाते आपनि विकशि
कबे तुमि फुटिले उर्वशी ?

—वृन्तहीन पुष्प की तरह अपने में आप विकसित होकर, हे उर्वशी, तू कब खिली ?

प्रश्न तो यह है रवीन्द्रनाथ की तरह कवि की कल्पना में ऐसी गड़बड़ी क्यों आ गई ? इसका एकमात्र उत्तर यह है कि यूरोपीय काव्य के अत्यधिक प्रभाव के कारण कवि अपने कवि-धर्म को भूल गया है, इसलिए कल्पना में सामंजस्य भी जाता रहा। यह उर्वशी न तो लक्ष्मी है, न वेद-पुराण की उर्वशी ही है, न रवीन्द्रनाथ के अपने मन की ही कोई सृष्टि है। यह उर्वशी काम-जननी एफ्रोडाइट का नया यूरोपीय रोमांटिक संस्करण है—प्रेम की माता (Mother of love) साथ ही

संघर्ष की माता (Mother of strife)। यूरोपीय काव्य में सौंदर्य के साथ कामना तथा वेदना की अपूर्व उत्कंठा ने मिलकर साहित्य को मनुष्य-जीवन की वास्तविकतम अनुभूति की अभिव्यक्ति में परिणत किया है, जिसके मर्मस्थल से 'हमारे सबसे मधुर गीत वे हैं, जो सबसे वेदनापूर्ण भावना को व्यक्त करते हैं' (Our sweetest songs are those that tell of saddest thought) कवि की यह कातर उक्ति निकलती है। रवीन्द्रनाथ यहां सौंदर्य के उसी आदर्श से आकृष्ट हैं, किंतु इस प्रकार होने पर भी रूप की यह पार्थिवता तथा इंद्रिय-सर्वस्वता को उन्होंने तहेदिल से ग्रहण नहीं किया है। इसलिए उनकी उर्वशी 'नन्दनवासिनी' तथा सुरसभा की नर्तकी होने पर भी वह उसे

'स्वर्गेर उदयाचले मूर्तिमती तुमि हे उषसी'

—स्वर्ग के उदयाचल में तुम मूर्तिमती उषसी हो—यह कहकर ऋषि के ऋकमंत्र से उसे वंदना करते नहीं हिचकते। फिर उसीके नृत्य के सम्बन्ध में कहते हैं—

छंदे छंदे नाचि उठे सिंधु माझे तरंगर दल
शस्यशीर्षे शिहरिया कांपि उठे धरार अंचल

—'उसके छन्द में समुद्र में लहरें नाच उठती है तथा शस्य के सिर पर पृथ्वी का आंचल कांप उठता है।' जो ऐसी कामना-लेशहीन प्राकृतिक सौंदर्य की महिमा में महिमामयी है, जिसके 'स्तनहार से दिगन्त में नक्षत्र बिखर पड़ते हैं', उन्हींके 'कटाक्ष के आघात से त्रिभुवन यौवन-चंचल हो जाता है' और 'पुरुष के वक्ष में चित्त आत्महारा होता है और रक्त की धारा नाचने लगती है।' उर्वशी की कल्पना में यह परस्पर विरोधी-भाव ने कविता में रस के पूर्ण परिपाक होने में वाधा पहुंचाई है। कामना की जो दिशा इसमें स्पष्ट हुई है उसे पूर्ण रूप से प्रकट नहीं किया गया, उर्वशी के बायें हाथ में कवि ने जो विषभांड दिया है उसमें अनन्त-यौवना उर्वशी का वह कटाक्ष का आघात और

जगतेर अश्रुधारे धौत तव तनुर तनिमा,
त्रिलोकेर हृदि-रक्ते आंका तबो चरण-शोणिमा

—'जगत की अश्रुधारा से तुम्हारे तनु की तनिमा धुली है और तुम्हारे पगचिह्न त्रिलोक के हृदय के रक्त से अंकित हैं' तथा 'मुक्तवेणी विवसना' आदि कहने से कवि के मन में जिस रस की उत्पत्ति होती है, वही इस कविता का प्रधान

रस है। वह कामना और कामना की विषजर्जर क्रन्दन-उत्तेजना करने में ही यहां मधुरतम गीत की सार्थकता है। जिस अंग्रेजी कविता का प्रभाव इस कविता पर है, मुझे ऐसा विश्वास है कि वह स्विनबर्न की 'एटलान्टा इन केलीडन' है। उसके सुविख्यात 'कोरस' (Chorus) से कुछ उद्धृत करने पर ही पाठक समझ जायेंगे कि मैंने इस प्रभाव की बात को क्यों कहा है, और यह भी समझेंगे कि स्विनबर्न की इस कविता में रस कितना गाढ़ और उज्ज्वल हो गया है, इसके विपरीत रवीन्द्रनाथ की कल्पना (चूंकि वह रक्तमांस का विक्षोभ तथा काम की प्रधानता स्वीकार नहीं करती) इंद्रियार्थ को अतींद्रिय भावविलास में कितनी ग्रस्त होकर रह गई है।

इस कविता को मैंने संक्षेप में उद्धृत किया। रवीन्द्रनाथ की 'उर्वशी' पर इस कविता का प्रभाव है या नहीं, यह प्रश्न इस क्षेत्र में अप्रासंगिक है। रवीन्द्रनाथ ने अनुकरण और स्वीयकरण (अपना कर लेने) में जो भेद बताया है वह इस समय याद दिलाना चाहता हूं। रवीन्द्रनाथ की कल्पना में स्विनबर्न की ऐफ्रोडाइट ने बहुत-कुछ आवेग पहुंचाया है इसका यथेष्ट प्रमाण उद्धृत अंशों से मिलेगा। स्विनबर्न की ऐफ्रोडाइट का सौंदर्य जैसे—

An evil blossom...blood red and bitter of fruit...And the seed of it laughter and tears (अशुभ यह पुष्प...रक्त-सा लोहित, फल कड़वा, उसका बीज हास्य और अश्रु) ठीक इसी प्रकार रवीन्द्रनाथ की उर्वशी भी—

...उठेछिलो मंथितो सागरे,
डान हाते सुधापात्र, विषभांड लये वाम करे[1]

स्विनबर्न की ऐफ्रोडाट ऐसे ही

Sprung of the sea without root
Sprung without graft from the years

—समुद्र से बिना जड़ के उद्भुत महाकाल से बिना कलम के उत्पन्न उसी तरह कवीन्द्र उर्वशी को प्रश्न कर रहे हैं—

[1] सागर को मथकर दाहिने हाथ में सुधापात्र और बायें हाथ में विषभांड लेकर उठी थी।

वृंतहीन पुष्पसम आपनाते आपनि विकशि —
कबे तुमि उठिले उर्वशी ?[१]

हां, स्विनबर्न की ऐफ्रोडाइट उर्वशी की तरह नर्तकी नहीं है, फिर भी उर्वशी के नृत्य के छन्द में जैसे समुद्र की लहरें तथा शस्य शीर्ष में धरा का आंचल तरंगित हो उठता है, किंतु ऐफ्रोडाइट के सौंदर्य की व्याप्ति तथा विकास इसी तरह का है—

In the uttermost ends of the sea
The lights of thine eyelids and hair

—समुद्र के दूरतम किनारे तुम्हारे पलकों और केशों की ज्योति। यहां ऐफ्रोडाइट से उर्वशी में कवि-कल्पना अधिक स्फूर्ति पा सकी, किंतु

The lights of the bosom as fire
Between the wheel of the sun
And the flying flames of the air ?

—वक्षस्थल का प्रकाश सूर्य के रथचक्रों और वातावरण के उड़ते अंगारों के बीच मानों दमक रहा है।

तब स्तनहार हते दिगंतेर खसि पड़े तारा[२]

ने रवीन्द्र की उर्वशी के सौंदर्य को स्निग्धतर कर दिया है, वायु की जलती शिखाओं के बीच से तारे छिटक पड़ते हैं, सैकड़ों गुना सुभावसमृद्ध हुआ है, फिर—

Wilt thou turn thee not yet nor have pity
But abide with despair and desire

—क्या तू अब भी नहीं बदलेगी और दया न करेगी, बल्कि निराशा साथ ही वासना का केन्द्र बनी रहेगी और—

जगतेर अश्रु धारे धौत तवो तनुर तनिमा
त्रिलोकेर हृदि-रक्ते आंका तव चरण-शोणिमा

---

१ हे उर्वशी, तू वृंतहीन पुष्प की तरह अपने में आप विकसित होकर कब उठी ?

२ तेरे स्तनहार से दिगंत के नक्षत्र छिटक पड़ते हैं।

आदि की विचार-शैली भिन्न होने पर भी, या कहीं-कहीं जैसे

And the waves of the sea as she came
Clove, and the foam at her feet
Fawning

—और जब वह आई तो समुद्र की लहरें फट गईं और फेन उसके पैरों को दुलारने लगे।

तरंगित महासिंधु मंत्रशांत भुजंगेर मतो
पड़ेछिलो पदप्रांते, उच्छ्वसितो फणा लक्ष शत
करि अवनत।[1]

एकदम समांतराल होने पर भी, दोनों में जो प्रभेद है, उससे 'उर्वशी' कविता दुर्बल हो गई है, कल्पना की जहां समता है वहीं पाठक मुग्ध होता है। दोनों के सौंदर्य का मूल कारण कामना है। इस कामना को ही रवीन्द्रनाथ ने एक स्निग्ध अतींद्रियता से मंडित करने की चेष्टा की, किंतु वे असफल रहे, इसके विपरीत केंद्रीय भाव ही दो हिस्सों में बंट जाने के कारण रसाभास हुआ है।

सौंदर्य कल्पना की वह दिशा (जिसने मनुष्य की कामना को प्रदीप्त कर साहित्य के एक बड़े भाग को उज्ज्वल किया है) इसमें प्रकट हुई है।"

मोहितलाल की उर्वशी समालोचना को मैं उद्धृत कर चुका, किंतु और भी थोड़ा उद्धृत करने की आवश्यकता है, जिससे उनकी पूरी बात पाठकों के सामने आ जाय। वे कहते हैं—

"रवीन्द्रनाथ के काव्य में ही सौंदर्य का एक दूसरा आदर्श प्रकट है। मैं संक्षेप में उसका उल्लेख करूंगा, आलोचना जिससे बढ़ न जाय मैं उसको उद्धृत नहीं करूंगा, केवल दिशा भर बता दूंगा। 'वलाका' की 'दुइ नारी' शीर्षक कविता में रवीन्द्रनाथ ने उर्वशी और लक्ष्मी दोनों के रूप का वर्णन किया है, फिर लक्ष्मी के सौंदर्य को ही तरजीह देकर उसी पर मुग्ध हुए हैं। 'चित्रांगदा' काव्य में चित्रांगदा का स्वर्गीय रूप-लावण्य देखकर अर्जुन के चित्त में जो चमत्कार पैदा हुआ था वह यों है—

---

[1] तरंगित महासिंधु मंत्रशांत भुजंग की तरह पदप्रांत में लोट रहा था, उसने अपने लाखों उच्छ्वसित फण-फणों को अवनत कर लिया था।

केनो जानि अकस्मात
तोमारे हेरिया बुझिते पेरेछि आमि
कि आनन्दकिरणेते प्रथम प्रत्यूषे
अन्धकार महार्णवे सृष्टि-शतदल
दिग्विदिके उठेछिलो उन्मेषितो हये
एक मुहूर्तेर माझे...
...चारिदिक हते
देवेर अंगुलि जेनो देखाए दितेछे
मोरे, ओई तव आलोक आलोक माझे
कीर्तिक्लिष्ट जीवनेर पूर्ण निर्वापण।

या अन्यत्र

भाविलाम
कत युद्ध, कत हिंसा, कत आडम्बर
पुरुषेर पौरुष-गौरव, वीरत्वेर
नित्य कीर्तितृषा, शांत हये लुटाइया
पड़े भूमे, ओई पूर्ण सौंदर्येर काछे
पशुराज सिंह यथा सिंहवाहिनीर
भुवन-वांछित अरुण चरणतले।

—'न मालूम क्यों तुमको देखकर अकस्मात मैंने जाना है कि प्रथम प्रभात में से अन्धकार महासमुद्र में एक किरण से सृष्टि का शतदल दिशाओं में एक मुहूर्त में उन्मेषित हो उठा था...चारों तरफ से देवता की उंगलियों ने मानो मुझे दिखला दिया कि तुम्हारे इस अलौकिक आलोक में कीर्तिक्लिष्ट जीवन का पूर्ण निर्वापण है।....मैंने सोचा, तुम्हारे उस पूर्ण सौंदर्य के सामने कितने युद्ध, कितनी हिंसाएं, पुरुष का पौरुष-गौरव, वीरता की नित नई कीर्ति की प्यास शान्त होकर चरणों में लोटने लगती है, जैसे पशुराज सिंह सिंहवाहिनी दुर्गा के भुवन-वांछित अरुण चरणों में लोटता है।'

मोहितलाल की राय में रवीन्द्रनाथ में सौंदर्य का यह दूसरा आदर्श है, उनके अनुसार यहां केवल कामना नहीं, पुरुष का पौरुष स्तम्भित हो जाता है, जैसे जीवन्मुक्ति होती है। वह कहते हैं, "यहां किसी कर्म-प्रवृत्ति हृदय-वृत्ति का अवसर

नहीं है, हम जिसको जीवन कहते हैं, वह द्वंद्व और विक्षोभ शान्त हो जाता है, क्षुद्र चेतना जैसे एक बृहत्तर चेतना में लुप्त हो जाती है, इसीका नाम जीवनका पूर्ण निर्वापण है। इस सौंदर्य-प्रीति का नाम ही कलात्मक यतिवाद के रूप में सौंदर्यवाद ज्ञात होता है।"

मैं मोहितलाल के अपने वाक्यों तथा उदाहरणों से ही दिखलाऊंगा कि उनकी अंग्रेजी काव्यमर्मज्ञता ने उनको पथभ्रष्ट कर दिया है, और वह 'उर्वशी' को ठीक नहीं समझ पाये। मैं पहले यह देखना चाहूंगा कि क्या रवीन्द्रनाथ की उर्वशी और चित्रांगदा में कोई आदर्शगत भेद है, या उनमें उतना ही प्रभेद है, जितना दो यात्रियों में आदर्शगत या मौलिक भेद न होते हुए भी होना चाहिए। चित्रांगदा के सौंदर्य में मोहितलाल जीवन का पूर्ण निर्वापण देखते हैं, किंतु मैं तो केवल एक प्रकार के जीवन (जिसमें वीरत्व की नित नई कीर्ति की प्यास वगैरह थी) का ही निर्वापण देखता हूं, और एक दूसरे प्रकार के शायद हृदय के अधिकतर तड़पनयुक्त जीवन का सूत्रपात देखता हूं। यदि किसी नारी के रूप को देखकर अर्जुन की तरह पुरुषसिंह अपने पौरुष को भूल जाता है, अपने जीवन के अबतक के तरीकों पर लात मारकर उस सुन्दरी रूपसी के चरणों में लोटने को उद्यत हो जाता है तो इसे जीवन का पूर्ण निर्वापण कैसे कहेंगे ? मैं तो इसमें कामनामय सौंदर्य को ही देखता हूं। मोहितलाल जिसको सौंदर्यवाद या कलात्मक यतिवाद कहकर चीख उठते हैं, मैं तो उसमें अत्यंत कामनामय सौंदर्यानुभूति ही देखता हूं, किन्तु इसमें मैं मोहितलाल को दोष नहीं देता, कामना लेशहीन सौंदर्यानुभूति मनोवैज्ञानिक दृष्टि से असम्भव चीज़ है। इसलिए यदि 'उर्वशी' में रवीन्द्रनाथ कथित कल्पना से विचलित हो गये हैं तो यह प्रकट करता है कि दार्शनिकता के आवेश में कवि अपने कवि-धर्म को भूलते-भूलते भी नहीं भूलते हैं। यदि मोहितलाल की बात मान ली जाय तो यही प्रमाणित होगा कि सौभाग्य से कविवर अपने अन्तर की पुकार पर ही चलते हैं, सौंदर्य-विज्ञान की पुस्तकों पर नहीं। मोहितलाल ने स्वयं ही आगे चलकर माना है, 'इसमें (सौंदर्यवाद) वास्तविक जीवन और जगत् के प्रति उदासीनता होती है, अतएव इसमें सृष्टि का पूर्ण सत्य नहीं है, यह भी सूक्ष्मतर इंद्रियविलास या अतींद्रिय भावविलास है।'

इससे स्पष्ट है कि कविता का यह दूसरा आदर्श अवास्तविक है, इससे जीवन का कोई सम्बन्ध नहीं है। यह अच्छा ही हुआ कि कविता के इस प्राण-

हीन संगमरमर निर्मित आदर्श को न अपनाकर रवीन्द्रनाथ ने तड़पनयुक्त सजीव आदर्श को अपनाया। इसी आदर्श की प्राणरसपुष्टता के कारण ही 'उर्वशी' कविता नारी पर एक श्रेष्ठ कविता है। मोहितलाल ने यह जो कहा है, 'माता नहीं हो, कन्या नहीं हो, वधू नहीं हो' के साथ 'तुम्हारे कटाक्ष के आघात से त्रिभुवन यौवन-चंचल हो जाता है' इसका सामंजस्य नहीं है, मेरी राय में यह पूर्णतः गलत है। 'उर्वशी' कोई गणित का सवाल नहीं है, वह एक जीती-जागती, तड़पती-फड़कती चीज है, फिर वह कवि-कल्पना में कभी ऐसी, कभी वैसी मालूम होगी, इसमें आश्चर्य क्या है। जिसको हम प्यार करते हैं उस नारी के सम्बन्ध में ऐसे भाव का आना-जाना आश्चर्यजनक नहीं है। कभी तो उसके कटाक्ष पर सारी पृथ्वी घूमती हुई मालूम होती है, कभी वह इतनी दूर की वस्तु मालूम होती है कि वह न तो माता, न कन्या, न वधू मालूम होती है। क्या यह बात कोई ऐसी अनहोनी है कि समालोचक मोहितलाल को मालूम नहीं थी?

मोहितलाल ने कीट्स की प्रसिद्ध पंक्ति को लेकर यह दिखाया है कि 'दाहिने हाथ में सुधापात्र तथा बायें हाथ में विषभांड, हाथ इसमें विषभांड का उल्लेख विशुद्ध सौंदर्यानुभूति में बाधक है'। कोई भी व्यक्ति विद्वान्‌समालोचक से सहमत नहीं हो सकता। मैं तो समझता हूं कि इस विषभांड की मौजूदगी ही सुधापात्र को और भी सुधामय बना देती है, यही प्रकृति का नियम है। मृत्यु के कारण ही जीवन मधुर है, विरह के भय के कारण ही मिलन प्रिय है, इसके कितने ही उदाहरण हैं; फिर यदि स्वर्ग रूपसी चिरयौवना उर्वशी के एक हाथ के सुधापात्र को मधुरतर बनाने के लिए कवि ने दूसरे हाथ में विषभांड की कल्पना की है तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? फिर यह केवल कल्पना ही नहीं है। क्या रूप और कामना की देवी, वह चाहे जिसके लिए जो नाम रखती हो, एक हाथ में अपने प्रेमिक के लिए 'अमी' और दूसरे में 'हलाहल' नहीं रखती? एक हिन्दी कवि ने, जो शायद स्विनबर्न के परदादा के परदादा के परदादा से भी आगे थे, प्रिया के नयनों को अमृत, हलाहल और मद से भरा देखा है। मुझे डर है, विद्वान् समालोचक कीट्स की उस बात को ठीक-ठीक नहीं समझे। क्या रवीन्द्रनाथ की उर्वशी कहीं पर आनन्द की चिरंतन धारा नहीं है या आनंद एक आत्मगत चीज है, इसलिए प्रेमिक तथा पुजारी की आंखों में क्या आनन्द होगा, यह साधारण नियम से

बताया नहीं जा सकता। सिसक-सिसककर बिस्मल होकर मरने में ही यदि किसीको आनन्द मिले तो ?

उर्वशी पर एक और बात, कहकर हम खत्म करेंगे। मोहितलाल ने कहा है कि कवि ने जिसको अन्धकार सागर के नीचे प्रबाल के पलंग पर अकलंक हास्यमुख से सोते देखा है तथा यौवन में जिसके कटाक्ष से त्रिभुवन को यौवन-चंचल होते देखा है उसीको नित्यपूर्ण और स्वयंप्रकाश सौंदर्य के प्रतीक रूप में कल्पना करते हुए जो प्रश्न करते हैं 'वृंतहीन पुष्प की तरह अपने में आप विकसित होकर, हे उर्वशी, तू कब खिली ?' इससे कल्पना में गड़बड़ी आ गई है। मैं नम्रतापूर्वक कहना चाहता हूं कि समालोचक फिर गलत समझे हैं। यह याद रहे कि नित्यपूर्ण और स्वयंप्रकाश शब्द समालोचक के हैं, फिर कवि जो प्रश्न पूछते हैं कब खिली, न कि कब पैदा हुई। कवि ने उसको कली की अवस्था में देखा, फिर खिली अवस्था में देखा, किन्तु प्रश्न यह है कि वह कब खिली। मैं समझता हूं कि यह प्रासंगिक प्रश्न है। सृष्टि में इसी रहस्य को समझाने के लिए वैज्ञानिकों ने सर्पनशील विकासवाद (Emergent Evolution) आदि कितने ही सिद्धान्त बनाये हैं।

अब रहा यह कि स्विनबर्न की कविता से रवीन्द्रनाथ को कहांतक मसाला मिला, यह हमने पाठकों के सम्मुख रख दिया, किंतु जो कुछ भी पेश किया उसी-से मालूम होता है कि उन्होंने कुछ नहीं लिया। विशेषकर जहां बतलाया गया है कि

And the waves of the sea as she came

और जब वह आई तो समुद्र की लहरें इत्यादि का एकदम अनुवाद है, वहां तो हमें मालूम होता है।

···मन्त्रशान्त भुजंगेर मतो
····फणा लक्ष शत
करि अवनत,

से कवीन्द्र का कथित अनुवाद उत्कृष्ट, गहराईयुक्त इतना सुन्दर है कि कथित मूल बड़ा दुर्बल मालूम देता है।

अब हम सरसरी तौर पर रवीन्द्रकाव्य पर दो-चार बातें और कहेंगे। रवीन्द्रनाथ को लोग चाहे रहस्यवादी समझें और कहें, किंतु उन्होंने मानो साफ-साफ चंडीदासी वाणी को ही (जिससे बढ़कर कोई संक्षिप्त कविवाणी हो नहीं सकती) बार-बार कहा है—

सबार उपरे मानुष सत्य ताहार उपरे नाई

—'सबसे बढ़कर सत्य मनुष्य है, उसके ऊपर कुछ नहीं है।' बार-बार रवीन्द्रीय वीणा से यह वाणी झंकृत हुई है। रवीन्द्रनाथ की एक प्रसिद्ध कविता है, 'स्वर्ग से बिदाई'। इसमें मनुष्य ने स्वर्ग से कहा है—

थाको स्वर्ग हास्यमुखे, करो सुधापान
देवगण ? स्वर्ग तोमादेरि सुखस्थान
मोरा परवासी। मर्त्यभूमि स्वर्ग नहे
से जे मातृभूमि—ताइ तार चक्षे बहे
अश्रु जलधारा...

—'हे स्वर्ग, तुम प्रसन्न बने रहो, हे देवताओ, सुधापान करो। स्वर्ग तुम लोगों के सुख का स्थान है, हम तो यहां अपनेको प्रवासी पाते हैं। मर्त्यभूमि स्वर्ग तो नहीं है, किंतु मातृभूमि है, तभी तो उसकी आंखों में अश्रुजल की धारा बहती है।'

ऐसी स्वर्गविमुखता होते हुए भी रवीन्द्रनाथ का मनुष्य यहां लौटकर एक स्वर्गीय स्वप्न में ही विभोर रहता है, जीवन की कठिन वास्तविकताओं से उसका जैसे कोई सम्बन्ध नहीं। वह यहां भी कामना करता है 'यदि धरातल में दीनतम घर में मेरी प्रेयसी जन्म ले, किसी नदी के किनारे गांव में एक पीपल के पेड़ के नीचे, वह बालिका फिर अपने वक्ष में मेरे लिए सुधा का भंडार संचित कर रक्खेगी' इसी तरह की और बातें हैं। इसीसे रवीन्द्र-साहित्य आधुनिक होने पर भी सच्चे मानों में पूर्ण क्रांतिकारी नहीं है, फिर भी रवीन्द्रनाथ अछूतों के दुःख से विक्षुब्ध मालूम होते हैं, वे राष्ट्र से कहते हैं, छुआछूत दूर करो, 'नहीं तो अपमान में उनको सबके समान होना पड़ेगा, उन्हें दूर रखकर तुमने मनुष्य के हृदय के देवता की अवहेलना की है।' 'लकड़हारा जहां लकड़ी चीरता है, किसान जहां हल जोतता है' वहांपर रवीन्द्रनाथ के भगवान् भी हैं; किंतु इतनी सहानुभूति का ऐश्वर्य होने पर भी कवीन्द्र कभी भी इन दुःखों की तह में, जो एकदेशीय तथा वर्गीय समाज-व्यवस्था है, नहीं पहुंच पाते।

कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ के संपादन में 'बंगला-काव्य परिचय' नामक एक पुस्तक प्रकाशित हुई है। इसमें कवीन्द्र ने अपनी १७ कविताएं दी हैं, किंतु इनमें से एक भी कविता किसी वाद को पुष्ट नहीं करती। इसी से यह निष्कर्ष तो नहीं

निकलना चाहिए कि वे अपनी उन कविताओं से जो, रहस्यवादी (Mystic) हैं, अपनी दूसरी कविताओं को अच्छी तरह समझते हैं, किंतु इससे यह अर्थ तो निकाला ही जा सकता है कि अपनी कविताओं में कवित्व की दृष्टि से वह अपनी आध्यत्मिक कविताओं को विशेष महत्व देने के लिए तैयार नहीं हैं। सौभाग्य से बंगला-साहित्य में 'गीतांजलि' ही रवीन्द्रनाथ का श्रेष्ठ दान नहीं है। मोहितलाल ने लिखा है और मैं इससे सहमत हूं कि रवीन्द्रनाथ की विशेषता यह है कि उन्होंने प्राच्य भाव-साधना और प्रतीच्य रूप-साधना का सुंदर समन्वय किया है। इसी कारण प्राच्य के रहस्यवाद ने उनके हाथों में एक नया ही रूप धारण किया है। 'गीतांजलि' की कविताएं रवीन्द्रनाथ की प्रतिभा का उच्चतम स्फुरण नहीं है।

कुछ भी हो, यूरोप में गीतांजलि की कविताओं की ही धूम रही। रवीन्द्र-प्रतिभा में चूंकि प्राच्य भाव-परायणता का और रूप-व्याकुलता का समन्वय है, इसलिए दोनों प्रकार के पाठकों को उनकी कविता में अभिनवत्व मिलता है।

मैं पहले ही कह चुका हूं कि रवीन्द्रनाथ को किसी वाद के विशेषण में लाकर यह कहने की चेष्टा करना कि इसी वाद के वादी हैं, गलत होगा। पाश्चात्य में टामस मान की तरह व्यक्ति हैं, जो कई बार काया पलट कर दूसरे ही कलाकार हो चुके हैं, उन्होंने जैसे एक ही जीवन में कई जन्म पाये, किंतु रवीन्द्रनाथ इसके विपरीत एक दूसरे ही तरह के व्यक्ति हैं। वह एक साथ कई जीवन जीते हैं। यदि सन् और तारीख से देखा जाय तो इस बात की सत्यता मालूम होगी। एक ही समय में वह कई तरह की कविता लिखते हैं। कहीं तो वह बिल्कुल फ्राइड-वादी हैं, कहीं रहस्यवादी, कहीं भावुक हैं, कहीं विचार का नूपुर छमछम बज रहा है। यह एक न्यारी ही दुनिया है।

हिंदी-जगत में रवीन्द्रनाथ को लोग मुख्यत: अंग्रेजी के जरिये से जानते हैं, इसलिए वह हिंदी-जगत में केवल विशेष ढंग के कवि माने जाते हैं। बात यह है कि लोग अंग्रेज़ी 'गीतांजलि' को ही पढ़ते हैं, जिसके कारण उन्हें नोबुल पुरस्कार मिला। दूसरी बहुत-सी पुस्तकों को वह पढ़ने का कष्ट नहीं उठाते। यदि वह 'गीतांजलि' के अतिरिक्त 'सोनार तरी', 'वलाका' आदि पढ़ें तो उनकी यह धारणा जाती रहे।

अंत में हम रवीन्द्रनाथ की 'एबार फिराओ मोरे' (अब मुझे लौटाओ)

कविता का अनुवाद देकर इस दौर को समाप्त करते हैं। यह कविता एक नई ही वाणी को लेकर शंखनाद कर रही है, जिसमें वह कहीं-कहीं आधुनिकों से आधुनिक मालूम होते हैं। दो-तिहाई शताब्दी तक साहित्यिक क्षितिज में बराबर रहने पर भी रवीन्द्रनाथ अपनी नवीनता को कायम रख सके, इसका कारण यह है कि उनका ग्रहणशील मन हमेशा नये युग को अपनाता रहा। किसी साहित्यकार के लिए सबसे मुश्किल होता है भाषा-रीति में परिवर्तन, किंतु वह इसमें भी पिछड़े नहीं रहे। उन्होंने बुढ़ापे में बंगला की साधु भाषा को छोड़कर आम बोलचाल की भाषा अपनाई। केवल यही नहीं कि उन्होंने उसको इस्तेमाल किया, बल्कि उन्होंने उसका पक्ष लेकर बड़े जोरों की वकालत की। कई समालोचकों को इस बात पर बड़ा आश्चर्य है, क्योंकि उनकी पहले की सारी रचना साधु भाषा में है और 'रवीन्द्रनाथ का रवीन्द्रनाथत्व उसी भाषा में है।' पहले ही मैं कह चुका हूं कि रवीन्द्रनाथ मुख्यतः भद्रलोक श्रेणी के कवि हैं, संभव है जब आम लोगों का साहित्य हो तो उसमें रवीन्द्रनाथ का स्थान यह न रहे, किंतु बंगला भाषा को जो सौष्ठव तथा नमनीयता उन्होंने दी है, वह रवीन्द्र-विरोधी कवि तथा साहित्यिक के लिए भी अनुकरणीय होगी। बंगला भाषा का कोई भी लेखक इस ऋण से उऋण नहीं हो सकता। 'एबार फिराओ मोरे' कविता का भावार्थ इस प्रकार है—

"इस संसार में जब सभी हर समय सैकड़ों काम में लगे हुए हैं, उस समय हे कवि, तूने दोपहर की धूप में एक पेड़ के नीचे बैठकर दूर जंगलों की गंध बहाकर लानेवाली हवा में केवल बांसुरी ही बजाई। अरे, आज तो तू उठ, कहीं आग जो लगी है। सुन, किसीका शंख विश्ववासी को जगाने के लिए बज रहा है। कहीं से रोने की आवाज़ से सारा आकाश गूंज उठा है। किसी अंधकार कारागार में बंधन से टूटती कोई अनाथिनी सहायता मांग रही है। दुर्बल की छाती पर चढ़कर मोटा-ताज़ा अपमान लाखों मुंह से रक्त पी रहा है। स्वार्थ से उद्यत अविचार वेदना का परिहास कर रहा है।

"वे, जो लाखों मौन होकर सिर नीचा किये हुए खड़े हैं, उनके कुम्हलाये हुए चेहरे पर सैकड़ों सदियों की वेदना की करुण कहानी है। जितना ही उनके सिर पर बोझ बढ़ता जाता है, वे उसको उठाकर चलते रहते हैं जबतक जान रहती है, फिर मर जाने पर उसको अपने बच्चों के लिए छोड़ जाते हैं, न तो भाग्य को इसके लिए कोसते हैं, न ईश्वर की ही निंदा करते हैं, यहांतक कि

मनुष्य को भी दोष नहीं देते, अभिमान नहीं जानते, केवल बस दो दाने अन्न खोटकर किसी तरह कष्टक्लिष्ट प्राण कायम रख सकते हैं। जब उस अन्न को भी कोई छीनना चाहता है तथा गर्व से अंध-निष्ठुर अत्याचार से उसके हृदय पर चोट पहुंचाता है तो वह यह भी नहीं जानते कि किसके द्वार पर न्याय-विचार की आशा से खड़े हों, दरिद्र के भगवान् को बस एक बार पुकारकर वह चुपचाप मर जाता है।

"इन सब म्लान तथा मूढ़ मुखों में भाषा देनी पड़ेगी, इन श्रांत शुष्क भग्नहृदयों में आशा प्रतिध्वनित करनी पड़ेगी, पुकारकर इन्हें कहना पड़ेगा—

"'अरे एक बार सिर उठाकर खड़े तो हो जाओ। फिर देखोगे कि जिनके डर से तुम डर रहे हो, वह तुमसे भी डरपोक हैं। जभी तुम जाग उठोगे, वह भाग खड़ा हो जायगा। जभी तुम उसके सामने खड़े हो गये तभी वह रास्ते के कुत्ते की तरह भय तथा संकोच से विलीन हो जायगा। ईश्वर उसपर विमुख हैं, उसका कोई सहायक नहीं, बस मुंह से वह बड़ी-बड़ी बातें छांटता है। वह मात्र, वह मन-ही-मन अपनी हीनता को जानता है।'

"कवि, यदि तुममें प्राण है तो उठो, उसे साथ लेकर चलो और उसका आज दान करो। इस संसार में बड़े ही दुःख हैं, बड़ी व्यथाएं हैं, बड़ी ग़रीबी है। हाय, यह तो बड़ा शून्य है, बड़ा छोटा है, बड़ा अंधकार है। अन्न चाहिए, प्राण चाहिए, रोशनी चाहिए, खुली हवा चाहिए, शक्ति चाहिए, स्वास्थ्य चाहिए, आनंद से उज्ज्वल आयु चाहिए और साहस से विस्तृत हृदय चाहिए। हे कवि, इस दीनता में एक बार स्वर्ग से विश्वास तो ले जाओ।

"हे मेरी रंगीन रंगमयी कल्पने, अब मुझे लौटाकर फिर संसार के किनारे ले चलो, अब मुझे, हवा में, लहरों-लहरों में तथा मोहिनी माया में न भटकाओ। निर्जन विशाद घने अंतरवाली निकुंज-छाया में मुझे बैठाकर न रक्खो। दिन जाता है, संध्या हो आती है, उदास हवा में वन सांस लेकर रो पड़ता है। ऐसे समय में मैं निकल पड़ा जनता के बीच। जब मैं जगत् में आया था तो न मालूम किस माता ने मुझे यह बच्चों वाली बसुरी दी थी। उसीको बजाते-बजाते मैं अपने सुर में ही इतना मुग्ध हो गया कि मैं संसार-सीमा के बाहर चला-सा गया। दिन चले गये, रातें चली गईं। उस बांसुरी से मैंने सुर जरूर सीखा है, किंत यदि मैं उस सर की सहायता से इस गीतशन्य अवसादपूर को

ध्वनित कर सकूं, यदि मृत्युंजयी आशा के संगीत से कर्महीन जीवन के एक कोने को यदि एक मुहूर्त के लिए ही तरंगित कर सकूं, दुःख यदि उसकी भाषा पा ले, अंतर की गहरी प्यास यदि स्वर्ग के अमृत के लिए जग उठे तभी मेरा गान धन्य होगा, तभी सैकड़ों असंतोषों को महागीत में निर्माण प्राप्त होगा।

"कहो आज क्या गाओगे, क्या सुनाओगे? कहो अपना दुःख झूठा है, अपना छोटा सुख भी, जो व्यक्तिस्वार्थमग्न होकर बड़े जगत् से दूर है, उसने कभी जीना नहीं सीखा। विश्वजीवन की महान् लहरों पर नाचते-नाचते हमें निर्भर होकर दौड़ना पड़ेगा, सत्य को ध्रुवतारा बनाकर तथा मृत्यु से न डरकर। दो दिन के आंसू सिर पर गिरेंगे, उसीमें हम उसके अभिसार में चलेंगे जिसको मैंने जन्म-जन्म के लिए जीवनसर्वस्व-धन सौंप दिया। वह कौन है? नहीं मालूम, फिर भी मालूम है, उसीके लिए रात के अंधेरे में यात्री मनुष्य युग से युगांतर की ओर आंधी तथा वज्रपात में जा रहा है, अपने अंदर के दीये को सावधानी से पकड़कर सिर्फ मालूम है। जिसने कानों से उसकी पुकार सुनी है वह निडर होकर संकट के भंवर में कूद पड़ा है, उसने दुनिया पर लात मार दी है तथा अत्याचारों को सीना खोलकर ग्रहण किया है। मृत्यु के गर्जन को उसने संगीत की तरह सुना है। अग्नि ने उसको जलाया है, शूल ने उसको छेदा है, कुठार ने उसे छिन्न किया है, उसने अपनी सब प्रिय वस्तुओं को ईंधन बनाकर बिना कातरता के ही होमाग्नि जलाई है। हृत्पिंड रूपी रक्तपद्म को उसने छिन्न कर चढ़ा दिया है और अंतिम बार सभक्ति पूजा की है और फिर भी मरकर अपनेको कृतार्थ समझा है।

"मैंने सुना है, उसीके लिए राजकुमार ने फटी कथड़ी पहन ली था और विषय-विरक्त रास्ते का फकीर हो गया था। मैंने सुना है, उसी लक्ष्य के लिए महाप्राण पल-पल में जला है, उसके चरणों में कुशांकुर घुस गये हैं, उसपर मूढ़ विज्ञपुरुषों ने अविश्वास किया है, प्रियजनों ने उसकी हँसी उड़ाई है, फिर भी उसने नीरव करुण नेत्रों से सभीको क्षमा कर दिया है, उसके अंदर वह अनुपम सुंदर लक्ष्य मौजूद था। उसीके लिए मानी ने मान तज दिया, धनी ने धन सौंपा, वीर ने प्राण दे दिये हैं।"...

मैंने विशेषकर इस कविता को इसलिए उद्धृत किया कि इसमें कवि की कई तरह की कविताओं के नमूने एक साथ मिल जाते हैं। इसमें एक देखने की बात

है कि कवि अपने को संबोधित कर एक क्रांतिकारी की तरह शुरू करते हैं, किंतु एक भाववादी कवि के नाते वह जल्दी ही निर्दिष्ट चीज़ों को छोड़कर अनिर्दिष्ट या सूक्ष्म में कूद पड़ते हैं। हमें नई कविता के दौर में भी रवीन्द्रनाथ पर बात करने का मौका मिलेगा।

: १६ :

कथाकार रवीन्द्रनाथ

रवीन्द्रनाथ कवि रूप में श्रेष्ठतर थे या कथाकार के रूप में, इस प्रश्न का हां या ना में उत्तर देने की कोई विशेष आवश्यकता नहीं मालूम होती। इतना ही कहना यथेष्ट है कि व्याकरण और भाषा-तत्व से लेकर जिस विषय पर भी उन्होंने लिखा, उसमें वे सर्वोपरि हो गये।

उनकी गद्य-रचना पहले-पहल 'ज्ञानांकुर ओ प्रतिबिम्ब' नामक पत्रिका में प्रकाशित हुई थी। उस समय उनकी उम्र पंद्रह वर्ष की थी। इस निबंध में वे समालोचक के रूप में सामने आये। उन्होंने ताजे प्रकाशित तीन काव्यों की आलोचना की थी। इसके बाद ६६ वर्ष तक वे बराबर अविरल गति से लिखते रहे। बंगला भाषा को उन्होंने क्या दान दिया, इसका अनुमान इस उद्धरण से हो सकता है—"रवीन्द्रनाथ ने बंगला भाषा की अभिव्यक्ति की सामर्थ्य इतनी अधिक बढ़ा दी कि यह कहा जा सकता है कि किसी एक लेखक ने अकेले किसी भाषा की अभिव्यक्ति, सामर्थ्य इतनी नहीं बढ़ाई। रवीन्द्र गद्य-रीति का यह मौलिक गुण है कि वे केवल बुद्धि को उद्‌बुद्ध करके निवृत्त नहीं होते, बल्कि मन के गहन अन्तःपुर में प्रविष्ट होकर चित्त की गंभीरतम अनुभूति को जाग्रत कर देते हैं। इसी कारण रवीन्द्रनाथ की गद्य शैली में वाक्यालंकार के बीच में उत्प्रेक्षा, उपमा, रूपक, श्लेष और विरोधाभास का प्रयोग सबसे अधिक है। इनमें भी उत्प्रेक्षा की ही प्रधानता है। रवीन्द्रनाथ के गद्य में आदि से अंत तक उत्प्रेक्षा-प्रधान उक्तियों का बोलबाला है।"[1]

[1] बंगला साहित्ये गद्य, पृष्ठ १५७

रवीन्द्रनाथ की गद्य रचनाओं को तीन युग में बांटा गया है—(१) ज्ञानांकुर भारती युग याने पंद्रह साल से बाईस साल की उम्र तक, (२) हितवादी-साधना-भारती-बंगदर्शन-प्रवासी युग याने बाईस साल से इक्यावन की उम्र तक, (३) सबुज पत्र युग याने इसके बाद का युग। उनकी गद्य-शैली बराबर विकसित होती रही। पहला युग तो साधना का युग था, दूसरा युग अष्टसिद्धियों और नवनिधियों का युग कहा जा सकता है और तीसरे युग में उन्होंने युग की ढाल को देखते हुए एकदम से बोलचाल की भाषा अपनाली। उनकी प्रथम गद्य-रचना में ही उनके अध्ययन की विशालता, राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय इतिहास की जानकारी, साथ ही काव्य और संगीत के संबंध में गहरा ज्ञान सूचित होता है।

उस लेख से कुछ वाक्य लीजिये—

"इसी गीतिकाव्य से फ्रांसीसी राज्य-क्रांति को प्रोत्साहन मिला, गीति-काव्य के ही कारण चैतन्य के धर्म ने बंगाल में जड़ पकड़ ली और इसी गीति-काव्य के कारण बंगालियों के निर्जीव हृदय में जीवन का कुछ-कुछ संचार हो रहा है।

"शेक्सपियर दूसरों के हृदय का चित्रण करके दृश्य काव्य में असाधारण हो गये हैं, पर अपने हृदय के चित्रण में असमर्थ होने के कारण वे गीति-काव्य में बहुत बड़े नहीं हो सके। इसी प्रकार कविवर बायरन अपने हृदय के चित्रण में असाधारण हैं, पर दूसरों के हृदय के चित्रण में अक्षम हैं। गीति-काव्य अकृत्रिम है, क्योंकि वह हमारे अपने हृदय-कानन का पुष्प है और महाकाव्य शिल्प है, क्योंकि वह दूसरे के हृदय का अनुकरण मात्र है। इसी कारण हम लोग वाल्मीकि, व्यास, होमर, वर्जिल आदि प्राचीन कवियों की तरह महाकाव्य नहीं लिख सकेंगे, क्योंकि प्राचीनकाल में लोग सभ्यता के आच्छादन में हृदय को गुप्त रखना नहीं जानते थे, इस कारण कवियों के लिए यह संभव था कि दूसरे के हृदयों को प्रत्यक्ष कर उन अनावृत हृदयों को सहज में ही चित्रित कर सकें।"

यह रचना पंद्रह वर्ष के बालक रवीन्द्र की है। इसके बाद कुछ दिनों में 'भारती' पत्रिका प्रकाशित हुई, और उसमें वे माइकेल के 'मेघनाद-वध' के आलोचक के रूप में सामने आये। 'भारती' की तृतीय संख्या से रवीन्द्रनाथ का 'करुणा' नाम से एक उपन्यास चलने लगा। इसके बाद 'भारती' के तीसरे साल में धारावाहिक रूप से यूरोप प्रवासी के पत्र प्रकाशित हुए, जो १८८१ में पुस्तकाकार निकले।

अब हम कालानुक्रम से रवीन्द्र-रचना का परिचय देने की बजाय पहले उनके उपन्यासों का फिर उनके नाटकों का संक्षिप्त परिचय देंगे। कहानियों पर भी प्रकाश डालेंगे। इस प्रकार जो कुछ कहा जायगा, उसमें हम कालानुक्रम का ख्याल रखेंगे।

'बहु ठाकुरानीर हाट' और 'राजर्षि' नामक उपन्यास उनके बीस से चौबीस वर्ष के बीच की रचनाएं हैं। अभी बंकिमचंद बंगला साहित्य के गगन में बहुत ज़ोर से चमक रहे थे, ये दोनों उपन्यास उन्हींकी छत्रछाया में लिखे गये। जिस समय उन्होंने ये उपन्यास लिखे, उस समय बहिर्जगत के साथ उनका परिचय बहुत कम था, क्योंकि उनका लालन-पालन ही इस प्रकार से हुआ था कि वे सबसे दूर अलग-थलग पले। अपनी जीवन-स्मृति में उन्होंने इस बात पर लिखा है, "न तो तब विद्या थी, और न जीवन की अभिज्ञता थी, इसलिए गद्य-पद्य जो कुछ भी लिखा, उसमें असली वस्तु से भावुकता कहीं अधिक थी। इसी कारण इन दोनों उपन्यासों के कथानक उलझनों से वर्जित, सरल, अजटिल हैं। कहीपर अंतर्द्वंद्व का झगड़ा नहीं है। ये दोनों पुस्तकें ऐतिहासिक उपन्यास के आदर्श पर रचित हैं। श्री निहाररंजन राय कहते हैं—"दोनों उपन्यासों में विचित्रता और कोलाहल है जरूर, पर रंगभूमि की छाया की तरह अस्पष्ट है। इनमें इतिहास का अर्थहीन आश्रय लिया गया है, उपन्यास की घटनाओं और चरित्रों में इतिहास के जीवन और उद्दीपना के संचारित होने का कहीं कोई प्रमाण नहीं है।"

इन दो उपन्यासों में फिर भी बाद के कवीन्द्र रवीन्द्र की विशेषता आ जाती है। कोलाहल की पृष्ठभूमि में शांति और आनंद के अस्तित्व से उपन्यासकार परिचित हैं और वह उसकी टोह में रहते हैं। एक बात और। यद्यपि उन्होंने ऐतिहासिक उपन्यास लिखा, फिर भी इसमें कई पात्र ऐसे आते हैं, जो उनके इर्द-गिर्द मौजूद थे और उन्होंने उन्हें इतिहास की पोशाक पहनाकर पाठकों के सामने प्रस्तुत भर कर दिया।

इसके बाद उन्होंने 'चोखेर बालि' (आंख की किरकिरी) और 'नौका डूबी' उपन्यास लिखे। 'आंख की किरकिरी' के संबंध में यहांतक कहा गया है कि "यदि किसी साहित्य में एक उपन्यास ने उपन्यास के प्रचलित धर्म और प्रकृति

को बदलकर एकदम नये युग की सूचना करके नई बुनियाद डाली हो तो वह यही पुस्तक है।"

स्मरण रहे कि पंद्रह साल बाद यह उपन्यास लिखा गया था। डा० निहारराय के अनुसार यह समाज-जीवन पर आश्रित पहला मनोविश्लेषणमूलक समस्यानिष्ठ उपन्यास था। "इसके पहले बंगला साहित्य के उपन्यास प्रधानतः घटना-निर्भर थे। घटना का सुंदर यथातथ्य समावेश ही उपन्यास की विशेषता थी। कवीन्द्र के पहले दो उपन्यास इसी आदर्श के अनुसार थे, पर 'आंख की किरकिरी' बिल्कुल इसके विपरीत थी। इसका कथा-भाग बहुत संक्षिप्त है, पर इसके चार चरित्रों के मनोविश्लेषण की धारा बहुत दीर्घ है। घटना का क्रम केवल मानसिक विकास का सहायक मात्र है। सारी कहानी एक सांस में कह डाली जा सकती है, पर वह तो आख्यान मात्र है। उसमें वास्तविक अनुभूति नहीं है। वास्तविक अनुभूति का संचार तो तब होता है, जब हम विनोदिनी और आशा, महेंद्र और बिहारी के चित्त की गहराइयों में पैठकर उनकी चिंताओं तथा भावों की भीतरी क्रिया प्राप्त करते हैं। तभी हमें उनके प्रकाश्य कार्यों का वास्तविक अर्थ मालूम होता है। इस प्रकार का विश्लेषण, मनुष्य के विचित्र कर्म और विचार के कार्य कारण संबंध को प्रकाश में लाने का इस प्रकार का प्रयास तथा वस्तु के अंतर्निहित धर्म के संबंध में जिज्ञासा पहले-पहल 'आंख की किरकिरी' उपन्यास से ही प्रवर्तित हुई।"[1]

'नौका डूबी' उक्त उपन्यास के दो साल बाद प्रकाशित हुआ। यह उपन्यास रोमांटिक ढंग का है। कई लोगों ने इसी कारण इसे पहले की रचना समझने की भूल की है। कहा गया है कि 'नौका डूबी' 'बंग दर्शन' मासिक पत्र की मांग को पूरा करने के लिए लिखा गया था। इसमें आकस्मिक घटनाओं की प्रधानता है। 'रमेश और कमला का जटिल संबंध एक आकस्मिक विपर्यय पर निर्भर है। कमला और नलिनाक्ष का पुनर्मिलन भी इसी प्रकार से पूर्णतः दैवी घटनाओं पर निर्भर है। जिस भूल के कारण रमेश और कमला का जटिल संबंध दिन पर दिन जटिलतर होता जा रहा था, वह इतना दीर्घ विलंबित है कि वह जरा अस्वाभाविक ही प्रतीत होता है। इस भूल को तोड़ना और सारी जटिलताओं

[1] रवीन्द्र साहित्येर भूमिका।

का अंत करना कुछ ऐसा कठिन और असंभव नहीं था। इसके अतिरिक्त हेम नलिनी के साथ विवाह के पहले रमेश ने कमला के रहस्य के उद्घाटन में किसी प्रकार की इच्छा या चेष्टा नहीं दिखाई, इसका कोई युक्तिसंगत कारण ढूंढ़ने पर नहीं मिलता। इतनी बाधाओं को पार करने के बाद ही उपन्यास के सूक्ष्म विश्लेषण और वस्तुनिष्ठा की बात प्रकट होती है।"

इन उपन्यासों के बाद रवीन्द्रनाथ ने 'गोरा' उपन्यास की रचना की। उस समय के अंग्रेज़ी शिक्षित समाज में जिस प्रकार के विचारों की उथल-पुथल और आलोड़न-विलोड़न चल रहा था, उसका सम्यक् प्रतिफलन इस उपन्यास में मिलता है। अवश्य इसमें रोटी-दाल और शोषक-शोषित की समस्याओं का कहीं पता नहीं है, पर सुंदर विचारों और आदर्शों के संघात का बहुत चित्र इसमें उपस्थित किया गया है। केवल यही नहीं, इसमें प्रगतिशील विस्तृततर विचारों की ही अंत तक विजय कराई गई है। गोरा एक ऐसा युवक है, जिसके माता-पिता यूरोपीय थे। १८५७ के विद्रोह के समय यह अनाथ शिशु एक बंगाली सज्जन के हाथ लगा और उन्होंने उसे एक सनातन हिंदू बच्चे की तरह पाला। यह लड़का बहुत ही मेधावी निकला और कट्टर सनातनधर्मी बना, यहांतक कि वह कट्टरता की धुन में बहुत-कुछ अजीब बातें करता है। उसके पालक पिता इन बातों को देखते हैं और स्वयं कट्टर होते हुए भी यह नहीं चाहते कि वह कट्टर रहे। अंत तक सारी बातें खुलती है और उपन्यास का अंत बिल्कुल दूसरे ही ढंग से होता है।

कई लोगों ने यह कहा है कि 'गोरा' में रवीन्द्रनाथ ने ब्राह्म धर्म की विजय दिखलाई है, पर यह बात सही नहीं है। लेखक ने कट्टर ब्राह्म समाजी और सनातनधर्मी का चित्र खींचा है। इनमें कट्टर ब्राह्म समाजी का चित्र ही अधिक हास्योत्पादक है। इसी प्रकार और भी अन्य बातें इस दोषारोपण के विरुद्ध कही जा सकती हैं। प्रगतिशील विचारों की जो विजय इस उपन्यास में दिखाई गई है, वह एक तरह से युक्तिवाद और बुद्धिवाद के सामने पुराने समाज का ढह जाना ही है। उसमें एक कट्टरता को दूसरी कट्टरता से बढ़कर दिखाने का प्रयास कहींपर नहीं है। श्री राय तो 'गोरा' की यहांतक प्रशंसा करते हैं कि 'जिस सुबृहत भाव-कल्पना के बीच 'गोरा' की दृष्टि है, उसका प्रसार बंगला उपन्यास में आजतक देखने में नहीं आया। बंगाली मध्यवित्त समाज की संकीर्ण और अल्पचेतन जीवनधारा को अवलम्बन बनाकर 'गोरा' ने बंगला साहित्य में जिस

प्रवाह का संचार किया था, उसमें नया गतिवेग अब भी दीख नहीं पड़ा। 'गोरा' ने बंगला उपन्यास में जीवन का जो समग्र रूप पेश किया था, उस समग्रता की दृष्टि के आगे चलकर बंगला उपन्यास में दूसरी बार दर्शन नहीं हुए।'

श्री राय के इन मंतव्यों से सहमत होना संभव नहीं है। इसमें संदेह नहीं कि गोरा का उपजीव्य एक ऐसा विषय था, जो शताब्दियों में सामने आता है। वह है हमारे सैकडों वर्ष पुराने समाज-शरीर का सामना पाश्चात्य से आये हुए नये विचारों से होना। यह एक बहुत बड़ा विषय था और इसमें संदेह नहीं कि बंगाल की ज़मीन पर विचारों के संघर्ष को दिखाते हुए भी रवीन्द्रनाथ ने उस महान् विषय के साथ पूरा न्याय किया। पर हमारे सामने और भी बहुत-से विषय ऐसे हैं, जो इसीकी तरह महत्वपूर्ण हैं। उदाहरणस्वरूप पाश्चात्य विचारों के बुद्धिवाद ही नहीं, उनके विज्ञान और विज्ञान से प्राप्त सुख-सुविधाओं इत्यादि को अपनाते हुए भी उनके साम्राज्यवाद तथा शोषण-नीति का विरोध और उनसे छुटकारा प्राप्त करना, हमारे यहां की मेहनतकश जनता को उनके शोषकों से मुक्त करना, इत्यादि। बाद के उपन्यासकारों ने इन विषयों को लेकर लिखा। हम उसके ब्यौरे में नहीं जायगे कि तुलनात्मक रूप से वह कैसे रहे, पर मैंने यह बताया है कि एक श्रेष्ठ कृति की प्रशंसा करने का अर्थ यह हर्गिज़ नहीं है कि हम यह कह दें कि उसके बाद कोई उस रचना का अतिक्रम नहीं करेगा।

यहां एक बात और बता दें कि 'गोरा' जितना अच्छा उपन्यास है, उस दृष्टि से उसका उतना प्रचार नहीं है। इसका कारण यह है कि उसमें जो समस्याएं उठाई गई हैं तथा विचारों का जो संघर्ष चित्रित है, वह आज दिलचस्प नहीं हो सकता, क्योंकि उन विषयों को छेड़ते ही पहले के युग में जिस वाद-विवाद के वातावरण की सृष्टि होती थी, वह अब नहीं होती। उन विषयों पर वह जोश-खरोश नहीं आ सकता और इसी कारण ऐतिहासिक रूप से भले ही यह दिल-चस्प हो, स्वयं वे विचार अब बहुत-कुछ पालतू बन चुके हैं। पर मैं शायद 'गोरा' के अंदर चलनेवाले विचार-संघर्षों पर अधिक ज़ोर दे रहा हूं। कलाकृति के नाते उसमें जो चरित्र-चित्रण है, सुंदर वाक्य और विचार हैं, सूक्ष्म अतिसूक्ष्म मनोविश्लेषण है, व्यक्ति का विकास और परिवर्तन है, वह तो कहीं नहीं जा सकता। विचार की सामयिकतावाली धार भले ही कुछ मुथड़ी हो गई हो, पर कला की धार तो उसी प्रकार तेज बनी हुई है। इसके अलावा 'गोरा' हमारे

इतिहास का एक अध्याय है, पर साथ ही वह भारतीय उपन्यास साहित्य में एक युगांतर उपस्थित करनेवाली कलाकृति है।

'गोरा' के पांच वर्ष बाद 'चतुरंग' और छः वर्ष बाद 'घरे बाइरे' याने 'घर और बाहर' की रचना हुई। अध्यापक राय का कहना है कि 'गोरा' के पहले जो उपन्यास रचे गये थे, उनमें तथ्य और घटना-विन्यास का क्रम इस तरह से सजाया गया है और उपन्यास के चरित्र-विकास के स्तर इस तरह से ग्रथित हुए हैं कि पाठक के मन में विभिन्न विच्छिन्न घटनाएं और चरित्र समग्र रूप से सामने आते हैं, आंशिक या खंडित वर्णन के जरिये से जीवन का समग्र रूप प्रतिफलित होता है। श्री राय कहते हैं—"उपन्यास का बृहत्तर ऐक्य जीवन के खंड-खंड अंशों को एकत्र गूंथकर एक परिपूर्ण रूप प्रदान करता है। 'आंख की किरकिरी' या 'गोरा' या बंकिम के जिस किसी सार्थक उपन्यास से इस बात का दृष्टांत अत्यंत आसानी से दिया जा सकता है। उपन्यास की इस समग्रता का धर्म, बृहत्तर ऐक्य का धर्म 'गोरा' के बाद से उपन्यासों में अनुपस्थित है। दूसरी बात यह है कि 'गोरा' और 'गोरा' के बाद बंगला उपन्यासों में चरित्र का विकास, विस्तृत घटना और मनोविश्लेषण के जरिये चेतना और बुद्धि के सामने पेश होता है। इस पर्व के उपन्यासों में ये दोनों बातें अत्यंत संक्षिप्त हैं, तथ्य का सन्निवेश विरल है और जो कुछ भी है, वह असम्पूर्ण है।"

दूसरे शब्दों में उनका कहना यह है कि यह उपन्यास बुद्धि-प्रधान है और उसका रस और रहस्य मुख्यतः बुद्धिगम्य है। भाषा में भी संक्षिप्तता की ओर याने थोड़े में बहुत कहने की प्रवृत्ति है। यह विकास का एक स्तर था।

'चतुरंग' के चार अंश अलग-अलग कहानियों के रूप में प्रकाशित हुए, पर दूसरी कहानी प्रकाशित होते ही यह समझ में आ गया कि कहानियां बिल्कुल अलग नहीं हैं। डा० श्री कुमार के अनुसार यह कोई उच्चकोटि का उपन्यास नहीं है, पर कुछ लोगों के अनुसार यह उनकी श्रेष्ठ रचना है। इसमें संदेह नहीं कि 'चतुरंग' बहुत मामूली पाठकों के समय काटने के लिए नहीं लिखा गया है। अंत में सबकुछ कह लेने के बाद श्री निहार रंजन भी इस राय पर पहुंचते हैं कि 'चतुरंग' कोई महान् उपन्यास नहीं है। "इसमें वस्तु-भूमि की गहराई है, पर फैलाव नहीं है। मानव-संसार की विचित्र बहुमुखी तरंग लीला के साथ इसका योग नहीं है। इसका जीवन-दर्शन खंडित है, पर जीवन की समग्रता का

इस उपन्यास में स्पर्श नहीं है। पर 'चतुरंग' सुंदर और सार्थक साहित्य-दृष्टि है। इसकी बुद्धि की दीप्ति, रहस्यमय संकेत, सूत्र के रूप थोड़े में वर्णन, ज्ञान-गर्भ इंगितपूर्ण विवृति, इसकी सूक्ष्म मनोविश्लेषण की धारा और सबसे बढ़-कर इसकी कवि-कल्पना के ऐश्वर्य ने इसे जो विशिष्ट और अभिनव साहित्यिक मूल्य प्रदान किया है, इसकी कुछ तुलना 'शेषेर कविता' के अतिरिक्त बंगला साहित्य में और कहीं नहीं प्राप्त है।"[1]

'घर और बाहर' उपन्यास पहले धारावाहिक रूप से 'सबुज' पत्र में प्रकाशित हुआ। जब यह उपन्यास अभी निकल ही रहा था, तभी इसपर बहुत झगड़ा खड़ा हो गया। इस उपन्यास में स्वदेशी आंदोलन को केन्द्र बनाकर कथानक प्रस्तुत किया गया है, पर इसके नायक संदीप को स्वदेशी आंदोलन का प्रतिनिधि मानना गलत होगा। उसे ऐसा माना गया है, तभी सारे झगड़े खड़े हुए हैं। प्रत्येक आंदोलन में भले-बुरे सब तरह के लोग होते हैं और संदीप इस आंदोलन के एक अंश का प्रतिनिधित्व करता है। वह बोलने में बड़ा तेज़ है, पर स्वार्थी है। आश्चर्य की बात यह है कि स्वयं रवीन्द्रनाथ स्वदेशी आंदोलन के अन्यतम नेता थे, उनके व्याख्यानों और कविताओं से स्वदेशी आंदोलन तथा उसके बाद के क्रांतिकारी आंदोलन को बड़ा बल मिला, पर उन्होंने उसके कृष्ण-पक्ष को ही अपनी कला के लिए क्यों चुना? इतना कह लेने के बाद भी यह मानना पड़ता है कि यह एक बहुत ही शक्तिशाली उपन्यास है।

'घर और बाहर' की रचना के लगभग बारह वर्ष बाद कवीन्द्र ने 'तीन पुरुष' नाम से एक उपन्यास लिखना शुरू किया, पर बाद को इसका नाम 'योगायोग' रख दिया। इसके बाद रवीन्द्रनाथ ने 'शेषेर कविता' नामक उपन्यास लिखा। पहले ही बताया जा चुका है कि यह उपन्यास काव्यधर्मी है। यह एक आश्चर्य की बात है कि 'गोरा' और 'घर और बाहर' में रवीन्द्रनाथ ने उस युग को अपने सामने रखकर चरित्र चुना था, पर इन उपन्यासों में किसी विशेष युग को या किसी विशेष टाइप को चित्रित करने की सीमाएं नहीं हैं। 'शेषेर कविता' मनोविज्ञान-प्रधान है, यह कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी, पर साथ ही इसकी प्रत्येक पंक्ति में काव्यमय वर्णन की प्रधानता है।

---

[1] रवीन्द्र साहित्येर भूमिका, पृ० ३३५

रवीन्द्रनाथ ने और भी कई उपन्यास लिखे, पर उनकी पृथक् आलोचना की गुंजाइश यहांपर नहीं है।

नाटक के क्षेत्र में रवीन्द्रनाथ ने पहले एक गीतिनाट्य लिखा, जिसका नाम "वाल्मीकि प्रतिभा' है। रवीन्द्रनाथ बाद को बराबर जब भी इसके सम्बन्ध में उल्लेख करते थे, वे कुछ सकुचाते थे, पर यह रचना उतनी निम्नकोटि की नहीं है, जितनी वह समझते थे। इन दिनों कविवर की उम्र १८-२० के लगभग थी और संगीत की चर्चा बड़े ज़ोरों के साथ चल रही थी। उसी काल में "काल मृगया', 'प्रकृतिर प्रतिशोध' तथा 'मायार खेला' की रचनाएं हुईं। इनमें से 'प्रकृतिर प्रतिशोध' में कविवर संगीत से हटकर नाटक की ओर बढ़ते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। 'वाल्मीकि प्रतिभा' और 'काल मृगया' में कविवर ने पौराणिक कथा को ही आधार रखा था, पर 'प्रकृतिर प्रतिशोध' की कहानी स्वरचित है। कहानी इस प्रकार है कि एक संन्यासी ने समस्त इंद्रियों पर विजय प्राप्त करने के लिए एक निर्जन गुफा में रहना शुरू किया। बाद को इस संन्यासी ने एक असहाय बालिका के प्रति दयार्द्र होकर उसे अपने आश्रम में आश्रय देना चाहा। संन्यासी उसे अपनी कन्या के रूप में उसे वैराग्य का उपदेश देते हैं, पर वह यह सबकुछ नहीं समझती और संसार में लौटना चाहती है। इस प्रकार दो आदर्शों का संग्राम होता है। अन्त में संन्यासी को एक दिन कहना पड़ा कि आज से मैं संन्यासी नहीं हूं, इत्यादि-इत्यादि। यह कविवर का पहला महत्वपूर्ण नाटक है।

'मायार खेला' नामक नाटक में कोई खास विषय नहीं लिया गया। बस कई एक तरुण गाना गाते जाते हैं और उसीके अन्दर से उनका परिचय सामने आता जाता है।

इस युग के बाद उन्होंने एक के बाद एक 'राजा ओ रानी', 'विसर्जन' और 'मालिनी' लिखे। प्रथम नाटक एक ऐतिहासिक घटना को छूकर चलता है। यों कहा जाय कि यह ऐतिहासिक घटना भी मनगढ़ंत है तो वह सत्य के अधिक निकट होगा।

नाटकीय दृष्टि से 'विसर्जन' में अपेक्षाकृत नाटकीय द्वंद्व अधिक है। बाद को जो 'मालिनी' नाटक लिखा गया, उसमें और इसमें बड़ी समता है। दोनों नाटकों में रूढ़िवाद के विरुद्ध कथानक प्रस्तुत किया गया है। एक तरफ तो सनातन

रूढ़िवादी धर्म है और दूसरी तरफ मानव-धर्म का प्रतीक एक विशाल व्यापक धर्म या सिद्धांत है। 'विसर्जन' का रघुपति और 'मालिनी' का क्षेमंकर और 'विसर्जन' का जयसिंह और 'मालिनी' का सुप्रिय करीब-करीब एक ही हैं। श्री राय के अनुसार इनकी भावना और गति भाषा और प्रकाश के बीच में पृथकता बहुत कम है। 'मालिनी' के कथानक में एक राजकन्या का द्वंद्व दिखलाया गया है, जिसने बौद्ध अर्हत काश्यप से संसार-त्याग का पाठ प्राप्त किया है और वह उसी मार्ग में चलना चाहती है, पर सनातन धर्म के अनुयायी इसका विरोध करते हैं। इसीपर समस्या खड़ी हो जाती है। सनातन धर्म के नेता क्षेमंकर हैं। इसमें और भी जटिलता इस प्रकार उत्पन्न हो जाती है कि क्षेमंकर का मित्र सुप्रिय यद्यपि अपने मित्र के साथ है, फिर भी वह यह नहीं चाहता कि राजकन्या को निर्वासन का दंड दिया जाय। इसपर सुप्रिय और क्षेमंकर में वाद-विवाद होता है और अंततोगत्वा सुप्रिय यह कहता है—"तुम्हारा स्वर्गधाम झूठा है और तुम्हारे देवता भी झूठे हैं। इस संसार में व्यर्थ ही इतने दिन मैंने भ्रमण किया, कभी किसी शास्त्र से तृप्ति नहीं प्राप्त हुई, आज मैंने अपना धर्म पा लिया, जो हृदय के बहुत ही निकट है।"

रानी बराबर राजकन्या को समझाती है, पर राजा समझाते हुए भी कुछ तरह देते जाते हैं। उधर क्षेमंकर बाहर से सेना मंगाकर इस राज्य में सनातन धर्म को पुनः प्रतिष्ठित करने का षड्यंत्र करता है। सुप्रिय इस बात को खोल देता है। क्षेमंकर पकड़ा जाता है और उसे प्राणदंड देना निश्चित होता है, मालिनी ने उसके लिए क्षमा-याचना की। इस प्रकार से नाटक में कई रोमांचकारी घटनाएं आती हैं। इसके साथ ही आदर्शों के संघर्ष और कवितामय वर्णन के कारण यह नाटक बहुत ही सुन्दर ढंग से विवर्तित होता है। अवश्य यह एक कवि की कल्पना है, पर इस कल्पना में बड़ी उदात्तता है। यह नाटक बार-बार अभिनीत भी हुआ है।

इसके बाद रवीन्द्रनाथ ने 'गांधारीर आवेदन', 'सती', 'नरकवास', 'लक्ष्मीर परीक्षा' और 'कर्ण-कुंती-संवाद' लिखे। इन नाटकों में भी मानव-धर्म की महिमा बार-बार गाई जाती है। 'लक्ष्मीर परीक्षा' नामक नाटक में हास्य का स्रोत भी फलगू की तरह भीतर-भीतर चलता जाता है। ये नाटक मुख्यतः पढ़ने के लिए ही लिखे गये थे। इस प्रकार के नाटकों के प्रवर्तक भी रवीन्द्रनाथ

ही थे। यह मानना पड़ेगा कि इन नाटकों में कविता के साथ-साथ नाटकीयता प्रचुर मात्रा में विद्यमान है। 'गांधारीर आवेदन' नामक नाटक में गांधीजी के प्रतीक धृतराष्ट्र के चरित्र में एक तरफ मानव-धर्म के प्रति आकर्षण तथा दूसरी तरफ पुत्र-स्नेह का द्वंद्व चलता है। गांधारी में यह द्वंद्व प्रत्यक्ष रूप से ऐसी प्रवृत्ति अपना चुका है कि स्नेह में तो वह पुत्रों के साथ है, पर उसका मन धर्म के साथ है। क्या यह हृदय और मस्तिष्क का द्वंद्व है या यह हृदय के एक अंश के साथ हृदय के दूसरे अंश का द्वंद्व है ? बात यह है कि यदि मस्तिष्क और हृदय का द्वंद्व होता, तो उसमें वह गहराई नहीं आती, जो इसमें दिखाई पड़ रही है। गांधारी में इस द्वंद्व का अंत इस रूप में होता है कि वह पुत्रों को चाहते हुए भी आशीर्वाद पांडवों को ही देती है, पर धृतराष्ट्र में यह द्वंद्व अंत तक सुलझता नहीं है।

'सती' नाटक में भी इसी प्रकार धर्म और पितृ-स्नेह का द्वंद्व दिखलाया गया है।

'कर्ण-कुन्ती संवाद' में द्वंद्व तो स्वाभाविक ही है, क्योंकि कुन्ती का चरित्र ही ऐसा है। कर्ण वीर धर्म का प्रतीक है। कुन्ती जो उससे जाकर मिलती है, उसमें पांडवों की विजय-कामना थी, पर साथ ही इस स्वार्थ में भी त्याग का बहुत गहरा पुट था, क्योंकि कर्ण उसका पुत्र है और शायद सबसे अधिक वीर पुत्र। फिर द्वंद्व क्यों न होता ?

'नरकवास' की कहानी भी पौराणिक है। इन नाटक-नाटिकाओं के बाद रवीन्द्रनाथ नें 'व्यंग कौतुक हास्य कौतुक', 'गोड़ाय-गलद', 'शेष रक्षा', 'वैकुंठेर खाता', 'चिरकुमार सभा', 'तासेर देश' नाटक लिखे। प्रथम पुस्तक में दो छोटी-छोटी नाटिकाएं हैं। उन्होंने भूमिका में लिखा कि समस्या नाट्य (Charade) के ढंग पर ये नाटिकाएं लिखी गई। इन दो नाटिकाओं में शिक्षित समाज पर व्यंग किया गया था। 'हास्य कौतुक' की नाटिकाओं में भी विषय यही है। स्मरण रहे कि अबतक जिन नाटक तथा नाटिकाओं का उल्लेख किया गया है, वे सब पद्य में रचित थे। रवीन्द्रनाथ का पहला गद्य नाटक 'गोड़ाय गलद' याने जड़ में ही गलत था, बं० सन् १२९९ (लगभग १८८६) में प्रकाशित हुआ। यह प्रहसन के रूप में था, पर इसमें पांच अंक थे। इसे कॉमेडी की श्रेणी में रक्खा गया है। पात्र और पात्रियों की बातचीत बहुत पैनी, हास्य से मधुर और उज्ज्वल है, पर

अभिनय की दृष्टि से यह उतना अच्छा नहीं था। बातचीत कुछ कम रहती तो अच्छा रहता। कविवर का ध्यान इस ओर गया होगा, इसलिए ३७ साल बाद इसका एक संशोधित रूप 'शेष रक्षा' नाम से प्रकाशित हुआ। 'शेष रक्षा' अभिनय की दृष्टि से बहुत ही सुंदर, संयत रचना हो गई। हास्य रस भी पहले से सुसंस्कृत हो गया और बातचीत भी संक्षिप्त हुई।

'बैकुंठेर खाता' भी एक प्रहसन था। पर यह केवल प्रहसन नहीं था, क्योंकि इसमें हास्य रस के अलावा करुण रस भी है। बैकुंठ को हास्य का पात्र बनाया गया है, साथ ही उसके प्रति बड़ी तगड़ी सहानुभूति भी है।

'चिरकुमार सभा' पहले-पहल बं० सन् १३०७-१३०८ में (लगभग १८९३) पहले-पहल प्रकाशित हुआ था, पर बं० सन् १३३२ (१८९७ ई०) में कविवर ने उपन्यास को बदलकर एक नाटक की रचना की और उसका नाम 'चिरकुमार सभा' रक्खा गया। स्मरण रहे कि 'चिरकुमार सभा' उपन्यास उस समय लिखा गया था, जिस समय स्वामी विवेकानंद का बंगाल में बड़ा जोर था और चिरकुमार संन्यासियों की धूम मची हुई थी। रवीन्द्रनाथ को यह आदर्श नहीं रुचा, इसलिए उन्होंने इस पुस्तक की रचना की। पहले से ही रवीन्द्रनाथ इस आदर्श के विरोधी थे, यह 'प्रकृतिर प्रतिशोध' नामक प्रथम युग के एक नाटक में ही स्पष्ट हो चुका था। 'चिरकुमार सभा' के युग में ही उन्होंने एक कविता में भी यह लिखा था—'वैराग्य साधन से मुक्ति, सो वह हमारे लिए नहीं है।' अंत तक रवीन्द्रनाथ इसी आदर्श पर डटे रहे। 'चिरकुमार सभा' प्रहसन बार-बार रंगमंच पर आया। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यद्यपि यह एक समसामयिक विषय को लेकर लिखा गया है, पर इसका व्यंग कहीं भी उन लोगों की भद्दी हँसी नहीं उड़ाता, जो संन्यास धर्म को अपनाकर चल रहे हैं, बल्कि इसका इंगित यही है कि यह धर्म हरेक के लिए नहीं है।

इसके बाद 'तासेर देश' प्रकाशित हुआ। इन नाटक में व्यंग्य की प्रधानता है और नौकरशाही तथा रूढ़िवाद पर फब्तियां कसी गई हैं। सब एक विशेष ढंग से बोलते, उठते, बैठते हैं। कोई दुड़ी, तिड़ी, छक्का, पंजा है, तो कोई गुलाम, बादशाह, बेगम। पर ऐसे देश में भी अंत तक दो व्यक्ति आते हैं और वह अपने साथ मुक्ति का गीत और साथ ही नियमों के प्रति विद्रोह ले आते हैं। कहना न होगा कि कवि ने इस प्रकार से रूढ़िवाद के विरुद्ध चोट पहले भी की

थी और वे आगे भी बराबर करते रहे। 'अचलायतन' नामक नाटक में भी उन्होंने बाद को इसी प्रकार से समाज की रूढ़ियों के विरुद्ध झंडा बुलंद किया था।

'तासेर देश' के बाद 'शारदोत्सव' प्रकाशित हुआ। यह एक तरह से ऋतु का आवाहन करते हुए प्रकृति के सौंदर्य से ओत-प्रोत है। जो छोटा-सा कथानक है, उसमें कुल इतना कहने का प्रयास किया गया है कि आनंद को उपभोग करने के लिए मनुष्य को त्याग करना पड़ता है याने त्याग आनंद का एक दूसरा रूप है, वह रूप जिसके बिना मनुष्य न तो आनंद का अधिकारी होता है और न वह उसे उपभोग कर सकता है। स्वयं रवीन्द्रनाथ ने अपने एक लेख में इसका स्पष्टीकरण किया है कि वे इस नाटक में क्या कहना चाहते थे। उनके शब्द ये हैं—"आत्मा का प्रकाश आनंदमय है। इसी कारण जो व्यक्ति दुःख या मृत्यु को स्वीकार कर सकता है, भय अथवा आलस्य अथवा संशय में इस दुःख के मार्ग से बचकर नहीं चलता, संसार में वही आनंद प्राप्त करता है। बाकी लोग आनंद से वंचित रह जाते हैं।" रहा यह कि कहांतक कथानक के जरिये से यह विचार सामने आया है, इसमें थोड़ा-सा संदेह है, क्योंकि उपनंद अपने को शरत् के उत्सव से इस कारण अलग रखता है और दुःख की साधना करता है कि वह अपने प्रभु का कर्ज़ अदा कर सके। क्या इस कथानक से यह बू नहीं आती कि सामंत धर्म का निर्वाह करना चाहिए? बाद को यह 'शारदोत्सव' नाटक 'ऋण शोध' नाम से फिर से लिखा गया था।

'प्रायश्चित्त' नाटक बं० सन् १३१६ (१८०२ ई०) में प्रकाशित हुआ और यह 'बहुठाकुरानीर हाट' नामक उपन्यास से प्रस्तुत किया गया था, पर मूल उपन्यास से बहुत-सी बातों में भिन्नता है। धनंजय वैरागी जो 'प्रायश्चित्त' का एक मुख्य पात्र है, मूल उपन्यास में नहीं है। इस चरित्र के संबंध में बताया गया है कि यही चरित्र 'मुक्ति धारा', 'फाल्गुणी', 'अचलायतन' आदि आधे दर्जन नाटकों में विभिन्न नाम से आता है। वह वैरागी, आत्म-विस्मृत, चिर-नवीन, निर्भय, सत्यवादी, अत्याचार-अविचार का चिरशत्रु है। श्री निहारराय तो यहांतक कहते हैं कि यह पात्र मानों नाटक का सदा उन्मुक्त चौड़ा-सा झरोखा है, जिसके अंदर की सारी वेदना, अटकी हुई दूषित वायु निकल जाती है और बाहर से स्वच्छ, सहज, सुनिर्मल आलोक की दीप्ति भीतर पैठती है।

बाद को 'प्रायश्चित्त' कुछ परिवर्तित होकर 'परित्राण' नाम से प्रकाशित हुआ। रवीन्द्र-साहित्य में यह विशेष द्रष्टव्य है कि कविवर ने पहले की लिखी हुई कई रचनाओं को बाद में नये रूप में प्रस्तुत किया। 'शारदोत्सव' के 'ऋण शोध' नाम से प्रकाशित होने की बात तो हम पहले ही बता चुके हैं। 'अचलायतन' भी बाद में परिवर्तित रूप से 'गुरु' नाम से प्रकाशित हुआ। 'राजा ओ रानी' का रूपांतर 'तपती' नाम से प्रकाशित हुआ। 'राजा' नाटक 'अरूप रतन' नाम से परिवर्तित रूप में प्रकाशित हुआ।

'राजा', 'अचलायतन' और 'डाकघर' ये तीनों नाटक 'गीतांजलि' और 'गीति माल्य' के बीच में लिखे गये थे। इसी कारण इनमें अतिमानवता या अति प्राकृतिक शक्तियों के संकेत के संबंध में बहुत अधिक उल्लेख मिलेंगे। 'रूपरतन' नाटक की भूमिका लिखते हुए कविवर ने यह अति स्पष्ट कर दिया है कि जहां वस्तु आंख से देखी जा सकती है, हाथ से छुई जा सकती है, भंडार में संचित हो सकती है, जहां धन, जन, ख्याति है, बुद्धि का अभिमान है, बुद्धि के ज़ोर से बाहर ही जीवन की सार्थकता प्राप्त करते की चेष्टा है, सचाई उससे परे की चीज है। कहना न होगा कि यह सारी बात नाटक का स्पष्टीकरण न करते हुए उसे ले जाकर और भी धुंधलके में डाल देती है।

'अचलायतन' नाटक उसी प्रकार से एक ऐतिहासिक नाटक बन चुका है, जैसे बंकिमचंद्र का 'आनंदमठ'। शिक्षित याने अंग्रेज़ी शिक्षित बंगाली समाज के लिए यह एक जलती हुई मशाल के रूप में हो गया। जो कुछ भी शास्त्र, आचार, नियम, विधान, मंत्र, तंत्र, वर्ण और जाति का अभिमान हमारी प्रगति के मार्ग की रोककर खड़ा है, वही 'अचलायतन' है और उसीके विरुद्ध यह नाटक मानो विद्रोह के लिए मनुष्य को ललकारता है, भले ही उस 'अचलायतन' के पीछे शताब्दियों की छाप हो। इस नाटक में कथित छोटी जातियों याने अंत्यजों को उठाने की बात भी आती है। अचलायतन की दीवार ढह गई और विद्रोह की जय हुई। नई निष्ठा और नई श्रद्धा का सूत्रपात हुआ। रवीन्द्रनाथ ने इस-नाटक की व्याख्या करते हुए अपने ढंग से कहा है—"मैं तो ऐसा समझता हूं कि यूरोप में जो लड़ाई (१९१४-१८) शुरू हुई है, वह इस कारण हुई है कि गुरु-जी पधारे हैं। उन्हें परम पुरातन धन की दीवार, मन की दीवार, अहंकार की दीवार तोड़नी पड़ रही है। उनकी अगवानी के लिए कोई प्रस्तुत नहीं था, पर वे

समारोह के साथ आयेंगे, चाहे वे जब भी आवें। इसके लिए तैयारी बहुत दिनों से चल रही थी।"

रवीन्द्रनाथ ने यह व्याख्या नाटक-रचना के बहुत दिनों बाद लिखी। ऊपर जो शब्द दिये गए हैं, उनका स्पष्ट अर्थ समझना तो मुश्किल है, पर क्या उनका इंगित १९१७ की रूसी समाजवादी राज्य-क्रांति से था? बात यह है कि कई बार अनुप्रेरित अवस्था में साहित्य-सृजक ऐसी बातें कह जाता है, जिसका पूरा अर्थ वह भी नहीं समझता। घटनाएं ही उनका अर्थ स्पष्ट करती हैं।

'डाकघर' एक रहस्यमय काव्यधर्मी नाटक है। यह नाटक शांतिनिकेतन में तीन दिन के अंदर लिखा गया था। इसका प्रथम अभिनय जोड़ासांको वाले मकान में हुआ था और दर्शकों में महात्मा गांधी, मदनमोहन मालवीय, लोकमान्य तिलक, लाजपतराय और खापर्डे आदि नेता थे। यह नाटक रहस्य और संकेत इस प्रकार से ओत-प्रोत है कि इसकी सामाजिक व्याख्या करना कठिन है। शायद इसी कारण प्रभातकुमार मुखोपाध्याय ने इस नाटक की व्याख्या रचयिता की जीवनी से करनी चाही है। बात यह है कि बचपन में उनका जीवन भी बड़ा अवरुद्ध था और वे सैकड़ों विधि-निषेधों के अंदर पले थे। वह थे तो रुद्ध गृह के वासी, पर प्रत्येक घटना उनके मन में तरंगमाला की सृष्टि करती थी। वे सबकुछ देखते थे, मन भीतर-ही-भीतर रोता था और मिलन संभव नहीं होता था।

'डाकघर' के चार वर्ष बाद 'फाल्गुणी' की रचना हुई। 'शारदोत्सव' की तरह यह भी ऋतु को लेकर लिखा गया है। स्मरण रहे कि इस बीच कविवर यूरोप की यात्रा कर आये थे। इसमें भी आनंद और यौवन की वही व्याख्या की गई है, जो इससे पहले की पुस्तकों में दृष्टिगोचर होती है। स्वयं कविवर ने 'फाल्गुणी' की व्याख्या करते हुए कहा है—"जीवन को सत्य करके जानने के लिए मृत्यु के बीच से उसका परिचय चाहिए। जो मनुष्य डरकर मृत्यु से बचकर जीवन से लिपटा हुआ है, जीवन पर उसकी यथार्थ श्रद्धा नहीं है, इसी कारण उसने जीवन को नहीं प्राप्त किया है। इसी कारण वह जीवन के मध्य में रहकर भी प्रतिदिन मृत्यु की विभीषिका से मरता है।"

इन्हीं दिनों कविवर ने 'वलाका' नामक संग्रह की कविताएं लिखी थीं, जिनमें इसी प्रकार के स्वस्थ और ओजस्वी विचार प्रस्तुत किये गए थे। 'वलाका' बहुत

दिनों तक क्रियाशील क्रांतिकारियों की पाठ्य-पुस्तक के रूप में काम आता रहा, पर इस कारण उसका साहित्यिक मूल्य कुछ कम नहीं है। 'फाल्गुणी' के पहले कवि ने 'वैराग्य साधन' नाम से एक छोटी-सी नाटिका लिखी थी, जो एक तरह से 'फाल्गुणी' की भूमिका या व्याख्या थी। इन दिनों कविवर की उम्र ५४ हो चुकी थी, पर उन्होंने स्वयं 'फाल्गुणी' में बाउल का अभिनय किया। कहते हैं, यह अभिनय बहुत ही सुंदर हुआ था। इसमें संदेह नहीं कि 'फाल्गुणी' ने कविवर के साहित्य में एक और मजबूत कड़ी की सृष्टि करने के साथ ही रूढ़िवाद के विरुद्ध हमला बोला।

'फाल्गुणी' के सात वर्ष बाद 'मुक्तधारा' नामक नाटक लिखा गया। 'मुक्तधारा' में कुछ और ही राग अलापा गया है। एक आलोचक का कहना है कि जिस समय वे 'फाल्गुणी' लिख रहे थे, उस समय महायुद्ध (१९१४-१८) जारी था। उन्होंने उसमें शक्ति और यौवन का प्राचुर्य देखा था और उन्हें यह आशा थी कि रात्रि की तपस्या से दिन की रोशनी सामने आयेगी, मृत्यु से अमृत प्राप्त होगा, इत्यादि। इस बीच महायुद्ध का अंत हुआ था, पर कवियों और मनीषियों का स्वप्न सत्य नहीं हुआ था, बल्कि पूंजीवाद ने अपनी जकड़ और भी कड़ी करनी चाही थी। वे इस बीच एक बार विश्व-भ्रमण भी कर आये थे। इसी बीच जलियांवाला बाग हत्याकाण्ड हुआ था। उन्होंने सर की उपाधि त्याग दी थी, गांधीजी का असहयोग-आंदोलन इस बीच आकर जा भी चुका था और सत्याग्रह का युग शुरू हो गया था।

इन्हीं परिस्थितियों से गुजरकर जब वह सुदीर्घ भ्रमण से देश में लौटे तो उन्होंने ६ महीने के अंदर 'मुक्तधारा' और दो साल के अन्दर 'रक्त करवी' की रचना की। 'मुक्तधारा' पर केवल बाहरी घटनाओं की ही छाया है, ऐसा मानना असम्भव है। इसमें जहां यांत्रिकता या यंत्र-सभ्यता के प्रति क्रोध है, वहां शासक-जाति की दुष्टता और पराधीन जाति के दुःख का भी चित्रण है। यांत्रिकता के प्रति कविवर का जो विद्वेष है, वह कुछ-कुछ गांधीवादी बल्कि गांधीजी के पहले भी इस प्रकार के मत रखनेवालों के ढर्रे पर चलता है, मानों यंत्र का ही दोष है, जबकि दोष उस समाज-व्यवस्था का है, जिसमें यंत्र एक वर्ग-विशेष के शोषण का साधन बन जाता है। इसी कारण 'मुक्तधारा' में अभिजित यंत्र को तोड़ डालता है, पर यंत्र को जिन लोगों ने शोषण के लिए प्रयुक्त किया, उनके

विरुद्ध कुछ नहीं करता। फिर भी 'मुक्तधारा' नाटक के रूप में सफल है।

'रक्त करवी' भी करीब-करीब उन्हीं विचारों को लेकर चलता है, जो 'मुक्तधारा' का उपजीव्य है। पहले 'रक्त करवी' शिलांग पर रचित हुआ था और इसका नाम 'यक्षपुरी' रखा गया था। इसकी कहानी इतनी-सी है कि कुछ लोग लोभ तथा अन्य कारणों से अपने ही बनाये हुए जेलखानों में बंद हैं और जेलखाने के सीखचों से बाहर जीवन की प्रतीक स्वरूपा नंदिनी उन्हें बुला रही है। वह जेलखाना ही यक्षपुरी हैं। यक्षपुरी के राजा ने नंदिनी को उसी प्रकार से पाना चाहा, जिस प्रकार से वे स्वर्ण तथा धन-सम्पत्ति प्राप्त करते हैं, पर प्रेम और सौंदर्य को ऐसे थोड़े ही पाया जाता है। 'रक्त करवी' गीतधर्मी है, साथ ही उसमें रोमांस का वातावरण है।

'रक्त करवी' की रचना के बाद कविवर ने कुछ पुरानी कहानियों और नाटकों को नये रूप में पेश किया। 'कर्मफल' नामक कहानी का नाट्य रूप 'शोध बोध' हुआ और 'शेषेर रात्रि' कहानी का नाट्य रूप 'गृह-प्रवेश' हुआ। नाटक रूप में 'शोध बोध' अधिक सफल रहा। इसके बाद उन्होंने जिन रचनाओं को नये रूप में रक्खा, उनका पहले ही किसी-न-किसी रूप में उल्लेख आ चुका है।

बं० सन् १३३० के (लगभग १९१६ ई०) 'प्रवासी' में कविवर का एक नाटक 'रथयात्रा' नाम से प्रकाशित हुआ था, इसीका परिवर्तित और परिवर्द्धित रूप 'रथेर रशि (रथ की रस्सी) हुआ। इसे श्री निहार रंजन ने आधुनिक लोकतांत्रिक भारतीय गण मन का घोषणापत्र बतलाया है। भारतीय समाज-व्यवस्था का रथ चल नहीं पाता, पुरोहित का मंत्र, क्षत्रिय का शौर्य, पूंजीपति की पूंजी याने शास्त्र, शस्त्र, सब उसे चलाने में असफल रहे। इतने में बाढ़ के पानी की तरह शूद्रों का दल आया, जो अपनी एकता के बल से उसे चलाने में समर्थ हुआ, पर रथ पुरानी लीक पर न चलकर नये प्रशस्त मार्ग में चल पड़ा। शूद्र शक्ति की जय हुई। इतने में आये कवि। लोगों ने उनसे पूछा कि यह क्या हुआ? तब कवि ने बताया—"उनका सिर बहुत ऊंचा था, महाकाल के रथ की चूड़ा पर ही उनकी दृष्टि निबद्ध थी, नीचे की तरफ उनकी आंख देखती ही नहीं थी, इसीलिए उन्होंने रथ की रस्सी की अवज्ञा की। मनुष्य के साथ मनुष्य को जो बंधन बांधता है, उसे उन्होंने नहीं माना, इस कारण पूजा धूल में गिरी और भक्ति मिट्टी में ही पड़ी रही। रथ की रस्सी बाहर पड़ी रहती है। वह रहती है मनुष्य और मनुष्य में बंधी हुई, देह से देह

और प्राण से प्राण में युक्त। वहीं अपराध जमा हो गया और बंधन दुर्बल हो गया। सब लोग मिलकर कहो कि जो इतने दिनों तक मरे हुए थे, वे जी उठें और जो इतने दिनों तक तुच्छ थे, वे एक बार सिर उठाकर खड़े हों।"[1]

इस प्रकार यह नाटक पुरोहितवाद, पूँजीवाद तथा इस प्रकार के सब शोषक वादों के विरुद्ध जन-विद्रोह की आवाज़ को बुलन्द करता है।

इसके बाद 'कविवर दीक्षा' में भी त्याग की महिमा गाई गई है। इसके बाद जो नाटक तथा नाटिकाएं लिखी गईं, उनमें गीति और नृत्य नाट्यों की ही प्रधानता है। ऐसे नाटकों में 'नटीर पूजा', 'नृत्य नाट्य', 'चित्रांगदा', 'शाप मोचन' विशेष उल्लेखनीय हैं। इनमें से 'नटीर पूजा' ही इधर के सब नाटकों में अधिक सफल माना गया है। इन नाटकों में कथानक का विकास भी सुन्दर ढंग से होता है। रानी लोकेश्वरी के मन में जो द्वन्द्व है, उसीका चार अंकों में जिस प्रकार विकास दिखलाया जाता है, वही इस नाटक की सफलता के लिए काफी उपकरण होता, पर इसमें और भी तत्त्व हैं।

इस प्रकार से हमने रवीन्द्रनाथ के नाटकों का जो थोड़ा-सा वर्णन दिया है, उससे उनके नाटकों ने बंगला के साहित्य ही नहीं, सांस्कृतिक जीवन में भी कैसी महान् क्रांति उपस्थित की, इसका पूरा अनुमान नहीं किया जा सकता।

अब हम बहुत ही संक्षेप में कहानियों के क्षेत्र में उनके योगदान का उल्लेख करेंगे। सच तो यह है कि रवीन्द्रनाथ से ही बंगला साहित्य में कहानी की प्रतिष्ठा हुई। इस संबंध में कुछ आंकड़े इस प्रकार हैं। हम इस प्रसंग को 'रवीन्द्र साहित्येर भूमिका' से उद्धृत करते हैं—"उनकी अधिकांश कहानियां मोटे तौर पर बं० सन् १२९८ से १३१० के बीच रचित हुई। अवश्य इसके बाद भी कई प्रसिद्ध कहानियाँ १३१४ से १३२५ के अंदर लिखी गई थीं, पर उनकी अधिकांश कहानियों का मूल धर्म १२८९ से १३१० तक की रचनाओं में प्राप्त होगा। 'पोस्ट-मास्टर' कहानी १२८९ में लिखी गई थी।" इन दिनों कविवर ने ज़मींदारी पर देख-रेख का भार लिया था और वह दिनभर पूर्व बंगाल की नदी में नाव पर ही काटते थे। इन्हीं दिनों उन्हें गांव के जीवन से घनिष्ठ परिचय प्राप्त करने का मौका मिला। १८९४ के २७ जून को उन्होंने शिलाईदह से एक पत्र में लिखा

[1] रवीन्द्र साहित्येर भूमिका—पृ० १६४

था—"आजकल ऐसा मालूम होता है कि यदि मैं कुछ भी न कर कहानियां लिखूं तो उससे मुझे कुछ-कुछ मानसिक सुख प्राप्त हो और यदि मैं इसमें सफल रहूं तो दस-बीस पाठकों को भी सुखी कर सकूं। कहानी लिखने का एक सुख यह है कि जिनकी बात मैं लिखूंगा, वह हमारे दिन और रात के खाली समय को एकदम भर देंगे, मेरे अकेले मन के साथी होंगे, वर्षा के समय मेरे बन्द कमरे की संकीर्णता दूर करेंगे और धूप के समय पद्मा तट के उज्ज्वल दृश्य के बीच मेरी आंख के सामने घूमते रहेंगे। इसीलिए आज सवेरे मैंने गिरिवाला नाम से एक उज्ज्वल श्याम रंग की एक छोटी अभिमानी लड़की को अपने कल्पना राज्य में अवतरित किया है।"

इस अवसर पर 'मेघ ओ रौद्र' कहानी लिखी गई। इसी प्रकार श्री राय ने दिखलाया है कि दो साल पहले याने २९ जून सन् १८९२ में शाहजादपुर की कोठी में गांव के पोस्टमास्टर साहब आये थे। इस तरह 'पोस्टमास्टर' कहानी लिखी गई। हम यहांपर उनकी कहानियों की विस्तृत आलोचना नहीं कर सकते, पर इतना बता दें कि कई लोग यह समझते हैं कि उन्होंने कहानियां उसी प्रकार एक-एक शब्द जोड़कर लिखीं, जैसे कविता लिखी जाती है, इस कारण वह कला की दृष्टि से किसी भी अंश में निकृष्ट नहीं हैं। यदि वर्ग की दृष्टि से विचार किया जाय, तो रवीन्द्रनाथ स्वयं अभिजात वर्ग में पैदा हुए थे, उसीमें वह पले और बड़े हुए, पर वह साहित्य के क्षेत्र में मध्यवित्त समाज के ही प्रतिनिधि हैं। एक बात और है, वह यह कि कहानी-रचना के आदि पर्व में वह मानो केवल वैयक्तिक जीवन को केंद्र बनाकर चलते हैं।

रवींद्र-साहित्य की भूमिका का यह उद्धरण देखिये—"लेखक ने सबकुछ लगाकर सिर्फ हमारे हृदय को ही छूना चाहा है। हमारी बुद्धि और समाज-चेतना को उद्‌बुद्ध करने की तरफ उनका ध्यान उतना अधिक नहीं है। मध्यवित्त तथा गरीब तबके के लोगों के दु:ख-दर्द, अपमान, अत्याचार, अविचार, अन्याय, असंगति वह सब कुछ दिखाते हैं और उनका वास्तविक परिचय हमारे निकट लाते हैं, परन्तु इन सबके पीछे समाज और राष्ट्र-व्यवस्था का निर्मम, निष्ठुर, साथ ही अचेतन अविचार हो सकता है, इस सम्बन्ध में वह हमें कोई इंगित नहीं देते। 'नष्ट नीड़' कहानी से सामाजिक चेतना का आरम्भ होता है।"

उनकी कहानियों की संख्या बहुत अधिक है। बीच-बीच में वर्षों ऐसा हुआ

है कि उन्होंने कोई कहानी नहीं लिखी। इसमें कोई संदेह नहीं कि रवीन्द्र-साहित्य में कहानियों का स्थान बहुत ही उच्च है। डा० श्रीकुमार वन्द्योपाध्याय ने विश्लेषण करके दिखलाया है कि प्रधान रूप से निम्न उपायों के द्वारा उन्होंने हमारे रोजमर्रा के सामान्य जीवन पर रोमांस की असाधारणता तथा दीप्ति ला दी है—

(१) प्रेम,
(२) सामाजिक जीवन में सम्पर्क की विचित्रता,
(३) प्रकृति के साथ मानव-मन का निगूढ़ अन्तरंग सम्पर्क
(४) अति प्राकृत का सम्पर्क।

प्रेम की विचित्र लीला 'एक रात्रि', 'महामाया', 'समाप्ति', 'दृष्टिदान', 'माल्यदान', 'मध्यवर्तिनी', 'शास्ती', 'प्रायश्चित्त', 'मानभंजन', 'दुराशा', 'अध्यापक' और 'शेषेर रात्रि' इत्यादि कहानी में देखी जा सकती है। दूसरे पर्याय में 'काबुली वाला', 'पोस्ट मास्टर', 'मास्टर मशाय', 'पण रक्षा', 'कर्म-फल' आदि कहानियां आती हैं। तीसरे पर्याय में 'सुभा', 'अतिथि', 'तारापद', 'समाप्ति' आदि कहानियां आती हैं। चौथे पर्याय में 'निशीथे', 'मणिहारा', 'कंकाल', 'क्षुधित पाषाण' इत्यादि कहानियां हैं।

: १७ :

शरतचन्द्र

जिस समय रवीन्द्रनाथ बंगला के साहित्य-गगन में बहुत जोर-से चमक रहे थे, उन्हीं दिनों शरतचन्द्र का एकाएक आविर्भाव हुआ। बहुत-से साहित्यकार ऐसे होते हैं, जो धीरे-धीरे चमककर बाद को मध्याह्न सूर्य की तरह चमकते हैं, पर शरतचन्द्र जिस समय चमके, उस समय एकदम से मध्याह्न सूर्य की हीं तरह चमके। बात यह है कि वह प्रारम्भ में बिलकुल आत्मज्ञान-सम्पन्न कलाकार नहीं थे और एकलव्य की तरह अपने गुरुओं से भी दूर नीरव साधना कर रहे थे।

१८७६ ई० के १५ सितम्बर को बंगाल के हुगली जिले के एक छोटे-से गांव

देवानन्दपुर में शरतचंद्र का जन्म हुआ। उनके पिता मोतीलाल चट्टोपाध्याय साहित्य और कला के अनुरागी थे। उन्होंने चित्रकारी की, उपन्यास भी लिखा, किन्तु कभी कोई रचना पूरी नहीं कर पाये। कुछ दूर तक जाकर वह अपनी रचना को असम्पूर्ण छोड़कर आगे बढ़ जाते थे और दूसरा काम उठा लेते थे। इसी प्रकार वह कल्पना-विलासी जीव थे। उनकी कोई रचना पूरी नहीं हुई।

शरतबाबू उनकी नौ संतानों में एक थे। घर में बच्चों का ठीक-ठीक शासन नहीं होता था याने कभी जब बालक शरत पढ़ाई-लिखाई छोड़कर इधर-उधर चल देते थे तो कोई विशेष शोर नहीं मचाता था, पर जब वह लौटकर आते थे तो खूब मार पड़ती थी और वह पढ़ने के लिए भेजे जाते थे। इस प्रकार वह बार-बार भागते और बार-बार पढ़ने के लिए भेजे जाते थे। ऐसे बालक के लिए भविष्य में साहित्य-जगत के शीर्ष स्थान में पहुंचने की कल्पना नहीं की जा सकती थी, पर जीवन में ओत-प्रोत जिस तरह के साहित्य की शरतबाबू ने बाद में चलकर रचना की, उसके रचयिता होने के लिए कदाचित् इसी प्रकार का जीवन होना आवश्यक था। 'देवदास' और 'श्रीकांत' के लेखक के लिए ग्राम-जीवन की पूरी जानकारी ही नहीं, अनुभूतिपूर्ण व्यावहारिक जानकारी भी आवश्यक थी। 'देवदास' की पार्वती और 'श्रीकांत' की राजलक्ष्मी कपोल-कल्पित चरित्र नहीं हैं। ऐसे ही बहुत-से चरित्रों की चाभी उनके बचपन के जीवन में मिल सकती है।

उन्होंने अपने बचपन के सम्बन्ध में जो थोड़े-बहुत संस्मरण लिखे हैं, उनसे इस प्रकार की बहुत-सी बातों पर रोशनी पड़ती है।

किसी प्रकार वह १८ साल की उम्र में एंट्रेन्स की परीक्षा में पास हो गये। इन्हीं दिनों उन्होंने 'बासा' (घर) नाम से एक उपन्यास लिख डाला, परंतु यह रचना उनके मन के मुताबिक न होने के कारण, उन्होंने उसे फाड़कर फेंक दिया। उनके पिता मोतीबाबू तो किसी रचना को प्रस्तुत करते-ही-करते बीच में निराश होकर छोड़ देते थे, पर पुत्र ने रचना समाप्त तो कर ली! इस प्रकार शरत ने अपनी कई रचनाएं फाड़ डालीं। बहुत-से लोग यह समझते हैं कि शरतबाबू एकाएक परिपूर्ण तथा परिपक्व प्रतिभा के अधिकारी होकर साहित्य क्षेत्र में आये, यह गलत है। असल में उनकी नीरव साधना चलती रही।

वह रवीन्द्र साहित्य के साथ-साथ थैकारे, डिकेंस आदि उपन्यासकारों का अध्ययन करते रहे। हेनरी उड के प्रसिद्ध उपन्यास 'ईस्टलीन' के आधार पर उन्होंने 'अभिमान' नाम से एक उपन्यास लिखा था, साथ ही उन्होंने मेरी कारेली के 'माईटी ऐटम' पुस्तक का बंगला अनुवाद किया था, पर उनके छपने की नौबत नहीं आई।

यह सब उनकी साधना के सोपान थे। वह इस प्रकार लिखते जाते थे, पर साथ ही राजू नामक अपने एक मित्र के साथ बीच-बीच में कई-कई दिन गायब भी रहते थे।

वह लगन के बड़े पक्के थे। इसका एक उदाहरण यह दिया जाता है कि उन्होंने अपने एक साथी से कहा कि आज रात को मेरे पास कोई पढ़ने के लिए न आना। जब सवेरा हुआ और उनके साथी उनसे पढ़ने के लिए पहुंचे तो वह बोले—हमने तो तुम लोगों से अभी कहा था कि कोई मेरे पास आज मत आना, फिर तुम लोग क्यों आये ?

तब लोगों ने उनसे कहा कि महाराज, रात खतम हो गई और सवेरा हो गया। इसपर उन्होंने जंगला खोला, तब उन्हें पता लगा कि पढ़ते-लिखते रात बीत गई है। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि जीवन के साथ घनिष्ठ परिचय प्राप्त करने के साथ-साथ वह सारी रात आंखों में भी बिता देने में अग्रगण्य थे। भाषा की साधना तो उन्होंने पुस्तकों से ही की।

रवीन्द्रनाथ का प्रभाव उनपर बहुत अधिक पड़ा। लिखने की साधना उन्होंने बराबर जारी रक्खी। वह जीवन-संग्राम की थपेड़ों के कारण बीच ही में कालेज की पढ़ाई छोड़ने के लिए बाध्य हुए। उन्होंने बंकिम ग्रंथावली का पारायण किया। इस सम्बन्ध में पारायण शब्द इच्छापूर्वक प्रयुक्त हुआ है, क्योंकि उन्होंने स्वयं लिखा—"बंकिम को मैंने इतनी बार पढ़ा कि उनकी पुस्तकें जैसे कण्ठस्थ हो गई।"

इसी प्रकार वह जब बर्मा चले गये तो उनके साथ कवीन्द्र की कुछ पुस्तकें काव्य और कथा-साहित्य था। इन पुस्तकों को भी उन्होंने बार-बार पढ़ा। उन पुस्तकों को पढ़ते जाते थे और उनपर विचार करते जाते थे। इसीके साथ-साथ वह अंग्रेज़ी साहित्य का भी अध्ययन करते जाते थे। यहां यह बताने की

आवश्यकता नहीं है कि किस प्रकार से उन्होंने कौन-सी पुस्तक लिखी और कैसे-कैसे लिखी।

बर्मा में रहते समय वे बंगचंद्र दे नामक एक व्यक्ति के संपर्क में आये। यह आदमी विद्वान् था, पर साथ ही शराबी और उच्छृंखल था। इन दिनों शरतचन्द्र ने भी बहुत उच्छृंखल जीवन बिताया। शरतचन्द्र इन दिनों ३० रुपये मासिक के क्लर्क थे और वह मेस में रहते थे। इन्हीं दिनों उन्होंने 'चरित्रहीन' लिखा, जिसमें मेस-जीवन का वर्णन है, साथ ही मेस की नौकरानी से प्रेम की कहानी है।

साहित्य-जगत् में शरतबाबू का प्रवेश बड़े अजीब ढंग से हुआ। शरतचन्द्र जब बर्मा से भारत आये थे तो वे अपनी कुछ रचनाओं को भारत में एक मित्र के पास छोड़ गये थे। इस मित्र के कोई और मित्र थे। शरतबाबू को बिना बताये १८०७ में 'बड़ी दीदी' का धारावाहिक प्रकाशन शुरू हो गया। दो-एक किस्त निकलते ही लोगों में सनसनी फैल गई और वे कहने लगे कि शायद रवीन्द्रबाबू नाम बदलकर लिख रहे हैं। यह खबर कवीन्द्र तक पहुंची। कवीन्द्र ने उन किस्तों को पढ़ा, पढ़कर उनकी प्रशंसा की और यह साफ कह दिया कि मैं इनका लेखक नहीं हूं।

शरतबाबू को इसकी खबर साढ़े पांच साल बाद मिली कि उनकी कोई रचना प्रकाशित हुई है। बात यह है कि छापनेवालों ने शरतबाबू को अंक भी नहीं भेजा था। पर इसके बाद भी उन्हें अपना 'चरित्रहीन' छापने में बड़ी दिक्कत हुई। 'भारतवर्ष' मासिक पत्र के सम्पादक द्विजेन्द्रलाल राय ने इसे यह कहकर छापने से इंकार कर दिया कि यह सदाचार के विरुद्ध पड़ता है। सबसे आश्चर्य यह है कि द्विजेन्द्रबाबू ने ऐसा किया था।

जो कुछ भी हो, अब उनकी गाड़ी चल निकली और एक के बाद एक 'पंडित मोशाय', 'बैकुंठेर विल', 'मेज दीदी', 'दर्प चूर्ण', 'पल्ली समाज', 'श्रीकांत', 'अरक्षणीया', 'निष्कृति', 'मामलार फल', 'गृहदाह', 'शेष प्रश्न' आदि निकलते चले गये। उन्होंने बंगाल के क्रांतिकारी आंदोलन को लेकर 'पथेर दावी' उपन्यास लिखा। यह पुस्तक पहले 'बंगवाणी' मासिक पत्र में प्रकाशित हुई। जब यह पुस्तक धारावाहिक रूप में निकल रही थी, तभी इसपर सरकार की कोप-दृष्टि पड़ चुकी थी। पुस्तकाकार छपने पर तीन हज़ार का संस्करण तीन महीने में

समाप्त हो गया। इसके बाद ब्रिटिश सरकार ने इस पुस्तक को जब्त कर लिया।

जो कुछ पहले लिखा जा चुका है, उससे यह स्पष्ट हो चुका है कि शरतबाबू अपने लिखने का उपकरण जीवन से लेते थे, उन्होंने विशेषकर अपने जीवन से बहुत-सी बातें लीं। वे स्वयं एक यशस्वी आवारागर्द थे। 'चरित्रहीन' का सतीश, 'श्रीकांत' का श्रीकांत, 'पल्ली समाज' का रमेश, 'देवदास' का देवदास पक्के आवारागर्द हैं। इसी प्रकार 'बड़ी दीदी' का सुरेंद्र, 'दत्ता' का नरेंद्र, 'गृहदाह' के सुरेश और महिम आवारागर्द नहीं तो उनका रुझान आवारागर्दी की ओर है। 'पथेर दावी' का डाक्टर एक क्रांतिकारी है, पर एक क्रांतिकारी इसके सिवा क्या है कि उसकी आवारागर्दी क्रांति को लाने के लिए है।

यह सभी मानते हैं कि शरतचन्द्र के पुरुष पात्रों से उनके उपन्यासों की नायिकाएं हृदय पर अधिक प्रभाव डालनेवाली हैं। शरतचन्द्र की जनप्रियता केवल उनकी कलात्मक रचना अथवा नपे-तुले शब्दों या जीवन से ओत-प्रोत घटनावलियों के कारण नहीं है, बल्कि उनके उपन्यासों में नारी को जो हमेशा के परम्परागत बंधनों से मुक्ति मिली, वह सबसे बड़ी बात है। भारतीय नारियां धर्म, गतानुगतिकता तथा पैसे के संयुक्त मोर्चे के कारण युगों से पिसी जा रही थीं। अब शरत की रचनाओं में उन्हें मुक्ति मिली। युग-युगांतर को उनके पैरों की भारी बेड़ियां जैसे झनझना कर टूट गईं। उन्होंने भी जाना कि जीवन में उनका भी कुछ भाग है, जो सर्वदा गौण ही हो, ऐसा नहीं। शरतचन्द्र की पुस्तकों में बार-नारियों का चरित्र भी सहानुभूतिपूर्वक चित्रित है। हमें उनको देखकर ऐसा मालूम होता है कि वे भी मनुष्य योनि की सदस्या हैं, उनमें भी वैसा ही धड़कता हुआ दिल है, जो किसीसे निकृष्ट नहीं।

डा० कैलासनाथ काटजू ने शरतचन्द्र पर एक लेख में लिखा था—"मेरा अनुमान है कि शरतबाबू ने अपनी कला का परिचय अपने नारी पात्रों में ही दिया। उनके नारी पात्र अपनी विशिष्टता लिये हुए जैसे एक के बाद एक हमारे मनश्चक्षु के आगे घूम जाते हैं और उनमें से कौन अधिक श्रेष्ठ है, इसका निर्णय करना कठिन हो जाता है, क्योंकि प्रत्येक नारी पात्र अपने स्थान पर एकदम अद्भुत है। इनमें से सर्वश्रेष्ठ और सबसे अधिक आकर्षक कौन है, यह हर पाठक अपनी रुचि और भावना के अनुसार ही तय कर सकता है। यह बहुत-कुछ आदमी के अपने स्वभाव पर भी निर्भर करता है। जहांतक मेरा संबंध है, मैं तो १९४१ में

'श्रीकांत' की राजलक्ष्मी से प्रथम साक्षात्कार होने पर ही अपना दिल उसे दे बैठा हूं। यह एक तरह पहली दृष्टि में प्रेम होने की-सी बात है और मुझे यह कहने में गर्व है कि इस बात को आज १५ वर्ष बीत चुके हैं, फिर भी जैसे राजलक्ष्मी मुझे अपना बंदी बनाये हुए है।"[1]

डा० काटजू साहित्य के विद्वान के रूप में प्रसिद्ध नहीं हैं, पर वह अपने ढंग के एक प्रतिभाशाली व्यक्ति हैं, इसलिए उनकी प्रतिक्रिया को हम उच्च शिक्षित वर्ग की प्रतिक्रिया मान सकते हैं। केवल उच्च शिक्षित ही नहीं, किसी प्रकार पढ़-लिख लेनेवाला प्रत्येक भारतीय शरतबाबू के उपन्यासों को पसन्द करता है। शायद यह कहना अत्युक्ति न होगी कि सारे भारत में शरतबाबू की पुस्तकों का जितना प्रचार हुआ, उतना प्रचार रविबाबू की पुस्तकों का भी नहीं हुआ। पर जब हम इससे आगे बढ़ते हैं याने विश्व-साहित्य में देखते हैं तो रविबाबू के साहित्य का प्रसार शरत-साहित्य से कहीं अधिक हुआ। क्या इसका कारण केवल यही है कि रविबाबू को अंग्रेजी में अनुवाद करनेवालों का अधिक सहयोग मिला या इसका कारण यह है कि शरतबाबू में भारतीय तत्व बहुत अधिक हैं?

उपन्यासकार के रूप में शरतबाबू रविबाबू से श्रेष्ठ रहे, इसमें कोई सन्देह की गुंजाइश नहीं है, पर शरतबाबू में हम एक कमी भी देखते हैं। जिस गरीबी के कारण शरतबाबू एफ० ए० की परीक्षा में नहीं बैठ पाये, जिस गरीबी के कारण उन्होंने एक तरह से अपने भाई तथा बहनों को रिश्तेदारों में बांट-सा दिया तथा जिस गरीबी में वह बराबर गोता खाते हुए इधर-से-उधर धक्के खाते फिरे, उसकी तथा मध्यवित्त श्रेणी की सबसे बड़ी समस्या बेकारी का उनके उपन्यासों में कहीं पता नहीं। 'बड़ी दीदी', 'दत्ता', 'देवदास', 'पल्ली समाज', 'गृहदाह', 'बाम्हन की लड़की', 'शेष प्रश्न' कहीं भी कोई बेकारी से पीड़ित नज़र नहीं आता। 'पल्ली समाज' में गरीबी का कुछ चित्रण अवश्य है, पर गरीबी के अनिवार्य नतीजे के रूप में ग्रामवासियों के दुर्गुणों को जैसे एक-दूसरे से ईर्ष्या, बेईमानी, झूठी गवाही तथा कुसंस्कारों पर ज़ोर न

[1] नया समाज, फरवरी १९५६

देकर शरतबाबू ने इनको मुख्यतः अशिक्षा के मत्थे मढ़ा है, जो सत्य होते हुए भी पूर्ण सत्य नहीं है ।

इस कमी के अतिरिक्त शरतबाबू ने समसामयिक मध्यवित्त समाज का बहुत सुन्दर चित्रण किया है । शरतचन्द्र बहुत अंशों में एक क्रांतिकारी थे, पर उनके क्रांतिकारित्व में भी अपरिवर्तनवादिता का पुट बहुत गहरा है । 'चरित्रहीन' उपन्यास को ही लिया जाय । उसमें सतीश और सावित्री में परस्पर गहरा प्रेम होते हुए भी उनका मिलन नहीं होता। सतीश तो सरोजिनी से मिला दिया जाता है, पर सावित्री का क्या होता है ? शरतबाबू अपने इस आदर्शवाद को बहुत अच्छी तरह छिपा लेते हैं और यह दिखलाया गया कि सावित्री ने जान-बूझकर सतीश को सरोजिनी के हाथों सौंप दिया । इससे सावित्री का चरित्र जिस गौरवमय रंग में रंगा जाकर पाठक के सामने आता है, वह अनोखा है, पर साथ ही यह एक दकियानूसी गौरव है, प्रेम की विजय होकर भी नहीं होती या यों कहा जा सकता है कि उसकी विजय का धोखा होता है, क्योंकि प्रेम की विजय केवल अफलातूनी सतह पर ही होती है ।

यही बात 'देवदास' की पार्वती के साथ, बल्कि पार्वती और देवदास दोनों के साथ होती है । आजन्म प्रेम का क्या नतीजा दिखाया गया है ? यही न कि दोनों में मिलन नहीं होता और वह इस कारण कि जिस किसी तरह भी हो, पार्वती का विवाह एक दूसरे व्यक्ति से हो चुका है । यहां प्रेम का तकाजा तो यह है कि पार्वती अपने विवाहित पति को छोड़ देती या तलाक दे देती और हृदय के पति के साथ विवाह कर लेती । पर जैसा कि मैंने पहले लिखा था 'यदि शरतबाबू अपने उद्‌भावनशील मस्तिष्क से कोई तरीका निकालकर पार्वती को देवदास के निकट पहुंचा देते तो वह हिंदू विवाह की भयानक ट्रेजेडी को अपनी कला के मुकुर में कैसे दिखा पाते ? इसलिए उन्होंने पार्वती और देवदास के प्रेम को वहीं पहुंचा दिया है, जहां पहुंचाने से घर-घर में होनेवाली हिंदू विवाह की ट्रेजेडी को बिल्कुल मूर्त कर पाते । इस प्रकार हम एक अजीब परिस्थिति में पहुंचते हैं और वह यह कि पार्वती और देवदास का मिलन न कराने पर ही प्रेम की जय के लिए सबसे बड़ा मुकदमा बनकर तैयार होता है । इस प्रकार हम हैं और नहीं भी, इस विरोधाभास-पूर्ण मत पर हमने उनकी कला के संबंध में पहुंचते हैं ।

उनके उपसंहार बिल्कुल आदर्शवादी हैं। प्रेम की जो पराकाष्ठा होनी चाहिए, वहांतक पाठक को पहुंचा देते हैं, पर उसे इस भोंड़ेपन से विजय में परिणत नहीं कराते कि असली मामला ही बिगड़ जाय। 'देवदास' में तलाक के लिए एक उचित मुकदमा प्रस्तुत होता है। 'चरित्रहीन' विधवा-विवाह के लिए एक तर्क पेश करता है, यद्यपि उसमें सरोजिनी के बीच में आ जाने के कारण अच्छी तरह उभर नहीं पाया। 'पल्ली समाज' में विधवा-विवाह का तर्क 'चरित्रहीन' से कहीं साफ है।

क्या कारण है कि शरतबाबू अपने युग की सबसे बड़ी समस्या गरीबी, शोषण, बेकारी की ओर उतना नहीं झुके ? उसका कारण यह है कि उन्हें नर और नारी के प्रेम में समाज के शासन-दंड की निर्दय मूर्ति दिखाई पड़ी। यह तो कलाकार की बात है, उसे सबसे अधिक कौन-सी बात क्षुब्ध करती है। रहा यह कि पराधीनता की ज्वाला का अनुभव वह कर चुके थे, इसीका नतीजा यह था कि उन्होंने 'पथ के दावेदार' नामक उपन्यास लिखा। जैसा कि बताया जा चुका है, यह उपन्यास जब्त भी हो गया था। 'महेश' आदि कुछ कहानियां भी उन्होंने लिखी थीं, जिनमें शोषण का प्रश्न बहुत उभरकर सामने आया है।

: १८ :

अन्य उपन्यासकार तथा लेखक

कुछ ऐसे उपन्यासकारों का भी परिचय दे देना उचित होगा, जिन्हें अति आधुनिक उपन्यासकारों में हम नहीं गिन सकते, पर वे इसी शताब्दी के आरंभ की ओर प्रसिद्ध हुए और अच्छे उपन्यास लिख गये। ऐसे उपन्यासकारों में **प्रभातकुमार मुखोपाध्याय** का नाम सबसे अधिक उल्लेखनीय है। रवीन्द्र और शरत् के चकाचौंध में जिन उपन्यासकारों को बंगला में और इसलिए बंगला के बाहर उचित सम्मान न मिल सका, उनमें वे प्रमुख हैं। प्रभातबाबू ने कई उपन्यास लिखे। उनका पहला उपन्यास 'रमा सुन्दरी' बं० सन् १३०९-१० में 'भारती' पत्रिका में धारावाहिक रूप से प्रकाशित होता रहा। इसमें एक स्त्री

रमा सुन्दरी का चरित्र-चित्रण है, जो विवाह के पहले तक बड़ी ही नटखट, साहसी रहती है, उसमें स्त्री का स्वभाव बिल्कुल नहीं है, पर विवाह के बाद ही वह स्नेहशीला पत्नी बनकर रह जाती है।

बाद को प्रभातबाबू ने 'नवीन संन्यासी', 'रत्नदीप', 'सिन्दूर कौटा', 'जीवनेर मूल्य', 'मनेर मानुष' आदि बहुत-से उपन्यास लिखे। कहानियां लिखने में उन्हें विशेष सफलता मिली। उनकी अधिकांश कहानियां हास्य रस की हैं। कुछ कहानियां अवैध प्रेम के संबंध में भी हैं। उनकी कई कहानियां स्वदेशी आंदोलन पर हैं। रवीन्द्र के बाद कहानियों की धारा को अक्षुण्ण रखने में उन्हें एक बड़ी कड़ी मानना पड़ेगा।

बंगला के गद्यकारों में **प्रथम चौधरी** बहुत ही प्रमुख व्यक्ति हो गये हैं। यों तो उन्होंने कहानियां लिखीं और वे कहानियां अपने समय में बहुत प्रसिद्ध भी हुईं, पर बंगला-साहित्य में उनका सबसे बड़ा दान बोल-चालवाला गद्य है। उन्होंने संपूर्ण रूप से बोलचाल की भाषा को अपनाकर एक नई शैली की स्थापना की, जिसका प्रभाव सारे साहित्य पर पड़ा। उनकी 'चारयारी कथा' चार कहानियों का संग्रह है, पर उनमें एक अंतर्निहित योगसूत्र भी है। आज यदि उनकी रचनाओं को पढ़ा जाय तो यह नहीं पता लग सकता कि वे क्यों अपने समय के साहित्य पर इतना अधिक प्रभाव डालने में समर्थ हुए। बोल-चाल की भाषा को साहित्य में सुप्रतिष्ठित करना यह उन्हींके उद्यम और अध्यवसाय का काम था। इस संबंध में उनकी सेवा कितनी बड़ी है, यह श्री कुमार वन्द्योपाध्याय के इन वाक्यों से ज्ञात होगा—

"मुख्य रूप से उन्हींके समर्थन के कारण बोल-चाल की भाषा साहित्य की ड्योढ़ी पर एक भिखारी की तरह नहीं, बल्कि समान शक्तिशाली प्रतिद्वंद्वी की तरह साधु भाषा के सिंहासन के आधे अंश पर अधिकार जमाकर बैठ गई है, यहांतक कि रवीन्द्रनाथ ने भी उनकी उक्ति व दृष्टांत से अनुप्राणित होकर अपनी परवर्ती रचनाओं में बोल-चाल की भाषा का प्रचलन किया। इसलिए उपन्यासकार की दृष्टि से उनका स्थान उतना ऊंचा न होने पर भी हमारी जड़ीभूत विचारधारा में नये स्रोत का वेग पहुंचाना और बुद्धि प्रधानता युक्त मनोवृत्ति प्रतिष्ठित करने का श्रेय उन्हें मिलना चाहिए। इस विषय में वे अंग्रेजी साहित्यकार चेस्टरटन के समतुल्य हैं। यद्यपि उनमें चेस्टरटन की तड़ित प्रभा

की तरह चकाचौंध कर देनेवाली बुद्धि की असिक्रीड़ा का अभाव है।"

राजशेखर वसु उर्फ परशुराम अपने ढंग के एक ही लेखक थे। कभी वे धर्म पर व्यंग करते हैं तो कभी समाज-व्यवस्था पर, तो कभी चिकित्सा-प्रणाली पर, कभी राजनीति पर। उनकी बहुत-सी रचनाओं का हिंदी में अनुवाद हुआ है और बराबर होता जाता है। उनकी रचना को एक विशेष श्रेणी में लाना संभव नहीं है, क्योंकि हास्य से संबद्ध सभी प्रकार के अस्त्र उनके निकट मौजूद थे।

श्री केदारनाथ वन्द्योपाध्याय हास्य रस के एक बहुत प्रसिद्ध लेखक हुए हैं। बंगला-साहित्य में वह हास्य रस के कदाचित् सबसे प्रसिद्ध लेखक माने जाते हैं, पर उनका हास्य रस-भाषा से इस प्रकार बंधा हुआ है कि वह बंगला के बाहर प्रसिद्धि प्राप्त नहीं कर सके।

: १९ :

दीनबन्धु के बाद बंगला नाटक और रंगमंच

हमने बंगाल के रंगमंच पर दीनबन्धु मित्र के समय तक लिखा था। इस अध्याय में उसके बाद का विवरण लिखा जायगा।

महाराजा सर (उस समय केवल बाबू) यतीन्द्र मोहन ठाकुर ने अपनी पाथुरिया घाटावाली हवेली में पाथुरिया घाटा रंगमंच स्थापित किया। २५ साल तक यह रंगमंच उनके भारतीय तथा यूरोपियन मित्रों का मनोरंजन करता रहा। यतीन्द्र मोहन ने १८५८ में 'विद्या सुंदर' के अश्लील अंशों को निकाल कर एक संस्करण प्रकाशित किया था। १८६५ में इसका दूसरा संस्करण प्रकाशित हुआ। कुछ अंश निकालने के अतिरिक्त कुछ अंश जोड़े भी गये थे। ६ जनवरी १८६६ को 'विद्यासुंदर' का अभिनय हुआ। आगे भी कई बार इसका अभिनय किया गया। कहा जाता है कि उन्हीं अभिनयों के एक मौके पर रीवां के राजासाहब उपस्थित थे और वह अभिनय से इतने खुश हुए कि उन्होंने काश्मीरी शालों का एक गट्ठा मंगाकर अभिनेताओं में बांटना चाहा, पर उन्हें

बताया गया कि ये अभिनेता शौकिया अभिनय करनेवाले हैं, अतएव ये किसीसे कुछ लेते नहीं हैं। १३ जनवरी १८६६ के अंग्रेज़ी पत्र 'बंगाली' में इस अभिनय की बड़ी लम्बी प्रशंसा निकली।

बाद के प्रसिद्ध अभिनेता अर्द्धेन्दु शेखर मुस्तफी इन अभिनयों से बहुत प्रभावित हुए और उसका शिक्षारंभ यहीं से हुआ।

अगला प्रहसन 'बूझले कि ना' (समझे कि नहीं) का अभिनय १५ दिसंबर १८६६ को हुआ। १८६६ में पं० रामनारायण तर्करत्न द्वारा अनूदित 'मालती माधव' तथा १८७० में यतीन्द्र मोहन लिखित 'उभय संकट' और 'चक्षुदान' का अभिनय हुआ। इन नाटकों में से प्रथम में बहु-विवाह के विरुद्ध लिखा गया था। 'रुक्मिणी-हरण' नाम से एक नाटक भी खेला गया।

लार्ड मेयो की हत्या के कारण यह रंगमंच बंद कर दिया गया, पर १८७३ की २० फरवरी को फिर यह खुला और उस अवसर पर लार्ड नाथब्रुक आदि कई बड़े अंग्रेज़ अधिकारी आये। 'उभय संकट' खेला गया।

इसके बाद १८८१ में राजा सौरेन्द्र मोहन ठाकुर द्वारा लिखित 'रसाविष्कार वृन्दक' प्रस्तुत किया गया। इसमें विभिन्न रसों का समावेश करने के लिए कई अलग-अलग भाग थे। यह पाथुरिया घाटा में खेला गया। इस रंगमंच को अच्छे-से-अच्छे संगीतज्ञ का सहयोग प्राप्त हुआ तथा संगीत में कई नये प्रयोग किये गए। इसमें कोई संदेह नहीं कि पाथुरिया घाटा रंगालय मुख्यतः एक व्यक्ति का होने पर भी राष्ट्रीय संस्था के रूप में हो गया।

बंगला के रंगमंच के विकास में महर्षि देवेन्द्रनाथ तथा उनके परिवार का दान बहुत ही महान है। सच तो यह है कि कला तथा साहित्य के क्षेत्र में ठाकुर-परिवार का दान बहुत ही अधिक रहा। पहले ही इसका कुछ उल्लेख आ चुका है। द्वारकानाथ के पुत्र गिरीन्द्रनाथ ने 'बाबू विलासी' नाम से एक नाटक की रचना की थी। इसी प्रकार उनके दूसरे पुत्र नगेन्द्रनाथ ने एक रंगालय खोलने की चेष्टा की थी। रवीन्द्रनाथ ठाकुर की बात तो यहां छोड़ दी जाती है, पर ज्योतिरिन्द्रनाथ भी अच्छे नाटककार थे और उनके लिखे हुए नाटक 'पुरुविक्रम', 'अश्रुमती' और 'सरोजिनी' बार-बार खेले गए और बहुत सफल रहे।

ठाकुर-परिवार ने जोड़ासांको रंगालय स्थापित किया। इसमें ठाकुर-परिवार के कई लोगों के अलावा अर्द्धेन्दु शेखर मुस्तफी भी अभिनय करते थे। यहां खेलने

के लिए बहु-विवाह के विरुद्ध एक नाटक प्रस्तुत करने के लिए विज्ञापन दिया गया, जिसमें कहा गया कि चुने जाने पर नाटककार को २०० रुपये पुरस्कार दिये जायंगे। यह पुरस्कार 'नवनाटक' लिखने पर रामनारायण को मिला। यह १८६५ के लगभग की बात है। 'नवनाटक' के बाद 'मनोमयी', 'अलीक बाबू', 'हिंदू महिला' आदि नाटक सामने आये। १८८१ के २६ फरवरी को रवीन्द्रनाथ का नाटक 'बाल्मीकि प्रतिभा' खेला गया।

ऊपर जिन नाट्यशालाओं की बात लिखी गई, उनके अतिरिक्त शोभा बाज़ार में भी एक नाटक समाज था, जिसने कई नाटक खेले। बाद को बहु बाज़ार रंगालय की स्थापना हुई। इसमें सुप्रसिद्ध कवि और नाटककार मनमोहन बसु सामने आये। इनका पहला नाटक 'रामाभिषेक' १८६८ के आरंभ में खेला गया। इसके बाद उन्होंने 'सती' नाटक लिखा, जो १८७२ में खेला गया। फिर १८७४ में उन्हींका 'हरिश्चन्द्र' और बाद को कन्हाईलाल का 'जानकी हरण' नाटक भी जनप्रिय हुआ। स्मरण रहे कि नये लोगों के इन नाटकों के साथ-साथ पुराने नाटकों का अभिनय भी जारी था।

बंगला नाटकों के क्षेत्र में **गिरिशचन्द्र घोष** एक महान विभूति हो गये हैं। १८६७ में उनकी उम्र २२ या २३ के लगभग थी। जिन नाट्यगृहों या रंगालयों की बात कही गई, उनमें साधारण लोगों का प्रवेश संभव नहीं था। इसी से जोश में आकर गिरिश घोष ने नया नाट्यगृह खोलने का प्रण किया। वह उन दिनों एक क्लर्क थे। पहले उन्होंने माइकेल मधुसूदन रचित 'शर्मिष्ठा' को जात्रा के रूप में दिखलाया। इसके लिए उन्होंने कुछ नये गीत लिखवाने चाहे, पर जिन महाशय को यह काम सौंपा गया था, वह पहले तो राज़ी हो गये, पर बाद में समय पर गीत न दे सके, तब गिरिशबाबू ने मजबूरी से स्वयं गीतों की रचना की। ये गीत सफल रहे। इस प्रकार वह अपनी रचना-शक्ति से भी परिचित हो गये। धीरे-धीरे इसी से बाग बाज़ार शौकिया नाट्यशाला का जन्म हुआ। गिरिशचन्द्र दूसरे के नाटकों में कुछ गाने अवश्य जोड़ देते थे।

धीरे-धीरे इस नाट्यशाला की इतनी ख्याति हुई कि गिरिशचन्द्र बहुत प्रसिद्ध हो गये। अवश्य ही गिरिशचन्द्र को कई अन्य गुणी लोगों का सहयोग प्राप्त हुआ था, जिनमें दीनबन्धु सबसे प्रमुख हैं। बाद को गिरिशचन्द्र और दीनबन्धु बंगला के सार्वजनिक रंगमंच के पिता माने गये। अर्द्धेन्द को भी यहीं से चमकने

का मौका मिला । 'सधवार एकादशी' (सधवा की एकादशी), 'विये पगला बूडो' (ब्याह के लिए पागल बुड्ढा) आदि कई नाटक इसमें खेले गये । इन्हीं दिनों एक अंग्रेज नाविक भी आ गया, जिसके संबंध में मालूम हुआ कि वह पेन्टरों का रंग बनाने में निपुण है । बस उसे काम पर लगा लिया गया और नई नाट्यशाला का काम धूमधाम से चलने लगा । इस नाट्यशाला का नाम राष्ट्रीय नाट्यशाला रक्खा गया । इधर-उधर से और भी गुणी लोग जुटने लगे ।

'लीलावती' नामक एक नाटक खेला गया, जिसकी बड़ी प्रशंसा की गई । यह १८७१ की बात है । यह विवाद चलने लगा कि नाटक देखनेवालों से पैसा लिया जाय या नहीं । गिरिशचंद्र इसके विरुद्ध थे । यह मामला कुछ दिनों तक विचाराधीन रहा । कहते हैं, इस विषय पर इतना बड़ा मतभेद हुआ कि गिरिश-बाबू उस समय इस कार्य से ही अलग हो गये ।

१८७३ में शिशिरकुमार घोष का एक नाटक भी खेला गया । अभी तक नाटकों पर संस्कृत का प्रभाव बुरी तरह छाया हुआ था, पर उससे बचने का कोई रास्ता भी नहीं निकला था । अवश्य माइकेल के नाटकों में इसका व्यतिरेक था । यद्यपि गिरिशचंद्र मतभेद के कारण अलग हो गये थे, पर माइकेल मधुसूदन का 'कृष्ण कुमारी' जब खेला जाने लगा तो उन्हें बुलाया गया और वे भीमसिंह का पार्ट लेने पर तैयार हो गये । इस समय कई प्रसिद्ध अभिनेताओं में न केवल आपस में अनबन ही रहती थी, बल्कि कई बार एक-दूसरे के खिलाफ यह भी अभियोग लगाया जाता रहा कि पैसे का ठीक हिसाब नहीं हो रहा है । इससे नाटक-समाज के कई टुकड़े होते रहे, फिर जब बंट जाने के कारण वह असफल होने लगे, तब वे फिर मिलने लगे ।

बंगाल थियेटर नामक नाट्य-समाज को ही यह श्रेय दिया जाता है कि उसने फिर एक बार नाटक की पात्रियों के स्थान पर स्त्रियों का प्रचलन किया, पर उन दिनों इसका बड़ा विरोध हुआ । अखबारों ने इसकी काफी निन्दा की । यह स्मरण रहे कि माइकेल मधुसूदन के परामर्श से ही अभिनय के लिए स्त्रियों को स्थान दिया गया था ।

पैसे लेकर नाटक दिखाना पहले-पहल विशेष सफल नहीं रहा, पर जब 'इश् महन्तेर एकी काज' (छिः महन्त की यह क्या करतूत) खेला गया तबसे नाट्यशाला के सारे आसन भरने लगे । कहा जाता है, इस नाटक का बहुत सफल

अभिनय हुआ। इसके बाद 'कादम्बरी', 'एराई आबार बांगाली' (यही लोग बंगाली हैं), 'अजमेर कुमारी', 'बंगेर पराजय', 'सती कि कलंकिनी' (सती या कलंकिनी), 'कपालकुंडला', 'बंग-विजेता' आदि नाटक खेले गए।

बंगाल के रंगमंच के इतिहास में १८७३ के ३१ दिसम्बर को बीडन स्ट्रीट में ग्रेट नेशनल थियेटर का खुलना एक बड़ी बात है। इसमें 'नील दर्पण' आदि पुराने नाटकों के साथ-साथ नये नाटक भी खेले जाने लगे। १८७४ की १४ फरवरी को 'मृणालिनी' नाटक खेला गया, जिसमें गिरिश घोष ने पशुपति के रूप में ऐसा सुन्दर अभिनय किया कि उनकी प्रतिभा का लोहा सब लोग मान गये। गिरिश ने मूल नाटक में कुछ नये अंश जोड़ दिये थे, जिससे नाटक आकर्षक हो गया था। इस समय साथ-साथ दो बड़ी नाट्यशालाएं काम कर रही थीं। एक पूर्वोल्लिखित बंगाल थियेटर और दूसरी ग्रेट नेशनल। ग्रेट नेशनल में गिरिश आदि होने पर भी बंगाल थियेटर में स्त्रियों का पार्ट स्त्रियों के द्वारा कराये जाने के कारण वह इसके मुकाबले में अधिक सफल हो रहा था, यहांतक कि वही 'मृणालिनी' नाटक, जिसमें गिरिश ने इतना कलापूर्ण काम किया था, जब बंगाल थियेटर द्वारा खेला गया तो वह कहीं अधिक सफल हुआ।

इससे ग्रेट नेशनलवाले मजबूर हुए और उन्होंने 'सती या कलंकिनी' नाटक में एक साथ ६ अभिनेत्रियां पेश कर दीं। इसपर गिरिश फिर एक बार नाराज हुए और कुछ दिनों के लिए रंगमंग से अलग हो गये। बाद को कुछ अच्छे लोग ग्रेट नेशनन्ल छोड़कर बंगाल थियेटर में चले गये, इसका कारण था मालिक के साथ आर्थिक खटपट।

बाहर कुछ लोग नाटक-कम्पनियों के विरुद्ध बहुत ज़ोर से आन्दोलन करने लगे। उनका कहना यह था कि इनको केन्द्र बनाकर व्यभिचार-लीला चलती है। सरकार ने इसका पूरा फायदा उठाया और रंगमंच का गला घोंटने के लिए इस परिस्थिति का स्वागत किया। ग्रेट नेशनल थियेटर धर्मदासबाबू को मैनेजर बनाकर उत्तर भारत का दौरा कर रहा था। जब लखनऊ में अभिनय हो रहा था और दृश्य वह था, जिसमें मि० रोग क्षेत्रमणि पर हमला कर रहे थे, वह लड़की दुहाई मांगकर कह रही थी कि साहबजी, आप हमारे पिता हैं, तब मि० रोग उसे यह कहकर घसीटने लगे कि मैं तुम्हारा बाप नहीं, मैं तुम्हारे लड़के

को बचा लिया। क्षेत्रमणि अपने एक उद्धारक के साथ चली गई और एक दूसरे उद्धारक मि० रोग को घूंसा और लात जमाने लगे।

इसपर उपस्थित गोरे दर्शक बहुत उत्तेजित हो गये और उनमें से कुछ लोग उस उद्धारक पर, जो असल में मतिलाल सूर थे, टूट पड़े। बड़ी कठिनाई से शान्ति स्थापित हुई। जिला मजिस्ट्रेट ने फौरन खेल बन्द कर दिया और पुलिस की सहायता से कम्पनी के लोगों को स्टेशन भिजवाकर कलकत्ता रवाना कर दिया गया।

श्री हेमेंद्रनाथ दास गुप्त के अनुसार नाटक में अवश्य ही नील के साहबों का जुर्म दिखाया गया था, पर इसका कोई राजनैतिक उद्देश्य नहीं था। फिर भी शासकों को इस प्रकार के नाटक अखर रहे थे। बाद को जो 'भारत मातार विलाप' नाटक खेला गया, वह कुछ राजनैतिक था। जिस समय इस नाटक का वह अंश अभिनीत होता था, जिसमे सत्येंद्रनाथ ठाकुर का यह गीत गाया जाता था 'मलिन मुख चंद्रमा भारत तोमारि', उस समय लोग आंसू नहीं रोक पाते थे। यह नाटक 'अमृत बाजार पत्रिका' में प्रकाशित हुआ था। (पहले यह पत्र बंगला में था) १८७५ में 'पुरु विक्रम' और 'भारते यवन' खेले गये थे। इनमें भी राष्ट्रीय भावनाओं का पुट था। इसके बाद 'हीरक चूर्ण', 'सुरेंद्र विनोदिनी' आदि अन्य कई इसी प्रकार के नाटक खेले गये। इन नाटकों से किसी-न-किसी रूप में देशभक्ति का प्रचार था। सरकार का ध्यान इस ओर गया और वाइसराय की व्यवस्थापिका परिषद् में मि० हाबहाउस ने यह स्पष्ट रूप से कहा कि नाटक बहुत खतरनाक वस्तु है और नाटककार के लिए अपने दर्शक के मन पर किसी भी प्रकार का प्रभाव उत्पन्न करना बायें हाथ का खेल है।

इन्हीं दिनों प्रिंस ऑव वेल्स (बाद में सप्तम एडवर्ड) भारत आये। वह कलकत्ते के एक प्रसिद्ध वकील जगदानन्द मुखर्जी के घर पर पधारे और अंतः-पुर की ओर से उन्हें बहुमूल्य अलंकार और कपड़े भेंट किये गए। वहां राज-कुमार का बंगाली ढंग से उलूध्वनि करके स्वागत भी हुआ था। राजकुमार श्रीमती मुखर्जी तथा उनकी सहेलियों के आभूषणों आदि को देखकर इतने चकित हो गये कि जाते समय जगदानंदबाबू से यह कह गये कि मैं आपके मकान में और अपने विंडसर प्रासाद में कोई फर्क नहीं देखता।

बात छोटी-सी थी, पर लोगों में राजद्रोह की भावनाएं उत्पन्न हो रही थीं

और उन्होंने राजकुमार को किसीके अंतःपुर में जाने की अनुमति देना पसंद नहीं किया। सैकड़ों गाने इसके विरोध में बन गय और ग्रेट नेशनल थियेटर में 'सरोजिनी' के साथ-साथ 'गजानन्द' प्रहसन भी खेला गया, जिसमें मुखर्जीसाहब की हँसी उड़ाई गई। इसपर बंगाल सरकार बहुत नाराज़ हुई और इस प्रहसन की पुनरावृत्ति के निषिद्ध हो गई। पर नाम बदल-बदलकर यह प्रहसन चलता रहा।

जगदानन्दबाबू की हालत इतनी बिगड़ गई कि उन्हें पुलिस का संरक्षण देना पड़ा। बंगाल सरकार के कहने पर वाइसराय लार्ड नार्थब्रुक ने नाटकों को रोकने के संबंध में एक आर्डिनेंस जारी कर दिया। 'अमृत बाजार पत्रिका' ने इस कानून के विरुद्ध आवाज़ उठाई। तभी मि० हाबहाउस को व्यवस्थापिका परिषद् के सामने कानून की मांग करते हुए भाषण देना पड़ा। मि० हाबहाउस ने दक्षिणा चटर्जी लिखित 'चाकर-दर्पण' नामक चायबगान पर लिखित नाटक का भी हवाला दिया। यह नाटक तो अभी खेला नहीं गया था, केवल प्रकाशित हुआ था। इस नाटक में भी अंग्रेजों के अत्याचार तथा मनमाने ढंग का विवरण रोचक रूप में दिया गया था।

बाद को उपेन्द्रबाबू लिखित 'सुरेन्द्र विनोदनी' नामक नाटक पर भी शासक-वर्ग की ओर से बड़ा कोहराम मचाया गया। यद्यपि यह नाटक कई जगह और भी खेला जा चुका था, पर जब ग्रेट नेशनल में १८७६ के १ मार्च को इसका अभिनय हुआ, तब इसपर आर्डिनेंस के अनुसार निषेधाज्ञा जारी कर दी गई। इस नाटक में एक जगह मजिस्ट्रेट मैकक्रिम्बल कहता था, 'मैं न तो शेर हूं न भालू।' सुप्रसिद्ध नाट्यकार और अभिनेता श्री अमृतलाल वसु मैकक्रिम्बल का पार्ट खेलते हुए इतना बोलकर यह भी बोल गये कि मैं न तो सूअर हूं न भेड़। पर निषेधाज्ञा देते समय इंस नाटक पर अश्लील होने का अभियोग लगाया गया। इस नाटक में एक और दृश्य आता था, जिसमें मैकक्रिम्बल ब्रजमोहिनी पर हमला कर देता था और उसे अपनी बाहों में बांधकर कुछ कहता था।

कई व्यक्तियों पर, जिनमें उपेंद्रबाबू और अमृतलाल वसु भी थे, गिरफ्तारी का परवाना जारी किया गया और ४ मार्च को जब 'सती या कलँकिनी' का अभिनय चल रहा था, उस समय ये लोग गिरफ्तार कर लिये गए। अभिनेत्रियां यह देखकर रोने लगीं और खेल बीच ही में खतम हो गया।

जब इस गिरफ्तारी की बात कलकत्ते में फैल गई तो लोग बहुत नाराज़ हुए और बड़े-बड़े अच्छे लोगों ने अदालत में जाकर यह गवाही दी कि पुस्तक हर्गिज़ अश्लील नहीं है। रेवरेंड डा० बनर्जी ने तो यह लिख दिया कि पुस्तक सर वाल्टर स्काट की पुस्तकों से अधिक अश्लील नहीं है, बल्कि उन्होंने यह भी कहा कि मैकक्रिम्बल और ब्रजमोहिनीवाला दृश्य नाइट टेम्पलर और यहूदी लड़की के बीच होनेवाले दृश्य का ही बंगाली संस्करण है। पर यह सब होते हुए भी उपेंद्रबाबू और अमृतलाल को ८ मार्च को १ मास की सादी कैद की सज़ा दे दी गई। दंडितों ने बड़े धैर्य के साथ सज़ा सुनी। इसके बाद अपील दायर की गई। अपील के खर्च के लिए ११ मार्च को 'सरोजिनी' नाटक का अभिनय किया गया। बड़े ज़ोरों से अपील लड़ी गई। २० मार्च को जस्टिस फियर और मार्कबी ने अपील का फैसला सुनाते हुए दोनों दंडितों को रिहा कर दिया। केवल यही नहीं, जस्टिस फियर ने यह भी लिख दिया कि मजिस्ट्रेट के हाथों में इस प्रकार पूरी शक्ति दे देना व्यवस्थापिका सभा के लिए उचित नहीं है।

यहां यह बता दिया जाय कि ३० मार्च को जस्टिस फियर भारत से भेजे गये और फिर कभी नहीं लौटे। इसपर यह खबर उड़ी कि लार्ड नार्थब्रुक ने उनका बोरा-बिस्तर बंधवा दिया। जो कुछ भी हो, सरकार नाटकों के अभिनय-नियंत्रण का बिल बना रही थी और उसका काम जारी रहा और वह बिल पास हो गया। इसके अनुसार मजिस्ट्रेट को यह अधिकार हो गया कि यदि सरकार के मतानुसार कोई नाटक मानहानिकर, कुत्साजनक, सरकार के विरुद्ध असन्तोष पैदा करनेवाला या किसी व्यक्ति या समूह के हृदय को चोट पहुंचानेवाला हो तो उसे जिस भी तरह हो, रोक दे और उसके लिए एकत्रित लोगों को हिरासत में ले ले। इस प्रकार यह कानून हाईकोर्ट के भी अधिकार छीन लेता था और करीब-करीब सारा निर्णय अब सरकारी अफसरों के ही हाथों में छोड़ दिया गया था। यहां यह बता देना जरूरी है कि इसीके साथ-साथ वर्नाक्यूलर प्रेस ऐक्ट भी लागू हो गया। श्री दास गुप्त का कहना है कि इस कानून के कारण रंगमंच को बड़ा नुकसान पहुंचा, पर ऐसे समय परम प्रतिभाशाली गिरिशचन्द्र पहले के अभिनेता के अलावा नाटककार के रूप में सामने आये और उन्होंने बंगला-रंगमंच को बचा लिया।

'सुरेंद्र विनोदिनी' मुकदमे के बाद उपेन्द्रनाथ दास इंगलैंड चले गये, अभि-

नेत्री सुकुमारी दत्त रंगमंच से अलग हो गई। हां, अर्द्धेन्दु शेखर अपनी नाटक कम्पनी लेकर इधर-से-उधर फिरने लगे। गिरिशबाबू ने 'आगमनी' नाम से एक नाटक लिखा और वह १८७७ के ६ अक्तूबर को खेला गया। इसके बाद उन्होंने 'मेघनाद वध' का नाटकीय रूप प्रस्तुत किया और वह १८७७ के १ दिसम्बर को खेला गया। स्वयं गिरिश ने मेघनाद और राम का पार्ट खेला। कहा जाता है कि इनका अभिनय बहुत अच्छा रहा। इसके बाद नवीनचंद्र सेन का 'पलासी का युद्ध' नाटक रूप में प्रस्तुत हुआ और वह भी खेला गया। फिर गिरिश ने बंकिम के 'विष वृक्ष' का नाटक रूप प्रस्तुत किया। हेम का 'वृत्र संहार' भी रंगमंच पर आया। लोग नाटक-कम्पनियां बनाकर इधर-उधर ढाका तक का चक्कर भी लगाने लगे।

उधर ग्रेट नेशनल थियेटर के मालिक पर मुकदमा चला और वह २५ हज़ार रुपये में नीलाम होकर एक मारवाड़ी सज्जन प्रताप जौहरी की सम्पत्ति बन गया। उसने गिरिश को मैनेजर बनाना चाहा और उन्हें १०० रुपया मासिक देना चाहा, पर गिरिश उन दिनों एक अंग्रेज़ कम्पनी में १५० रुपये मासिक पा रहे थे, इसलिए निर्णय कुछ कठिन था, पर गिरिश ने कला के कारण जौहरी की नौकरी स्वीकार कर ली और १८८१ की १ जनवरी को सुरेंद्र मजुमदार लिखित 'हमीर' नाटक से उस नाट्यशाला का उद्घाटन हुआ। गिरिशचन्द्र हमीर बने। इसके बाद गिरिशचंद्र ने एक नाटक लिखा, जो २२ जनवरी १८८१ को खेला गया। इसी प्रकार एक के बाद एक गिरिश की कलम से नाटक निकलते रहे। इनमें से कुछ अनुवाद थे, कुछ भावानुवाद और कुछ मौलिक। गिरिश ने देखा कि सामाजिक नाटक कम चलते हैं, इसलिए 'रावण वध', 'सीता का वनवास', 'अभिमन्यु वध', 'लक्ष्मण वर्जन, आदि पौराणिक नाटक चलाये। 'रावण-वध', से लेकर 'तपोबल' (१९१२) तक गिरिश ने ७२ नाटक प्रस्तुत किये। गिरिश ने नाटक के लिए पहले कविता को अपनाया था, क्योंकि वही उस युग का माध्यम था। पर उन्होंने मधुसूदन के मुकाबले में कविता का सरलीकरण किया, यहांतक कि उनकी कविता को लोग गैरिशी छन्द कहने लगे। पर उसी कविता के कारण नाटक का विकास अच्छी तरह हो सका। रवीन्द्रनाथ के बड़े भाई द्विजेन्द्रनाथ ने गिरिशचंद्र की कविता की बड़ी प्रशंसा की। लोगों ने कहा कि अन्त में जाकर हमें नाटक का उपयुक्त वाहन मिल गया। केवल यही नहीं, गिरिश ने

दृश्यों में भी बहुत नयापन ला दिया, यहांतक कि सीता की अग्नि-परीक्षा के समय ऐसा मालूम होता था कि मंच पर दो हज़ार की भीड़ है। गिरिश ने देखा कि प्रताप जौहरी के साथ एक हद तक ही काम किया जा सकता है, क्योंकि वह हर वक्त मुनाफे की बात पहले सोचता था। कई दिन गैरहाजिरी के लिए जौहरी ने प्रसिद्ध अभिनेत्री विनोदिनी की तनख्वाह् काट ली। इन्हीं कारणों से गिरिश उससे अलग हो गये और स्टार रंगमंच की स्थापना हुई। इनके अलावा स्टार रंगमंच की स्थापना में कई और कारण भी हुए।

विनोदिनी नाम की अभिनेत्री का गुरुमुख राय नाम से एक प्रेमी निकल आया, जो यह चाहता था कि विनोदिनी के नाम पर एक नाट्य-शाला स्थापित करे। बताया गया है कि यह व्यक्ति सिख था। उधर एक जमींदार, जिसके संरक्षण में विनोदिनी उन दिनों थी, यह चाहता था कि विनो-दिनी अभिनेत्री न रहे, पर जमींदार घर चला गया और उसकी शादी हो गई, इसपर गिरिश ने गुरुमुख राय को आगे लाना चाहा। पर जमींदार इस बीच में लौट आया और वह विनोदिनी को छोड़ने पर राज़ी नहीं हुआ। इसपर विनो-दिनी को गायब कर दिया गया। इसी दरम्यान नाट्यशाला के लिए इमारत आदि लेने का क्रम चलता रहा, पर बीच में गुरुमुख राय यह कह उठा कि वह विनो-दिनी को पांच हज़ार रुपया देने को तैयार है, बशर्ते कि वह अभिनय का काम छोड़-कर उसके साथ रहना स्वीकार करे। विनोदिनी, जिसे भद्र समाज कहते हैं, उसकी सदस्या नहीं थी, फिर भी उसने इस मौके पर यही कहा कि मुझे यदि राज्य भी मिले तो भी मैं अभिनय का काम नहीं छोड़ूंगी। जब गुरुमुख ने यह बात देखी तो उसने मजबूरी से इमारत बनवाने का काम जारी रक्खा। इसपर दास गुप्त ने ठीक ही लिखा है कि दुनिया में कैसी-कैसी अजीब बातें होती हैं कि इसी नाट्यशाला के कारण बंगला रंगमंच का नैतिक स्तर बहुत ऊंचा उठ गया, पर उसका आरम्भ कैसे हुआ ?

१८८३ के २१ जुलाई को स्टार रंगमंच 'दक्ष यज्ञ' नाटक से शुरू हुआ। स्वयं गिरिश ने दक्ष का पार्ट अदा किया। कहते हैं, उन दिनों गिरिश नास्तिक थे, पर बाद में उन्हें काली का दर्शन हुआ, इस कारण वह नाट्यशाला से बहुत दिनों तक दूर रहे, पर कला उन्हें बीच-बीच में खींच लाती रही। अबतक उनकी ख्याति मुख्यतः अभिनेता के रूप में थी, पर अब लोग उन्हें नाटककार के रूप में

अधिक सराहने लगे। गिरिश की नाटककार के रूप में सफलता का कारण ही यही है कि वह पहले अभिनेता, फिर नाटककार बने। अवश्य अभिनेता के रूप में भी वह बराबर सृजनात्मक शक्ति का परिचय देते थे और कई बार वह मूल नाटकों को बदल दिया करते थे।

गिरिशचन्द्र ने मुख्यतः पौराणिक विषयों के नाटक से ही आरम्भ किया। उनके नाटक इसलिए बहुत सफल होते थे कि इन दिनों वह पहले के अनीश्वर-वादी से बहुत बड़े भक्त बन गये थे। नाटक इतने सफल होते थे कि दर्शकों में बहुत-से विशेषकर स्त्रियां फफक-फफककर रोने लगती थीं। इसका असर अभिनेताओं तथा अभिनेत्रियों पर भी होता था और अभिनेता और दर्शक मानो मिलकर एक इकाई हो जाते थे। 'चैतन्य लीला' नाटक में विनोदिनी चैतन्य का पार्ट खेलती थी। सौभाग्य से विनोदिनी अपनी पूरी आत्मकथा लिख गई है और इस नाटक के खेले जाते समय दर्शकों पर क्या-क्या असर पड़ते थे और स्वयं उसपर क्या असर होता था, यह मालूम हो सकता है। पर यहां उसके ब्यौरे में जाने का अवसर नहीं है।

कुछ धर्मध्वजी तथा नीति का ढिंढोरा पीटनेवाले लोग अब भी रंगमंच के विरुद्ध लिखते जा रहे थे, पर 'चैतन्य लीला' देखकर 'रईस एन्ड रैय्यत' के सम्पादक श्री शम्भुचन्द्र मुखर्जी ने नाटकों की नैतिक शक्ति के विषय में चुनौती देते हुए लोगों से कहा कि एक बार कोई आकर नाटक देखे और फिर हमसे बहस करे।

इसपर कार्नेल आल्कट नामक एक सज्जन ने नाटक देखा और वह यह मानने के लिए बाध्य हुए कि उनपर भी उसका बड़ा असर हुआ। इतना ही नहीं, उन्होंने कहा कि अभिनेत्री ने चैतन्य के हाव-भाव को इस सुंदर और निष्कलुष रूप से चित्रित किया कि वह आश्चर्यजनक था। कार्नेल आल्कट ने लिखा कि जब विनोदिनी चैतन्य का पार्ट अदा करने हुए मूर्च्छित हो गई तो वह सचमुच मूर्च्छित हो गई और उसे डाक्टरी सहायता देनी पड़ी।

स्मरण रहे कि यह कार्नेल आल्कट वही थे जो बाद को थियोसाफी के संस्थापक के रूप में जगत्-प्रसिद्ध हुए। 'चैतन्य लीला' से गिरिश की ख्याति बहुत बढ़ी। नवद्वीप के प्रसिद्ध पंडित मथुरानाथ षड़रत्न, यहांतक कि रामकृष्ण परमहंस भी, इसे देखने आये। जब लोगों ने रामकृष्ण से पूछा कि आपने इसे

कैसा पाया तो वह बोले—'आशल नकल एक देखाल ?' याने असल और नकल में कोई फर्क नहीं देखा। जब विनोदिनी ने आकर उनके पैर छुए तो परमहंस बोले, "तुम्हें चैतन्य प्राप्त हो।" और वह हरि-हरि कहकर नाचने लगे। इसी प्रकार कहते हैं, योगी विजयकृष्ण गोस्वामी भी इस नाटक को देखकर नाचने लगे। इस नाटक के बाद गांव में संकीर्तन पार्टियां बन गई और वैष्णव धर्म का एक तरह से पुनरुत्थान हुआ। इन्हीं दिनों बंकिमचन्द्र तथा अन्य कई संत और विद्वान धार्मिक पुनरुत्थान का प्रचार कर रहे थे। 'चैतन्य लीला' ने इस आंदोलन में बहुत ज़ोर से हाथ बटाया।

इस नाटक के बाद 'प्रह्लाद चरित्र' नाटक लिखा गया, पर विनोदिनी के प्रह्लाद रूप में काम करने पर भी नाटक बहुत सफल नहीं हुआ। हां, इसके साथ जो अमृतलाल वसु का 'विवाह विभ्राट' प्रहसन खेला जाता था, वह बहुत सफल रहा। १८८५ में 'निमाई संन्यास' या 'चैतन्य लीला' का दूसरा भाग खेला गया और विनोदिनी ने निमाई का भाग लिया। यह नाटक भी सफल हुआ। इसके बाद १८८५ के ३० मई को 'प्रभास यज्ञ' और १६ सितंबर को 'बुद्धदेव' खेले गये, जो बहुत सफल रहे। 'बुद्धदेव' नाटक के बाद 'विल्व मंगल' खेला गया। इस नाटक के बारे में स्वामी विवेकानन्द ने यह कहा था कि मैंने इस नाटक को पचास बार पढ़ा है और हर बार मुझे नई ही रोशनी प्राप्त हुई। भगिनी निवेदिता इस नाटक से इतनी प्रभावित हुई थीं कि उन्होंने उसके एक भाग का अंग्रेजी में अनुवाद किया था। यह धार्मिक भावों से ओत-प्रोत था। इसके बाद 'रूप सनातन' नाटक खेला गया और वह भी बहुत सफल रहा। इस प्रकार से स्टार रंगमंच बहुत सफल रहा।

प्रसिद्ध रईस मोतीलाल सील के उत्तराधिकारी गोपाललाल सील को यह खब्त सवार हुआ कि वह नाटक कम्पनी का मालिक बने। उसने किसी प्रकार स्टार रंगमंच को खरीद लिया और अपनी ही न्यारी कम्पनी बनानी चाही। इस झगड़े के कारण स्टार कम्पनी अपना अंतिम अभिनय करने के बाद ढाका आदि शहरों में पहुंची, जिससे कुछ पैसा इकट्ठा हो। उधर गोपाल सील अपने रंग-मंच को सफल बनाने के लिए जी-तोड़ कोशिश कर रहा था, पर उसे सफलता नहीं मिल रही थी। तब उसने गिरिश की शरण ली और साथ ही उन्हें यह धमकी भी दी कि यदि तुम मेरे यहां नौकरी स्वीकार न करोगे तो मैं अधिक-से-अधिक

वेतन देकर उनकी कम्पनी के कलाकारों को भगवा लूंगा। ऐसा मालूम होता है कि गिरिश ने एक हद तक इसे मान लिया और पहले के कई नाटक खेलने के बाद १८८८ के १७ मार्च को 'पूर्णचन्द्र' नामक नाटक खेला गया। यह पूरन भगत पर केन्द्रित था। इसके बाद भक्तमाल की कहानी के आधार पर 'विषाद' नाटक खेला गया। इसके बाद ही लेखक की पत्नी का २५ दिसम्बर १८८८ को देहान्त हुआ। इसके उपरान्त १८८९ के २७ अप्रैल को गिरिश का 'प्रफुल्ल' नामक सामाजिक नाटक खेला गया, जिसमें बार-बार यह शब्द आता है—मेरा सजा-सजाया बाग सूख गया।'

कहना चाहिए कि 'प्रफुल्ल' नाटक से बंगला नाटकों का स्तर बहुत ऊंचा उठ गया। 'स्टेट्समैन' पत्र ने तीन अंकों में इसकी उच्छ्वसित प्रशंसा की। इसके बाद 'हारानिधि', 'मलिना विकास' आदि बहुत-से नाटक बराबर खेले जाते रहे। गिरिश ने 'मैकबेथ' का भी अनुवाद किया और उसे खेला, जिसकी अंग्रेज़ी पत्रों ने भी बहुत प्रशंसा की। इस प्रकार गिरिश एक सफलता के बाद दूसरी सफलता प्राप्त करते गए और १८९३ के २५ मार्च को 'आबू हुसेन' नामक जो नाटक खेला गया, वह बहुत अधिक सफल हुआ। गिरिशचन्द्र का 'जना' नामक नाटक १८९३ के २३ दिसम्बर को खेला गया और यह भी खूब चला। हमें अब इन व्यौरों में अधिक जाने की आवश्यकता नहीं है। इतना ही कहना यथेष्ट होगा कि नाटक के क्षेत्र में गिरिश घोष की सेवाएं बहुत ही महान् थीं और उन्हीं-के कारण बंगला नाटक आधुनिक बनने के साथ ही अपने पैरों पर खड़ा हो गया। पर गिरिश अकेले नहीं थे। उनके साथ कई प्रतिभावान नाटककार भी सम-सामयिक क्षेत्र में मौजूद थे।

गिरिश के ही युग में रवीन्द्रनाथ का भी नाटककार के रूप में उदय हुआ। उनके नाटकों के संबंध में अन्यत्र पूरा विवरण दिया गया है। गिरिशचन्द्र और रवीन्द्र के नाटकों की तुलना करने पर यह पता चलता है कि दोनों की प्रतिभाएं किस प्रकार से भिन्न पर एक-दूसरे की पूरक थीं। गिरिश का झुकाव धार्मिक नाटकों में पुनरुज्जीवनवाद की ओर था, पर रवीन्द्र के सामाजिक नाटक मुख्यतः गतानुगतिकता-विरोधी थे। दोनों कवि थे, पर शुद्ध कविता रवीन्द्र में कहीं अधिक मिलती है। दोनों अच्छे अभिनेता थे, यह कहना मुश्किल है कि कौन बढ़कर था।

गिरिश के बाद जो अच्छे अभिनेता हुए हैं, उनमें दानीबाबू और चुनीबाबू बहुत अच्छे अभिनेता माने गये। गिरिश अभी बहुत दिनों तक और चले। किसी-न-किसी रूप में गिरिश बराबर चलते रहे और १६०५ से लेकर १६११ के बीच में उन्होंने दस सामाजिक, ऐतिहासिक तथा धार्मिक नाटक लिखे। यह तो पहले ही बताया जा चुका है कि वह नाटक लिखने के साथ-साथ अपने नाटकों का अभिनय भी करते थे। समसामयिक अभिनेताओं में अमृतलाल वसु, चुनीलाल देव, दानीबाबू, अमरेन्द्रनाथ दत्त, अर्द्धेन्दु शेखर बहुत मशहूर थे।

इन्हीं दिनों दहेज-प्रथा के विरुद्ध लिखा हुआ नाटक 'बलिदान' गिरिश के यश में चार चांद लगाने में समर्थ हुआ। 'राणा प्रताप' नाटक भी सफल रहा। 'सिराजुद्दौला' भी गिरिश की ख्याति के अनुरूप निकला। कहते हैं, १६०६ में लोकमान्य तिलक गिरिश का एक नाटक देखने आये थे। १६०७ के ६ जून को गिरिश अपने 'प्रफुल्ल' नाटक के योगेश के रूप में रंगमंच पर सामने आये। बाद में उनका 'छत्रपति शिवाजी' नाटक खेला गया और लोकनायक सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने उसकी बड़ी प्रशंसा की।

सच कहा जाय तो इन दिनों देशभक्तिमूलक नाटकों का बहुत प्रचलन हो रहा था। स्मरण रहे कि यह स्वदेशी आंदोलन का युग था। जब भी राष्ट्रीय ढंग से नाटक खेले जाते थे, बहुत भीड़ होती थी। इन बातों से घबड़ाकर ब्रिटिश सरकार ने 'सिराजुद्दौला', 'मीर कासिम' और 'छत्रपति शिवाजी' पर रोक लगा दी। बात यह है कि दस-बीस व्याख्यानों से जो नहीं होता था, वह एक नाटक खेलने से हो जाता था।

इन्हीं दिनों बंगला के रंगमंच पर श्री डी० एल राय अथवा द्विजेन्द्रलाल राय का उदय हुआ। मानो गिरिश का आसन जल्द ही रिक्त होनेवाला है, इसे देखकर एक दूसरा महान् नाटककार सामने आया। उनका 'मेवाड़ पतन' १६०८ के २६ सितम्बर को और 'शाहजहां' १६०६ के २६ अगस्त को खेला गया। इसमें का एक गाना—बंग आमार जननी आमार, धात्री आमार आमार देश—सारे बंगाल में गूंज गया।

गिरिश दमा से पीड़ित थे, फिर भी वह अविचलित निष्ठा से अपने काम में लगे रहे। १६१० की १५ जनवरी को उनका नाटक 'शंकराचार्य' खेला गया। शंकराचार्य के जीवन को लेकर इतना सुंदर नाटक लिखा जा सकता है, यह देख-

कर लोग दांतों तले उंगली दबाकर रह गये। इसी बीच क्षीरोद प्रसाद के कुछ नाटक भी सामने आए। १६११ के २२ जुलाई को डी० एल० राय का नाटक 'चन्द्रगुप्त' खेला गया, इसमें गिरिश चन्द्रगुप्त के रूप में सामने आनेवाले थे, पर स्वास्थ्य ने साथ नहीं दिया। इस नाटक में चाणक्य के रूप में दानीबाबू ने कमाल कर दिया। 'चन्द्रगुप्त' इतना प्रसिद्ध हुआ कि हरेक कालेज में यह खेला गया। गिरिश अब मृत्यु-शैया पर थे, उन्हें यह देखकर खुशी हुई कि बंगला के रंगमंच में कई बहुत शक्तिशाली नाटककार और अभिनेता मौजूद हैं। उन्होंने अंतिम भेंट के रूप में 'तपोबल' नामक नाटक दिया, जो १६११ के १८ नवंबर को खेला गया। बीमार होने के कारण अभिनेताओं को तालीम लेने के लिए गिरिश के घर पर आना पड़ता था। गिरिश अब चंद दिनों के ही मेहमान थे। १६१२ की ६ फरवरी को जब उनका देहान्त हुआ तो वह अपने यश के उच्चतम शिखर पर थे।

सारे बंगाल में इसपर शोक छा गया और १० फरवरी को बंगाल की सारी नाट्यशालाएं बंद रहीं। जगह-जगह शोक-सभाएं हुईं। उनकी स्मृति को सुरक्षित रखने के लिए उनके कई नाटक खेले गए। यदि यह कहा जाय कि गिरिश ने बंगाल के आधुनिक रंगमंच को जन्म दिया और उसे जन्म देकर सब तरह से पाला-पोसा तो कोई अत्युक्ति न होगी। आज बंगाल में जो रंगमंच मौजूद है, उसके लिए यदि किसी एक व्यक्ति को श्रेय दिया जाय तो वह गिरिश को ही प्राप्त होगा। उनकी मृत्यु के बाद उनका लिखा हुआ एक नया नाटक १६१२ के २१ सितम्बर को खेला गया।

सबसे बड़े दुःख की बात है कि **द्विजेन्द्रलाल राय** बहुत दिनों तक जीवित नहीं रहे। यद्यपि थोड़े से समय में ही उन्होंने बहुत-से नाटक लिख डाले और सब नाटक बहुत उच्च कोटि के रहे, फिर भी गिरिश की मृत्यु के तीन-चार साल के अंदर ही उनका उठ जाना बहुत बड़ी हानि रही। अवश्य अभी रवीन्द्रनाथ ठाकुर मौजूद थे और वह समय-समय पर नाटक लिखकर बंगला रंगमंच को देते गए, फिर भी इसमें संदेह नहीं कि डी० एल० राय की मृत्यु बंगला-भाषा के लिए बहुत बड़ी हानि रही। इसके बाद बंगला नाटककारों में (यहां रवीन्द्रनाथ को छोड़ देते हैं) गिरिश और डी० एल० राय की तरह कोई ऐसा नाटककार पैदा नहीं हुआ, जिसने बहुत-से नाटक लिखे हों और जिसका प्रत्येक नाटक रंग-

मंच की दृष्टि से सफल रहा हो। इन्हीं विभूतियों के साथ बंगला नाटकों में दिग्गजों का युग समाप्त हो गया।

बाद के कुछ नाटकों पर अब विचार करें। अपरेशबाबू की 'सुदृष्टि' १९१५ के ४ दिसम्बर को बहुत सफल रही। अपरेशबाबू ने और भी कई नाटक लिखे। वरदाप्रसन्न दास गुप्त का 'मिस्र कुमारी' एक सफल नाटक रहा। गुप्त का 'मनीषा' १९२० के ११ जनवरी को खेला गया और सफल रहा। मनमोहन राय, भूपेन्द्र बनर्जी, जलधर चटर्जी, शरद घोष आदि ने कई नाटक लिखे। शरत् चटर्जी के उपन्यासों के कुछ नाटकीय रूप भी प्रस्तुत हुए और सफलतापूर्वक खेले गए। अन्य नाटककारों में शचीन सेन गुप्त, क्षीरोद प्रसाद विद्याविनोद आदि उल्लेखनीय हैं। जैसा कि पहले ही बताया गया, गिरिश, डी० एल० राय, यहांतक कि अमृतलाल वसु के पाये के कोई बड़े नाटककार बंगला में बाद को उत्पन्न नहीं हुए। हां, अभिनय के क्षेत्र में अच्छे-से-अच्छे अभिनेताओं का तांता बराबर बना रहा। जब दानीबाबू आदि चल ही रहे थे, उन्हीं दिनों शिशिरकुमार भादुड़ी का उदय हुआ और उन्होंने पहले के सब अभिनेताओं को पीछे छोड़ दिया, ऐसा कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी।

शिशिर भादुड़ी कलकत्ता के विद्यासागर कालेज के एक अध्यापक थे और १९२१ में उन्होंने पेशेवर रंगमंच में प्रवेश किया।

अहीन्द्र चौधरी भी एक अन्य बहुत प्रतिभाशाली अभिनेता हो गये। यहां एक बात यह बता देनी चाहिए कि यद्यपि बहुत बड़े नाटककार बाद के युग में नहीं रहे, फिर भी बंगला में बराबर अच्छे-से-अच्छे उपन्यासकार उत्पन्न होते रहे और उन उपन्यासों का नाटक रूप प्रस्तुत करना बहुत बड़ी बात नहीं थी। इसी प्रक्रिया से स्वयं रवीन्द्रनाथ ने अपने बहुत-से उपन्यासों का नाटकीय रूप प्रस्तुत किया। शरतबाबू, अनुरूपा देवी (मंत्र शक्ति, महानिशा आदि), निरुपमा देवी (दीदी), नजरुल (आलेया) आदि बहुत-सी पुस्तकों के नाटकीय रूप प्रस्तुत होने से रंगमंच का काम चलता रहा।

बहुत हाल के कुछ शक्तिशाली नाटक ये हैं—रवीन्द्रनाथ मैत्र का मानमयी गर्ल्स स्कूल, ताराशंकर का दुइ पुरुष (दो पुरखे)। ये दोनों नाटक विषय की नवीनता तथा तकनीक की दृष्टि से नये हैं। रवीन्द्रनाथ मैत्र कहानियों के क्षेत्र में भी बहुत सफल रहे। इधर के नाटककारों में प्रमथनाथ बिशी बहुत सफल

रहे। उनका प्रहसन 'ऋण कृत्वा घृतं पिबेत' और 'मौचाके ढिल' (छत्ते में ईंटा), 'सनी विला' नाटक बहुत लोकप्रिय हुए। इन्होंने कई एकांकी भी लिखे, शॉ और रवीन्द्र का प्रभाव इनपर सर्वाधिक रहा। शचीन सेन का 'सिराजुद्दौला' मन्मथ राय का 'कारागार', विधायक भट्टाचार्य का पी० डब्लू० डी०, बुद्धदेव वसु का 'माया मालंच' (अपने उपन्यास का नाटक रूप), प्रतिभा वसु का 'डालिया' (रवीन्द्र के उपन्यास का रूपान्तर), मनोज वसु का 'प्लावन', 'भुलि नाई' उल्लेखनीय हैं। शैलजानन्द और प्रेमेन्द्र मित्र ने सिनेमा और रंगमंच के लिए अपने उपन्यासों के रूपान्तरण के अलावा कई नई चीजें लिखीं। नीहाररंजन गुप्त, नारायण गंगोपाध्याय, नरेन्द्रनाथ मित्र ने इसी प्रकार कई नाटक प्रस्तुत किये हैं। १९४२ के युग में कुछ साहित्यकारों ने फैसिवाद-विरोधी नाटक लिखे। इसी प्रकार १९४३ के दुर्भिक्ष की पृष्ठभूमि में विजन भट्टाचार्य ने 'नवान्न' नाटक लिखा, जो सफल रहा। शायद साम्यवादियों की प्रतिक्रिया में 'कांग्रेस साहित्य संघ' की सृष्टि हुई और इसने नाटक के क्षेत्र में काम किया। इनका 'अभ्युदय' नाटक बहुत प्रसिद्ध हुआ। शरदिन्दु वन्दोपाध्याय का 'वन्धु', 'विषेर धोयां' (विष का धुंआ), इसी प्रकार वनफूल का 'श्री मधुसूदन' तथा 'विद्यासागर' तथा तरुण राय के कई नाटक प्रसिद्ध हुए।

इस समय बंगला नाटक और रंगमंच की परिस्थिति पिछले स्वर्ण युग को देखते कुछ अच्छी नहीं कही जा सकती। फिर भी फिल्म की प्रतियोगिता के बावजूद बंगला में रंगमंच जीवित है, यही बड़ी बात है।

: २० :

शताब्दी के प्रारंभ की बंगला कविता

बंगला साहित्य में रवीन्द्रनाथ का युग अभी समाप्त होते हुए भी समाप्त नहीं हुआ है, इसलिए रवीन्द्रनाथ के विषय में लिखने के बाद क्या लिखा जाय, यह विचारणीय है। इसमें सन्देह नहीं कि रवीन्द्रनाथ के समसामयिकों में कुछ कवि ऐसे हुए हैं, जिनको हम रवीन्द्रनाथ की प्रतिध्वनि नहीं कह सकते। हम पहले ऐसे तीन कवियों का उल्लेख कर चुके हैं, एक तो अक्षयकुमार बड़ाल, दूसरे सुरेन्द्रनाथ मजुमदार, तीसरे देवेन्द्रनाथ सेन। हम उनकी कविता का उदाहरण

भी दे चुके हैं, किन्तु अब हम कुछ ऐसे कवियों का उल्लेख करेंगे, जिनको हम काल की दृष्टि से शताब्दी के प्रथम चरण के कवि कहेंगे। सच बात तो यह है कि वह रवीन्द्रनाथ के समसामयिक हैं, किन्तु उनका कार्यक्षेत्र मुख्यत: १६१४-१८ के महायुद्ध के पहले के समय में ही रहा। इनमें कुछ बाद को भी चलते रहे।

द्विजेन्द्रलाल राय

ऐसे कवियों में द्विजेन्द्रलाल राय का नाम सबसे प्रमुख है। एक समय था जब लोग उन्हें रवीन्द्रनाथ के समकक्ष कवि समझते थे। इसमें सन्देह नहीं कि वह एक उच्च-प्रतिभाशाली कवि तथा नाटककार थे। नाटक में कला तथा निस्पृह सौन्दर्य सृष्टि की दृष्टि से, न कि भावुकता की दृष्टि से वह अक्सर रवीन्द्रनाथ के आगे निकल गये हैं। आज द्विजेन्द्रलाल राय की भाषा-शैली को अपनाकर चलनेवाले बंगला साहित्य में बहुत कम होंगे, किन्तु रवीन्द्रनाथ के प्रभाव से मुक्त शैलीकारों में वह ही कदाचित् सबसे प्रमुख हैं। सच बात तो यह है कि रवीन्द्रनाथ की विश्वविस्तृत विपुल ख्याति के सामने द्विजेन्द्रलाल अच्छी तरह चमक नहीं पाये। द्विजेन्द्रलाल के दुर्भाग्य की जो दूसरी बात हुई वह यह थी कि वह आपेक्षिक रूप से कम उम्र में ही उठ गये, जिससे कि वह साहित्य में एक जीवित शक्ति नहीं रह सके। हमें डर है, द्विजेन्द्रलाल का मूल्य ठीक तरह से कूता नहीं गया है, शायद जब रवीन्द्र-युग दूर की वस्तु हो जाय, उनका असली मूल्य कूता जाय। हमारी राय में यदि रवीन्द्रनाथ बंगला में पैदा न होते तो द्विजेन्द्रलाल बंगला के सबसे बड़े कवि माने जाते, किन्तु उनकी कविता तथा गीत मुख्यत: उनके नाटकों में बिखरे हैं। द्विजेन्द्रलाल के हास्यरस के गाने भी मशहूर हैं। हम उनकी और तरह की कविता उदाहरण रूप में पेश न कर 'नन्दलाल' नामक एक हास्यरस का गाना अनुवाद के रूप में प्रस्तुत करेंगे। यह उस ज़माने के और कुछ हद तक इस ज़माने के बंगाली मध्यवित्त श्रेणी के बाबू का सुन्दर चित्र है। मज़े की बात इस सम्बन्ध में यह है कि द्विजेन्द्रलाल बंकिमचन्द्र की तरह एक डिप्टी मजिस्ट्रेट थे, और इन्हीं दोनों लेखकों की रचनाओं से बंगाल ने स्वदेशभक्ति सीखी।

नन्दलाल कविता यों है—

नन्दलाल ने एक बार एक भीषण प्रण कर ही डाला कि जैसे भी हो, वह स्वदेश के लिए अपना प्राण वार देगा। सबने कहा—हैं-हैं, हैं-हैं, नन्दलाल यह तुम क्या करते हो ?

नन्दलाल ने कहा—तो क्या हम हमेशा बैठे ही रहें, भला मैं न करूं तो इस देश का उद्धार कौन करेगा ?

तब सबने कहा—वाह रे नन्दलाल, वाह, वाह, वाह !

नन्दलाल का भाई हैज़े से मरने लगा, उसे कोई देखनेवाला नहीं था। सबने कहा—जाओ न, ज़रा भाई की सेवा तो करो...

नन्दलाल ने कहा—खैर भाई के लिए जान देना है तो मैं दे सकता हूं, लेकिन ऐसा अगर मैंने किया तो इस अभागे देश का क्या होगा ? इसलिए ऊंच-नीच सोचकर मैंने देखा कि मेरा जीना बहुत ही ज़रूरी है।

तब सबने कहा—अहा-हा-हा-हा, तुमने बावन तोले पाव रत्ती बात कही, ज़रूर। क्या कहने !

नन्दलाल ने एक दफे एक अख़बार निकाला। उसने गद्य तथा पद्य में सबको गालियां देकर सबकी नाक में दम कर दिया। चारों तरफ नन्द की धूम हो गई, नन्द मेहनत के मारे लकड़ी हो गया। वह जितने गुना सोता था उसका दस गुना खाता था। क्या करता, वह पूड़ी, मिठाई और पकवानों के दोने-पर-दोने उड़ाने पर मजबूर था। नन्द ने एक बार अखबार में एक साहब को गालियां दीं। साहब ने आकर उसका गला पकड़ लिया तो वह चीं-चींकर बोला—अजी, यह क्या करते हो, कहीं मैं इस गला दबाने से मर गया तो इस देश का क्या होगा ? अतः जितने गज तक कहो उतने गज़ तक नाक जमीन पर रगड़ने के लिए या जो कहो सो करने के लिए तैयार हूं।

तब सबने कहा—अरे वाह, अरे वाह-वाह !

नन्द फिर घर से बाहर नहीं जाता था, न मालूम कहां कब क्या हो जाय। गाड़ी पर नहीं चढ़ता था, न मालूम कब उलट जाय, नाव में भी नहीं चढ़ता था, क्योंकि न मालूम हर साल कितनी डूबती हैं, रेल में लड़ने का भय था, फिर पैदल चलने में सांप, कुत्ते तथा गाड़ी के नीचे दब जाने का डर था, इसलिए नन्दलाल अब लेटे-ही-लेटे जीने लगा। सबने कहा—अरे वाह ! अरे वाह ! नन्दलाल, हमेशा जीते रहो !

द्विजेन्द्रलाल ने अंग्रेज़ी में भी कुछ सुन्दर कविताएं लिखी हैं। उनमें और रवीन्द्रनाथ में बराबर साहित्यिक विषयों को लेकर जो विवाद हुए हैं, वे पढ़ने की चीज़ें हैं। रवीन्द्रनाथ को एक तरफ विपिनचन्द्र पाल जैसे धुरन्धर विद्वान

तथा द्विजेन्द्रलाल जैसे प्रतिभाशाली कवि से निपटना पड़ता था, रवीन्द्रनाथ को इस वाद-विवाद में असुविधा यह रहती थी कि वह ब्राह्म सम्प्रदाय के होने के कारण जनता उनकी 'प्रचार कार्यमूलक' रचनाओं के विरुद्ध सहज ही हो जाती थी। द्विजेन्द्रलाल ने 'भारतवर्ष' नामक मासिक पत्र चलाया, जो अबतक सफलतापूर्वक चल रहा है। कवि द्विजेन्द्रलाल ने करीब-करीब उन सभी क्षेत्रों में अपनी प्रतिभा को दौड़ाया है, जिनमें रवीन्द्रनाथ की कीर्ति है। हां, उन्होंने नाटक ही लिखे, उपन्यास नहीं लिखे।

सत्येन्द्रनाथ दत्त

सत्येन्द्रनाथ दत्त की प्रतिभा की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उनमें कुछ भी कृत्रिमता नहीं है, उनकी कविता कभी अलसाती हुई चाल से, कभी द्रुत, कभी गरजती, कभी बरसती, कभी तड़पती हुई चली जाती है। रेड इण्डियनों की लोरी, चीनी कवि लो तुं की कविता, जनरल नोगी की एक आह, बल्कान, आइसलैंड की कविता को उन्होंने बंगला में रूपान्तर कर रक्खा है, किन्तु कवि यदि न बतावें तो किसी जगह मालूम भी न हो कि यह जो हम पढ़ रहे हैं और पढ़ते-पढ़ते मस्त होकर झूमने लगते हैं, क्रोध से बलबला उठते हैं या विषाद से मुरझा जाते हैं यह कोई अनुवाद है। विदेशी कविताओं को बंगला लिबास पहनाने में सबसे सफल वह ही रहे। दुःख की बात है कि वह अकाल-मृत्यु के शिकार रहे। उनकी प्रतिभा कविताओं के अनुवाद के क्षेत्र में अद्वितीय होने पर भी वह केवल अनुवादक ही नहीं रहे। उनकी मौलिक कविताओं की संख्या भी बहुत है। छन्द और भाषा उनके लिए इतनी अनायास थी कि उनकी कविता सीधे पाठक के कानों में पैठते ही हृदय में पैठ जाती है। बंगाली आत्मा के साथ उनकी इतनी तादात्म्यता थी कि इस क्षेत्र में रवीन्द्रनाथ भी उनसे कहीं आगे बढ़ पाये हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता। सत्येन्द्रनाथ दत्त की मृत्यु पर रवीन्द्र ने एक बहुत ही सुन्दर कविता लिखकर उनकी असामान्य प्रतिभा का अभिनन्दन किया था। उन्होंने लिखा था—

वर्षार नवीन मेघ एलो धरणीर पूर्व द्वारे
बाजाइलो वज्रभेरी। हे कवि, दिवे ना साड़ा तारे
तोमार नवीन छन्दे? आजिकार काजरी-गाथाय
झुलनेर दोला लागे डाले डाले पाताय पाताय

वर्षे वर्षे ए दोलाय दितो ताल तोमार जा वाणी
विद्यु त-नाचन-गाने से आजि ललाटे कर हानि
विधवार वेशे केनो निःशब्दे लुटाय धूलिपरे ?

—वर्षा के नये बादल पृथ्वी के पूर्व द्वार में आ गये, आकर उन्होंने वज्रभेरी बजाई। हे कवि, तुम अपने नवीन छन्दों से उसका उत्तर न दोगे ? आज की कजली गाथाओं में पत्ते-पत्ते में तथा डालियों में झूलन का प्रभाव है, प्रति वर्ष इस झूलने को तुम्हारी जो वाणी विद्युत-नृत्य-गान से ताल देती थी, वह आज विधवा के वेश में सिर धुनती हुई चुपचाप पड़ी हुई धूल पर क्यों लोट रही है ?

केवल यही नहीं, रवीन्द्र ने लिखा है, "सत्येन्द्रनाथ बंग भारती की वीणा में एक नया तार लगाने आये थे।" भाषा, छन्द तथा नवीनता होते हुए भी सत्येन्द्र-नाथ दत्त रवीन्द्रनाथ या द्विजेन्द्रलाल की तरह एक विश्व-कवि इसलिए नहीं हो सके कि उनकी कविता में कोई दार्शनिकता की गहराई नहीं है। आज के युग की अच्छी कविता केवल सुललित भाषा या सावलील छन्द की बदौलत ही नहीं बन सकती, उसमें जीवन की सैकड़ों पहेलियों तथा समस्याओं पर रोशनी होनी चाहिए, कविता के जादू से ऐसा मालूम देना चाहिए जैसे उनका हल पा लिया, जिसकी टोह थी। इस प्रकार की बातें सत्येन्द्रनाथ के काव्य में नहीं हैं, यद्यपि जैसा कि मैं कह चुका, भाषा और छन्द उनके लिए वैसे ही अनायासलब्ध हैं, जैसे मोर के लिए रंग की विचित्रता।

यदि उनकी अकाल-मृत्यु न होती तो शायद उनकी प्रतिभा पूर्ण रूप से विकसित होती और वह हमें एक विराटतर रूप में नज़र आते। उनकी एक छोटी-सी कविता 'चम्पा' का कुछ मूल, और पूरा अनुवाद देकर हम इस प्रसंग को खत्म करते हैं—

आमारे फुटिते होलो वसन्तेर अन्तिम निश्वासे
जखन विश्व निर्मम ग्रीष्मेर पदानत
रुद्र तपस्यार वने आध-त्रासे आधेक उल्लासे
एकाकी आसिते होलो—साहसिका अप्सरार मतो।

—इत्यादि

—जब वसन्त की अन्तिम सांस चल रही थी तब मुझे पैदा होना पड़ा, उस

समय विश्व निर्मम ग्रीष्म का पदानत था। साहसी अप्सरा की तरह हमें रुद्र तपस्या के वन में आधे त्रास में तथा आधे उल्लास में आना पड़ा। शोषण-क्लिष्ट वन एक बार चर्चरा उठा, उदास कुंज में क्लान्त कोकिल का स्वर एक बार सुनाई पड़ा, ऐसे समय में मैंने जन्म-यवनिका की कोर में अपने नये सुकुमार नेत्रों को खोलकर जलस्थल को देखा तो पाया कि वे शून्य, शुष्क, विह्वल, जर्जर हैं। फिर भी विश्वास के वृन्त पर कंपता हुआ चम्पक मैं निकल ही आया। कड़ी-से-कड़ी धूप में मैं नहीं गिरूंगा, भयंकर शराब की तरह जिस धूप की गर्मी से विश्व तड़पकर रह जाता है, मैं उसे विधाता के आशीर्वाद से आसानी से पी जाता हूं। मैं धीरे-से उषा का संतप्त कर पकड़कर निकल आया, देह में मूर्च्छा आती है, मन में मोह-सा छा जाता है, हर मुहूर्त्त यही अनुभव करता हूं। फिर भी सूर्य की विभूति से मेरा सलोनापन ही बढ़ता है। इसलिए मैं दिन के देवता को नमस्कार करता हूं। मैं चम्पक हूं, सूर्य का सौरभ ही तो हूं।"

सत्येन्द्रनाथ की इस कविता के अर्थ को यदि हम चम्पक नामक प्रसिद्ध पुष्प की जन्मकथा तक ही सीमित रक्खें तो यह एक मामूली कविता ही रहेगी, इसकी भाषा, कल्पना तथा शैली की हम चाहे कितनी भी प्रशंसा करें, किन्तु नहीं, यही सब-कुछ नहीं। "आधुनिक काव्य-साहित्य की एक धारा मनुष्य तथा प्रकृति को रूपकात्मक, प्रतीकात्मक और रहस्यात्मक दिशा से पकड़ने की चेष्टा है। इस धारा के प्रवर्तक वर्ड्सवर्थ तथा शेली हैं। रूपकात्मक, प्रतीकात्मक तथा रहस्यात्मक, इनको ठीक-ठीक समझाना मुश्किल है, फिर भी हम व्याख्या से इनका अर्थ स्पष्ट करने की चेष्टा करेंगे। पहली बात तो यह है कि रूपक भी रूपक है और प्रतीक (Symbol) भी रूपक है किन्तु दोनों में यथेष्ट प्रभेद है। ऐलेगॉरीकल श्रेणी के रूपक में एक साथ दो चीज़ें रहती हैं, एक तो बाहर जो कुछ स्थूल रूप से कहा जा रहा है वह, और दूसरी वह जिन बातों या भावों के वे रूपक हैं। स्थूल कहानी के रूप में भी हम उसका मज़ा उठाते हैं और जो कहानी आड़ में चल रही है उसका भी हम मज़ा उठाते हैं। जैसे स्पेंसर की "फेरी क्वीन' या द्विजेन्द्रलाल राय का 'स्वप्नप्रयाण' काव्य-रूपक के उदाहरण हैं। स्ट्रिन्डबेर्ग का 'लकी पेयर' भी एक ऐसा दोमुंहा रूपक है। सिम्बॉलीकल रूपक नाट्य या काव्य में ये दोनों धारा रहने पर भी वहां वास्तव में स्थूल घटना को कोई प्रमुखता प्राप्त नहीं है, स्थूल घटना से परे जो दूसरी चीज़ है वही मुख्य

है। जैसे रवीन्द्रनाथ का 'डाकखाना' है, इसमें डाकखाना, डाकिया, मुखिया कोई सार्थकता नहीं रखते, इनके परे जो चीजें हैं वे ही इनमें मुख्य हैं।

"इसपर यदि हम रूपकात्मक और प्रतीकात्मक का हिन्दी प्रतिशब्द करना चाहें तो हमें वस्तुरसप्रधान रूपक और भावरसप्रधान रूपक कहना पड़ेगा। प्राक-महायुद्ध (१६१४-१८) युग में यूरोपीय साहित्य में भावरसप्रधान रूपक की प्रधानता थी। मेटरलिंक, ईट्स के काव्य इसी श्रेणी में आते हैं। सत्येन्द्रनाथ की इस 'चम्पा' कविता को हम जब रूपरसप्रधान रूपक के रूप में लेंगे तभी इसमें एक दूसरा ही आनन्द दिखलाई पड़ेगा। अजितकुमार चक्रवर्ती ने सत्येन्द्रनाथ के सम्बन्ध में एक फ्रेंच कवि पाल वरलेन Paul Verlaine के सम्बन्ध में जो कहा है कि वे ध्वनि से चित्र खींचते हैं उसीको दुहराया है, यह ठीक ही है। सचमुच उनको छन्द तथा भाषा पर अद्भुत अधिकार था। 'वरलेन की तरह उनके छन्दों के स्पन्दन में अरूप जगत् का स्पन्दन मानो पकड़ा गया है।'"[1]

रवीन्द्रनाथ की कबिताओं का बहुत-कुछ अनुवाद हो सकता है, किन्तु सत्येन्द्रनाथ की कविता का अनुवाद होना करीब-करीब असम्भव है। ऐसे अबंगाली पाठक जो बंगला भाषा की आत्मा तक नहीं पहुंचे हैं, वे उनकी कविता को समझ नहीं सकते।

इन्दिरा देवी और प्रियम्वदा देवी

इन्दिरा देवी तथा प्रियम्वदा देवी ने भी कुछ कविताएं लिखी हैं, किन्तु इन पर रवीन्द्रनाथ का प्रभाव इतना स्पष्ट है कि मालूम होता है, हम रवीन्द्रनाथ को ही पढ़ रहे हैं। इन्दिरा देवी की निम्नलिखित कविता भाव तथा भाषा में बिल्कुल रवीन्द्रनाथ की ही मालूम होती है। हम मूल का केवल एक छन्द ही उद्धृत करते हैं, जिन पाठकों ने रवीन्द्र-काव्य का मूल में आस्वादन किया है, वे इसको पढ़कर धोखे में आ जायंगे—

हासिखेलार अभिनये अश्रु जले ढाकि
भबेछिलाम एम्नि कोरे तोमाय देबो फाकि
बुके आमार जे सुर बाजे, गुंजरे जा मर्ममाझे

[1] श्री अजितकुमार चक्रवर्ती प्रवासी, कार्तिक १३२५

भबेछिलाम सुखेर साजे राखबो तारे ढाकि ।
हासिखेलार मिथ्याछले तोमाय दिये फाकि ।

—हँसी-खेल के अभिनय में अश्रुजल ढककर मैंने सोचा था इसी प्रकार तुम्हें धोखा दे दूंगी । मैंने सोचा था कि मेरे हृदय में जो सुर बजता है तथा मर्मस्थल में जो कुछ गूंजता है उसे सुख के लिबास में ढक रक्खूंगी हँसी-खेल के अभिनय में तुम्हें धोखा देकर ।

"प्रभात जब दोपहर में परिणत हो गया, तप्त वायु पैरों में अग्निकण की तरह लगी, देह जब थकावट के मारे मिट्टी से छू-सी जाने लगी, आंखों में जितने ही आंसू झरते थे और मैं उन्हें गोपन करती थी, तभी तुमने मुझे गोद की लड़की की तरह गोद की ओर खींच लिया ।

"मैंने तो तुमसे नहीं पूछा, कहां मेरा स्थान है, मैंने तुम्हारे पैरों पर आंसुओं की बाढ़ तो नहीं ला दी थी । वीरान मन में मैंने अपनी व्यथा निवेदन कर तुमसे सहायता तो नहीं मांगी थी, फिर भी तुमने कैसे कान लगाकर मेरे हृदय की गहन बातों तथा गोपन अभिमान को सुन लिया ?

"तुमने कैसे मेरी धोखेबाज़ी का पता पा लिया, केवल यही बात मैंने तुमसे अबतक नहीं सुनी । न मालूम कब कौन-सा सुराग पाकर तुम्हारी हँसी की बाढ़ ने आकर मुझे हँसकर बहा लिया और इस प्रकार मेरी दुविधा मिट गई । कैसे तुमने मेरी प्रतारणा पकड़ ली ।"

प्रियम्वदा देवी की भी एक छोटी-सी कविता 'आशातीत' नीचे दी जाती है—

तोमारे पारि न धरिते, पारि ना धरिते
मनेते मिशाये आपना करिते
ओरे आकाशेर आलो,
तोमाय पारि ना धरिते, पारि ना धरिते
जतोई बासि ना भालो ।
तोमाय पारि ना बांधिते, पारि ना बांधिते
नित्य नवीन छन्दे गांथिते
ओरे मोर भालोबासा,
तोमाय पारि बांधिते, भावे रूप दिते
तेमोन नाहिको भाषा

—मैं आकाश की रोशनी में तुम्हें पकड़ नहीं पाती, पकड़ नहीं पाती, मन में मिलाकर अपना नहीं पाती। तुमको पकड़ नहीं पाती, पकड़ नहीं पाती। चाहे जितना भी प्यार करूं।

"तुमको मैं बांध नहीं पाती, बांध नहीं पाती, नित्य नवीन छन्दों में गूंथ नहीं पाती। हे मेरे प्यार, तुमको में बांध नहीं पाती, हाय, भाव को रूप नहीं दे पाती, वैसी भाषा ही मेरे पास नहीं है।"

इन दोनों कवयित्रियों में से इन्दिरा देवी की अकाल मृत्यु हुई।

यतीन्द्रमोहन बागची

यतीन्द्रमोहन बागची रवीन्द्रनाथ के सफल शिष्यों में थे। वह उनके शिष्य ही रहे, किसी भी तरीके से अपने लिए स्वतन्त्र मार्ग का निर्माण नहीं कर पाये। भाषा पर उनका भी इतना अधिकार था कि उनके सम्बन्ध में, सत्येन्द्रनाथ की तरह, वह ध्वनि से चित्रांकन करते हैं, कहा जा सकता है। हां, छन्द के मामले में वह सत्येन्द्रनाथ से निकृष्ट रहे। उनकी कविताओं में भी कुछ रूपकयुक्त हैं, हम नीचे खेया-डिडि नामक एक कविता के कुछ अंश उद्धृत करते हैं। पाठक इसकी सुललित भाषा को देखें, रवीन्द्रनाथ की भाषा के साथ इसकी तुलना की जा सकती है—

पाटेर भितर खेतेर दिये घाटेर डिङा बाइ—
तोबु आमार हाटेर साथे कोनो बांधन नाइ;
शिरा-ओठा फाटा हाते हालेर गोड़ा धरि
आमि शुधु आपन मने एपार ओपार करि

—इत्यादि

—मैं पाट के खेतों के भीतर से घाट की छोटी नाव खेता हूं, फिर भी हाट के साथ मेरा कोई बन्धन नहीं है। बस ममकते हुए फटे हाथों से मैं पतवार पकड़ता हूं, मैं केवल अपने-आप ही इस पार से उस पार करता रहता हूं।

"तुम लोग खेत, फ़सल, बारिश, बादल, बाढ़ की बात सोचते रहते हो, भादों का धान कितना हिस्सा डूबा, कितना बचा, किन्तु इन बातों में मेरी कोई दिलचस्पी नहीं है, मैं केवल नियमानुसार घाट की नाव को खेता रहता हूं।

"भरी नदी में भाद्र भरी बाढ़ लेकर आता है लाल पानी से दोनों किनारे एक से हो जाते हैं। बांस से ज़मीन का पता नहीं लगता, न कोई थाह मिलती है, फिर भी दिन और रात में मुझे छुट्टी कब मिलती है।

"अकस्मात् जिस दिन बाढ़ के पानी से खेत भर जाते हैं, धान के खेत में घुटनों तक पानी होता है और पाट के खेत में गले के बराबर पानी होता है, धान का केवल ऊपरी हिस्सा पानी पर हिलता रहता है उस समय मेरी नैया डगमग-डगमग उन्हींके पास होकर निकलती है।

"वे पगडंडियां कहां गईं और वे बांध ही कहां गये, बबूल के पेड़ों की चौहद्दी को लेकर वे झगड़े ही कहां गये ? बन्धनहीन बाढ़ के सामने भला यह सब नियम-कानून कहां चलते हैं, इसलिए असीम तैराकी करते हुए मैं नाव खेता रहता हूं।

"कमर तक पानी में खड़े होकर किसान हंसुआ चलाता है, धान के अग्र-भाग की सोंधी गंध हवा में तिरती रहती है। ललाई लिये हुए धान के अग्र भागों को पानी के नीचे नवाकर मेरी नाव उसीके बीच से चलती है।

"धान की गड्डियों को मैं इस पार उस पार करता हूं, पाट के ढेर को भी ढोता-भरता हूं, दिन-रात कितने लोगों की कितनी ही बातें सुनता हूं, मैं बैठकर मन-ही-मन खेवे का हिसाब लगाता रहता हूं।

"पानी के ऊपर सेंदुर-सा बिखराकर सूर्य उगता है, दिन का खेवा खतम कर पश्चिम में डूब जाता है। बारहों महीने में एक भी दिन उसे छुट्टी नहीं है, उसीके साथ मैं भी घाट की नाव को खेता हूं।"

'देशेर लोक' (देहाती) नामक कविता में देहाती दुनिया का अत्यन्त सच्चा चित्र खींचने के बाद वह कहते हैं—

अविचार अत्याचार भाबे निज करमेर फल
नयनेर जल छाड़ा ताइ किछु थाके ना सम्बल

—"वह अविचार तथा अत्याचार को अपना ही कर्म-फल सोचता है, इसीलिए आंसुओं के सिवा उसका कोई सम्बल नहीं है।" कवि जो वर्णन करते हैं वह है तो सच, इस अभागे देश के गरीबों की यही मनोवृत्ति है, किन्तु एक क्रांतिकारी कवि की तरह बजाय इसके कि वह इनको कविता का चाबुक मारकर उठाते, वह उसकी इस भाग्यवादी मनोवृत्ति की सराहना करते हैं—

एई देश—एई लोक—हासिओ ना शिक्षा-अभिमानी
धर्म जाने तार काछे सत्य मूल्य कार कतोखानि

—"ऐसा तो हमारा देहात है, और ये देहाती हैं, सुनकर हे शिक्षा-

भिमानी, मत हँसना। धर्म जानता है कि उसके निकट किसकी कितनी सच्ची कीमत है।"

यह तो एक तरह से प्रतिक्रियावाद का प्रचार करना हुआ। यह तो वही बात हुई कि इस दुनिया में ज़मींदारों की जबर्दस्ती और जुल्म सहो, इसके बदले में अगली दुनिया में हूरो-गिलमा मिलेंगे। मालूम होता है, ऐसा लिखते समय कवि यतीन्द्र मोहन 'एबार फिराओ मोरे' नामक रवीन्द्रनाथ की कविता के उस अंश को भूल गये—

एई सब मूढ़ म्लान मुखे
दिते हबे भाषा, एई सब श्रान्त, शुष्क, भग्न बुके
ध्वनिया तुलिते हबे आशा, डाकिया बलिते हबे
मुहूर्त तुलिया शिर एकत्र दांडाओ देखि सबे,
जार भये तुमि भीत से अन्यायी भीरू तोमा चेये
जखनि जागिबे तुमि तखनि से पलाइबे धेये[१]

रवीन्द्रनाथ भी भाववादी होने के नाते ऐसे मामलों में अन्त तक पूरी तरह निर्वाह नहीं कर पाते, किन्तु अक्सर उनकी प्रतिभा उनको इस प्रकार की गलती से बचा भी लेती है। यतीन्द्रमोहन की यह मनोवृत्ति हम उनकी 'गौरी' नामक कविता को रवीन्द्रनाथ की उसी सन् में प्रकाशित 'येनास्याः पितरो जाताः' नामक कविता की तुलना करते हैं तो पाते हैं—दोनों में एक लड़की का विवाह उससे कहीं अधिक उम्रवाले बुड्ढे वर से होता है। दोनों विधवा हो जाती हैं, किन्तु दोनों में बड़ा भेद है। यतीन्द्रमोहन की गौरी विधवा होती है, रवीन्द्रनाथ की मंजुलिका भी विधवा होती है। दोनों पितृसेवा तथा घर के काम-काज में मन लगाने की व्यर्थ चेष्टा करती हैं।

मंजुलिकर
दुःखे-सुखे दिन हये जाय गत
स्रोतेर जले झरे पड़ा भसे जावा फूलेर मतो
अवशेषे होलो
मंजुलिकार वयस भरा सोलो

---

१ इसका अनुवाद रवीन्द्रनाथ के 'एबार फिराओ मोरे' में आ गया।

—"दुख-सुख में उसके दिन बीत जाते थे, मानो वह कोई स्रोत के पानी में गिरा हुआ तथा बहा हुआ फूल थी। अन्त में मंजुलिका की उम्र सोलह हुई।"

और गौरी का क्या हुआ ?

काल कि कारेओ छाड़े
बछर बछर मेयेर वयस बाड़े।
आट थेके से षोलय पलो, बुझलो क्रमे निजे
अवस्था तार कि जे।

—"समय किसीको भला छोड़ता है ? आठ से उसकी उम्र बढ़ते-बढ़ते सोलह वर्ष की हो गई। धीरे-धीरे वह समझ गई कि उसकी परिस्थिति क्या है।"

अपनी परिस्थिति समझने पर भी वह अन्त तक लाखों हिन्दू बाल-विधवाओं की तरह मूक रहकर अपने प्राण का तिलतिल देकर अपने पिता की मूर्खता का प्रायश्चित्त करती है। वह एक 'अनाघ्रात स्वर्ण-चम्पा' की तरह ही अपनी जीवन-लीला समाप्त करती है।

वर्षा तक रवीन्द्रनाथ की मंजुलिका भी इसी तरह रहती है। मंजुलिका की मां एक दिन उसके पिता से कहती है—क्यों जी, मंजु की शादी न कर दी जाय।

पिता हुक्के के नल से मुंह हटाकर कहता है—मुझे मर जाने दो, फिर मां और बेटी एक ही साइत में शादी कर लेना—और मुंह फेरकर अपना उपन्यास पढ़ने लगता है। बात यहीं खतम हो जाती है।

कुछ दिनों में माता मर जाती है। पिता कुछ दिन बीमार रहते हैं, बीमारी में पुलिन डाक्टर उन्हें देखता है। वह अच्छे हो जाते हैं, किन्तु कुछ ही दिनों में वह इस नतीजे पर पहुंचते हैं कि बिना विवाह किये संसार-धर्म का निर्वाह नहीं हो सकता। तदनुसार वह विवाह करने जाते हैं, किन्तु विवाह से लौटने के बाद वह देखते हैं कि मंजुलिका घर से भाग गई है, और पुलिन से शादी करने के बाद दोनों फर्रुखाबाद चले गये हैं।

ऊपर के उदाहरण से स्पष्ट है कि यतीन्द्रमोहन बागची अपने गुरु के पीछे रह गये हैं। यह तो मतामत की दृष्टि से हुआ, किंतु कला के क्षेत्र में भी सम्पूर्ण रूप से वह उसी लीक पर चलते हैं, जिसपर रवीन्द्रनाथ चल चुके हैं। हम कहीं

भी उनमें कोई मौलिक धारा नहीं देखते। ऊपर जिन कविताओं की विषयवस्तु की तुलना की है उनके विषय में मज़े की बात यह है कि रवीन्द्रनाथ की कविता यतीन्द्रमोहन की कविता के ठीक एक महीना पहले 'प्रवासी' में प्रकाशित हुई थी। क्या यह रवीन्द्रनाथ के उत्तर में लिखी गई थी ? यतीन्द्रमोहन की कविता देखकर यह सन्देह होता है कि शायद यह जवाब में लिखी गई थी। वह पंक्तियां ये हैं—

तबु जेनो, गौरी एरि नाम—
रूप गुणे नामेर मतन—चोखेर तृप्ति चित्तेर विश्राम।

—"फिर भी जानना, गौरी इसीका नाम है, रूप तथा गुण में नाम की तरह ही है, आंखों के लिए तृप्ति और चित्त के लिए विश्राम है।"

कालिदास राय

कालिदास राय भी रवीन्द्र-प्रभाव में पले हुए एक कवि हैं। सत्येन्द्रनाथ की तरह वह भाषा और छन्द के आचार्य नहीं जंचते तथा रवीन्द्र-प्रभाव के कवि होते हुए भी उन्होंने किसी जगह भी रहस्यवाद को पास नहीं फटकने दिया। उनके विषयों में ही कुछ ऐसी मधुरता होती है तथा विषय को वह प्रतिभा के साथ निभाते हैं कि उनकी कविताएं पठनीय तथा मौलिक-रसयुक्त हो जाती हैं। मध्यवित्त श्रेणी के छोटे-छोटे सुख-दुःखों को उन्होंने इस खूबी से चित्रित किया है कि देखते ही बनता है। 'छात्रधारा' नामक कविता में उन्होंने शिक्षकों को इस भावुकता के साथ चित्रित किया है कि कोई भी सहृदय शिक्षक इसे पढ़-कर आंसू नहीं रोक सकेगा। प्रत्येक समाज में ये शिक्षक कितने उपयोगी हैं और लोग उन्हें कितना बेकार समझते है। इस कविता को पढ़ते-पढ़ते हमें चेखव के उस शिक्षक का स्मरण हो आया, जो मरते समय प्रलाप में कहता है, "वोल्गा नदी वल्डाई पहाड़ से निकलकर फलाने समुद्र में जाकर गिरती है।" करुण और हास्य-रस का अद्भुत मिश्रण है। कहानी की पश्चाद्भूमि के कारण यह दृश्य और भी करुण हो जाता है। हम कालिदास राय का 'छात्रधारा' कविता का अनुवाद नीचे देते हैं—

—"प्रति वर्ष वे झुंड-के-झुंड इस विद्यालय के नीचे आते हैं और वे कलरव करते हुए चले जाते हैं, कैशोर के किसलय पत्ते तब यौवन के हरेपन के गौरव को प्राप्त करते हैं। उन्हें मैं प्यार करता हूं, पास बुलाता हूं, सबका नाम जान

रखता हूं, रोज़-रोज़ उनसे भेंट होती है, डाट-फटकार बताता हूं, एक पहर तक सीख भी देता हूं, किंतु फिर भी कुछ याद नहीं रहती। दो-चार दिन की यह मुलाकात, समुद्र के बालू पर जैसे रेखा, नई लहर आते ही पुछ जाती है। नन्हें पैरों के दाग नये चरण-चिह्नों की ताड़ना से एक-से हो जाते हैं। वे यहां एकत्र तो होते हैं, किंतु जानते नहीं कहां जायंगे, विद्यालय मानो एक सराय है। दो-चार-दस दिन एकत्र किसी काम को करते हैं, फिर मिलकर जैसे नीति-सार और कथामाला गूंथते हैं।

"कभी रास्ते में भेंट हो जाती है तो कोई गुरु कहकर हाथ उठाकर नमस्कार करता है तो मैं हँसता हुआ कहता हूं, 'जीते रहो, क्या काम-काज हो रहा है?'

"सोचते-सोचते चलता हूं, नाम तो याद नहीं आता, कितने दिन पहले छात्र था? याददाश्त को लेकर खींचातानी करता हूं, कैशोर का उसका चेहरा याद आकर भी नहीं याद आता। आना-जाना रोज़ का होता है, बहुत दिनों तक भेंट होती है, फिर भी वे याद क्यों नहीं रहते? व्यक्ति जाकर झुंड में मिल जाता है, गले में माला पहन लेने पर प्रत्येक फूल को भला कौन याद रख सकता है?

"इस जीवन पर तोड़-फोड़ मचाकर उसे हरा तथा सरस करते हुए छात्रों की धारा बह जाती है, वह फेनिलता तथा उच्छ्वास तुच्छ हो जाता है और कलरव विलीन हो जाता है। जब मैं आर-पार देखता हूं तो मेरे मन को घेरकर कुछ म्लान चेहरे जग उठते हैं। जो कलरवमय महोत्सव है वह तो सब भूल जाते हैं, किंतु ये म्लान मुख याद रह जाते हैं।

"कोई तो भूख से म्लान है, कोई रोग से अधमरा है, थकावट से किसीकी चितवन करुण हो रही है। कोई बेंत के डर से कोठरी में छिपा रहता है, किसी-की आंखें नींद से कड़वी हैं। कोई क्लास में बैठकर जंगले से बाहर की ओर देखता है, मानो कोई पिंजरे में बन्द चिड़िया हो। आसमान में पतंग को देखकर उसका मन उड़ान भरने लगता है, उसके चेहरे पर विषाद की उत्कट छाया पड़ती है। कोई खेल के मैदान को याद कर सबक भूल जाता है, किसीकी बुद्धि में ही बात नहीं आती; कोई तो घर को तथा स्नेह-भरे भाई-बहनों को याद कर बार-बार घड़ी की ओर देखता है।

"उदार वायु स्वास्थ्य तथा आयु लेकर पुकारती है, वह इस पुकार को बंद

कमरे में बैठकर सुनती है। हाथ में स्याही, मुंह में स्याही ऐसा बच्चा, वैसा ही मालूम देता है मानो नन्हा-सा चांद बादलों में ढका हो, गन्ध मुझे याद पड़ता है। और सब तो भूल चुका हूं किन्तु यह सब भूल न सका। एक बार आंख मूंदते ही म्लान-मुखों की ये पंक्तियां मन को आकुल कर डालती हैं।"

निरुपमा देवी

निरुपमा देवी बंगला में विशेष रूप से अपने उपन्यासों के कारण प्रसिद्ध थीं, किन्तु उन्होंने कुछ अच्छी कविताएं भी लिखी हैं। सच बात तो यह है कि बंगला के सभी सुकुमार साहित्य के लेखक साथ-साथ कवि भी होते हैं। शरत्चन्द्र आदि कुछ ऐसे उपन्यासकार बंगला भाषा में हुए हैं, जिन्होंने कविता कभी नहीं लिखी, किन्तु ये अपवाद हैं, न कि नियम। हम जब अति-आधुनिक बंगला काव्य पर आयेंगे तो दिखलायेंगे कि बंगला में अति-आधुनिक कविता के जो प्रवर्तक हैं, वे ही अतिआधुनिक गल्पकार भी हैं। निरुपमा देवी की 'तृण' नामक कविता का पहला अंश हम उद्धृत करते हैं। पाठक देखेंगे इसकी भाषा बड़ी संगीतमय है :

मोरा कचि कचि श्याम तृणदल
करि जीवनेर पथ सुश्यामल
उठि धरणीर प्राण फुंड़िया
रहि कठिनेर बुक जुड़िया
राखि घन मखमले मुड़िया
एइ कंकरमय धरातल।

—"हम हरी-हरी नरम घास के दल हैं। हम जीवन के पथ को हरा बनाते हैं, हम पृथ्वी का प्राण फोड़कर उठते हैं, कठिन के हृदय को व्याप्त कर हम रहते हैं, हम इस कंकड़मय धरातल को घने मखमल से मोड़ रखते हैं। हम हैं हरी-हरी नरम घास के दल।"

"मोरा कचि कचि श्याम तृणदल।"

यह कविता भी एक रूपक है। निरुपमा देवी पर रवीन्द्रनाथ का प्रभाव स्पष्ट है, किन्तु वह रहस्यवाद से सम्बन्ध नहीं रखतीं। फिर भी वह एक भाववादिनी लेखिका थीं।

यतीन्द्रनाथ सेन गुप्त

यतीन्द्रनाथ सेन गुप्त की एक कविता 'हाट'[१] का कुछ अंश लीजिये

दूरे दूरे ग्राम दशबारोखानि
माझे एकखानि हाट
सन्ध्याय सेथा ज्वले ना प्रदीप
प्रभाते पड़े न झांट।
बेचा केना सेरे विकाल-वेलाय
जे जाहार सबे घरे फिरे जाय
बकेर पाखाय आलोक लुकाय
छाड़ाये पुबेर माठ
दूरे दूरे ग्रामे ज्वले उठे दीप—
आंधारेते थाके हाट।

—"दूर-दूर पर दस-बारह गांव हैं और बीच में एक हाट लगता है, सन्ध्या के समय न तो वहां दीया जलता है, न तो सबेरे झाड़ू ही लगती है। खरीदना-बेचना समाप्त कर सब अपने-अपने घर ही लौट जाते है, बगुले के पर पर चल-कर रोशनी मानो पूर्व का मैदान पारकर छिप जाती है। दूर गांवों में दीये जल उठते हैं, किन्तु हाट अंधेरे में ही रहता है।"

दिवसेते सेथा कतो कोलाहल
चेना अचेनार भिड़े,
कतो ना छिन्न चरणचिह्न
छड़ानो से ठांई घिरे।

....

दिवसे थाके ना कथार अन्त
चेना अचेनार भिड़े,
कतो के आसिलो, कतो बा आसिछे
कतो ना आसिबे हेथा

---

[१] गांव का वह बाजार, जो हफ्ते में केवल एक या दो दिन लगता है।

ओपारेर लोके नामाले पसरा
छूटे एपारेर क्रेता ।
हिसाब नाहिरे एलो आर गेलो
कतो क्रेता-विक्रेता

—"दिनभर यहां कितना कोलाहल रहता है । परिचित तथा अपरिचित की भीड़ रहती है । उस जगह को घेरकर न मालूम कितने लोगों के पदचिह्न बने हुए हैं। दिन में तो इस परिचित-अपरिचित की भीड़ में बातों का अन्त नहीं रहता । कितने आये, कितने आ रहे हैं, कितने आयेंगे । उस पार के लोग यदि अपना सामान उतारें तो इस पार के क्रेता दौड़ पड़ते हैं । इसका कुछ हिसाब नहीं कि कितने क्रेता और विक्रेता आये ।

"नये सिरे से यह हाट हर बार बैठता-टूटता है, दिन-रात नये यात्री हैं, इस नाटक का खेल जारी है । कोई तो जाते वक्त गांठ में कुछ बांधकर जाता है और कोई रोता है, उदार आकाश और मुक्त वायु में चिरकाल तक एक खेल चलता रहता है। "

इस कविता पर रवीन्द्र-प्रभाव स्पष्ट है । रवीन्द्रनाथ वस्तुवादी नहीं, बल्कि भाववादी होने पर भी अपनी प्रतिभा की विराट तूम्बी के कारण पानी के ऊपर ही रहते हैं, किन्तु उनके बहुत-से शिष्यों में इस प्रतिभा की देन न होने के कारण वे अक्सर रूपक तक ही रह जाते हैं याने रूप को गौण बनाकर कविता लिखते हैं । यह कविता उसीका एक उदाहरण है । हाट का वर्णन पढ़कर कि वहां सांझ का दीया भी नहीं जलता, हमारे दिल में करुणा का उद्रेक होते-न-होते हम अनुभव करते हैं कि कवि कह रहे हैं खेत की, लेकिन गा रहे हैं खलिहान की । इस दृष्टि से बंगला भाषा को अतुल शब्दों का ऐश्वर्य देने पर भी रवीन्द्रनाथ का प्रभाव बंगला कविता के आधुनिक होने में बाधक साबित हुआ । जिसे देखो, वही रूपक, प्रतीकवाद तथा रहस्यवाद की तरफ दौड़ा । सभी कविता में इस तरह बातें करने लगे, मानों इस सृष्टि के पीछे जो रहस्य है उसके गुप्त-गृह में उनका प्रवेश हो चुका है ।

: २१ :

विद्रोही कवि काज़ी नज़रुल

बंगला भाषा की एकता के सबसे बड़े प्रतीक हैं सुप्रसिद्ध कवि काज़ी नज़रुल इस्लाम। उनकी कविता को किसी हिन्दू ने मुसलमानी कहकर कभी उसका अनादर नहीं किया। सच तो यह है कि उन्होंने बंगला काव्य में एक नई रूह फूंकी। वह रवीन्द्र-युग की ही उपज हैं, इस युग की उपज होते हुए अपने को एक दिग्गज के रूप में प्रतिष्ठित कर लेना, यह कितनी बड़ी शक्ति का परिचायक है, इसका अनुमान किया जा सकता है।

नज़रुल इस्लाम का वैयक्तिक जीवन भी एक धूमकेतु की तरह रहा। एक धूमकेतु की ही तरह उन्होंने एकाएक साहित्य-जगत् में प्रवेश किया। वह पश्चिम बंगाल के एक बहुत गरीब घर में पैदा हुए थे। उन्हें ठीक-ठीक शिक्षा नहीं मिली और उन्हें अपनी इच्छाओं का दमन करने की शिक्षा तो कभी मिली ही नहीं। वह प्रकृति के वरपुत्र के रूप में बढ़े, और इसी रूप में वह कवि भी हुए। बचपन में वह कई बार घर से भागे। भला घर का इकरस वातावरण उन्हें कैसे पसन्द आता? उनका गला अच्छा था, इस कारण कई बार वह नाट्य-मंडली में भी सम्मिलित हो गये। एक बार तो वह भागकर पूर्व बंगाल के एक गांव में पहुंचे और एक सज्जन के यहां नौकर हो गये। बाद को वह एक डबल रोटीवाले के यहां भी नौकर रहे।

जब १९१४ की लड़ाई छिड़ी तो वह उसमें भरती हो गये, और अन्ततोगत्वा हवलदार हो गये। लड़ाई से लौटकर उन्होंने 'धूमकेतु' नाम का एक पत्र निकाला, जो अधिक नहीं चला, पर बंगला-साहित्य में उन्हें एक स्थान अवश्य देता गया। यदि कोई बंगला कवि यह कह सकता है कि वह एक दिन सवेरे जागा और उसने देखा कि वह मशहूर है तो वह नज़रुल ही है।

नज़रुल के लिखने का यह हाल था कि कभी तो लिखते ही रहते, और इसीमें रातें निकल जातीं। फिर हफ्तों हो जाते, और वह कलम के पास तक नहीं फटकते। ऐसी हालतों में कई बार ऐसा हुआ कि उनके सम्पादक मित्रगण उन्हें

एक कमरे में बन्द कर देते, और उन्हें कागज, कलम, चाय दे देते। फिर घंटे-दो घण्टे में उन्हें एक सुन्दर कविता मिल ही जाती।

जिस युग में नज़रुल ने साहित्य में प्रवेश किया, वह विद्रोह का युग था। यों तो क्रान्तिकारी गुट तथा व्यक्ति सन् १८५७ के विद्रोह की असफलता के बाद से ही क्रियाशील थे। बंग-भंग में बंगाल की जनता भी जग चुकी थी, पर अखिल भारतीय रूप में इस महादेश की जनता ने इसी समय अंगड़ाई ली। देखते-देखते वह उठ बैठी और जय-यात्रा पर चल पड़ी। इसी समय काज़ी नज़रुल ने ललकार कर कहा—

आमि दुर्वार
आमि भेंगे कोरि सब चुरमार,
आमि अनियम उच्छृंखल,
आमि दले जाई जतो बन्धोन
जतो नियम-कानून शृंखल।

—मैं दुर्वार हूं, मुझे कोई रोक नहीं सकता। मैं सबको तोड़-तोड़कर चकना-चूर करके रख देता हूं। मैं अनियम हूं, मैं उच्छृंखल हूं, जितने भी बन्धन हैं, नियम, कानून तथा शृंखला हैं, मैं उन्हें पैरोंतले रौंदकर आगे बढ़ जाता हूं।

विप्लव आनि विद्रोह कोरि
नेचे नेचे गोंफे दिइ ताव'

—मैं क्रान्ति को बुला लाता हूं, मैं विद्रोह करता हूं, मैं नाच-नाचकर मूंछों पर ताव देता हूं।

आमि धृष्ट,
आमि दांत दिया छिड़ि विश्व-मायेर अंचल

—मैं ढीठ हूं, मैं दांतों से विश्व माता के आंचल को फाड़ डालता हूं।

आमि विद्रोही भृगु
आमि भगवान् बुके एंके देबो पदचिह्न
आमि सृष्टि-सूदन
शोक-ताप-हाना खेयाली विधिर
बक्खो कोरिब छिन्न।

—मैं विद्रोही भृगु हूं, मैं ईश्वर के सीने पर अपने चरणों का चिह्न अंकित कर

दूंगा। मैं संहारक हूं, शोक, ताप आदि के प्रति एक तरह से उदासीन विधाता के सीने को फाड़ डालूंगा।

नज़रुल की इस कविता में बम, माइन, डिनामिट की भरमार है। परतंत्रता के उस युग में इन चीज़ों को कविता में लाना एक विशेष तरह की गुदगुदी पैदा करता था। एक तो ऐसी शब्दावली, और दूसरे विद्रोही विचार—इन्होंने मिलकर उस युग के बंगाली नौजवानों के हृदयों को एकदम मुग्ध कर दिया।

काज़ी नज़रुल अपरिहार्य रूप से विद्रोही कवि थे। उनकी तकनीक भी बहुत कुछ निजी ही थी, यद्यपि जैसा कि अनुमान करना कठिन न होगा, वह रवीन्द्र-नाथ की छाप से मुक्त नहीं थे। इस बात को वह स्वयं भी समझते थे। तभी तो रवीन्द्र के जन्म-दिवस पर उन्होंने कहा था—

'हे रसशेखर कवि, तव जन्मदिने
आमि कोये जाबो मोर नव जन्म-कथा
आनन्द सुन्दर तवो मधुर परशे
अग्निगिरि मल्लिकार फूले-फूले
छेये गेछे।'

—हे रसशेखर कवि, तुम्हारे जन्मदिन पर मैं अपनी नई जन्म-कथा कह जाऊंगा। तुम्हारे आनन्द से सुन्दर मधुर स्पर्श से पहाड़ों की मल्लिका के हर फूल में ज्वालामुखी छा-सी गई है।

फूलों में ज्वालामुखी के पैदा होने की कल्पना कितनी सुन्दर है।

काज़ी नज़रुल का विद्रोह अक्सर तो विद्रोह के लिए विद्रोह रूप लिये हुए था। यह भी एक सोपान है। जिस समय जर्जर सड़ी-गली पद्धति के विरुद्ध विद्रोह अनिवार्य हो जाता है, पर विद्रोहियों के मन में आगामी समाज-पद्धति का नक्शा स्पष्ट नहीं होता, उस समय विद्रोह को कोई उद्देश्यमूलकता का रंग प्राप्त नहीं होता। उस समय केवल विद्रोह करना और तोड़-फोड़ मचाना, जो पद्धति मौजूद है, उसे जहां से भी हो विध्वस्त करना, अच्छा मालूम होता है। विद्रोह के बाद की अवस्था का स्पष्टीकरण उस समय आवश्यक नहीं ज्ञात होता। उस समय विद्रोह करना ही चरम लक्ष्य बन जाता है।

क़ाज़ी नज़रुल की कविता में उक्त प्रकार का विद्रोह ही अधिक दृष्टिगोचर होता है। इसमें सोद्देश्यता तथा बुद्धि से बढ़कर है स्वतः-स्फूर्तता। ओजमय

शब्दों के प्रवाह में वह हमें ऐसे बहा ले जाते हैं कि उसकी अन्तर्गत वस्तु का अभाव हमें बिल्कुल नहीं खटकता। बस, हम भी सैनिकों की पंक्ति में खड़े होकर 'बायें-दायें, बायें-दायें' करते हुए चल पड़ते हैं।

पर नहीं, अधिकांश में उनकी कविता निरे विद्रोह के लिए विद्रोह होने पर भी, और इस दृष्टि से अपने युग का प्रतीक होने पर भी काज़ी के मन में कुछ स्पष्ट उद्देश्य थे—

महाविद्रोही रणक्लान्त
आमि सेइदिन हबो शान्त
जबे उत्पीडितेर क्रन्दन-रोल आकाशे बातासे ध्वनिबे ना
अत्याचारीर खड्ग-कृपाण भीम रणभूमे रणिबे ना

—'मैं महाविद्रोही रणक्लान्त होकर उसी दिन शान्त हूंगा जिस दिन न तो उत्पीड़ित की क्रन्दन-ध्वनि आकाश में गूंजेगी और न अत्याचारी का खड्ग तथा कृपाण भयंकर होकर रणभूमि में दिखाई देगा। मैं विद्रोही रण-क्लान्त होकर उसी दिन शान्त हूंगा।

इस प्रकार यह तो सत्य हो जाता है कि काज़ी नज़रुल के विद्रोह का उद्देश्य अत्याचार का अन्त कर देना था, पर अभी लक्ष्य बहुत दूर था, इस कारण उस पर ज़ोर नहीं डाला जा रहा था। अभी तो विद्रोह पर ही ज़ोर था। विद्रोह की चंडी जग तो जाय, फिर देखा जायगा। विद्रोह के लिए विद्रोह के भ्रम का और भी एक कारण था। वह यह कि जिधर देखो उधर सड़ी-गली पद्धतियां थीं, राजनीति में गुलामी थी, समाज में रूढ़ि तथा गतानुगतिकता का बोल-बाला था। स्वयं ईश्वर जो था, वह भी धनियों के इशारे पर नाचनेवाला था।

उनकी कविता में भाषागत चमत्कार इतना अधिक है कि कुछ लोगों का यहांतक कहना है कि उनसे भावों की गहराई की आशा करना व्यर्थ है। जर्मन के महाकवि गेटे ने बायरन के विषय में कहा था कि जबतक बायरन सोचते नहीं हैं, तभी तक ठीक है, पर जिस घड़ी सोचने लगते हैं, उनका बचकानापन खुल जाता है। श्री बुद्धदेव वसु का कहना है कि यही बात काज़ी नज़रुल पर भी लागू होती है। उनके अनुसार नज़रुल तथा बायरन में और भी समता है। "उन्हींकी तरह नज़रुल की प्रतिभा ऐश्वर्यशालिनी है, पर उसपर भरोसा नहीं

किया जा सकता। न मालूम वह कब धोखा दे जाय। उनमें वही लट्ठमारपन है, वही रुक-रुककर चलनेवाला करीब-करीब स्वाभाविक प्रवाह है, बिना परिश्रम की अनायास प्राप्त कारीगरी है, अनायास प्राप्त और लापरवा। सर्वोपरि विचारों की वही शीर्णता है।" पच्चीस साल तक वह प्रतिभा के वरदपुत्र की तरह साहित्य-गगन पर चमके, पर उनमें प्रौढ़ता नहीं आई। उनकी रचनाओं के क्रम में विकास का कोई क्रम दृष्टिगोचर नहीं होता। उन्होंने बीस साल की उम्र में जो लिखा, पैंतीस साल की उम्र में भी उसमें कोई फर्क नहीं आया।

उनकी किसी-किसी कविता में इज़रायल, इसराफ़ील, कयामत आदि इस्लामी पुराण के व्यक्तियों, वस्तुओं तथा घटनाओं का उल्लेख है, किन्तु इससे उनकी कविताओं का खस्तापन बढ़ा है, न कि घटा। वह ऐसी उपमा, उपमेयों को लाकर बंगला में खपा देते हैं कि वह तनिक भी पृथक् ज्ञात नहीं होते। उनकी सौ में निन्यानवे कविताओं में कोई ऐसी बात नहीं है, जिससे यह मालूम हो कि वह मुसलमान कुलोत्पन्न भी हैं। उनकी कविता की जाति साम्प्रदायिक शब्दों में वर्णनीय नहीं है। यदि उसकी कोई जाति है तो वह है आधुनिक तथा विद्रोही।

पर काज़ी नज़रुल को केवल विद्रोह का कवि कहना ठीक नहीं होगा। यद्यपि उन्होंने लिखा है—

के बाजाबे बांशी ?
कोथा पाबो अनिन्दित सुन्दरेर हांसि ?
आजो शुधु आगमनी गाहिछे शानाई,
ओ केनो कांदिछे शुधु नाइ, नाइ नाइ।

—कौन बांसुरी बजाये ? मैं कहां से अनिन्दित सुन्दर की हँसी लाऊं ? आज भी शहनाई केवल आगमनी ही गा रही है, मानो उसने इसीकी रट लगाई हो कि नहीं है, नहीं है।

हम नीचे उनकी 'सिन्धु' नामक कविता का कुछ अंश उद्धृत करते हैं—

हे क्षुधित बन्धु मोर तृषित जलधि
एतो जल बुके तबो, तबु नाहि तृषार अवधि।
एतो नदी, उपनदी तव पदे करे आत्मदान,
बुभुक्षु, तोबु कि तव भरिलो ना प्राण।

दुरन्त गो महाबाहु
ओगो राहु
तीन भाग ग्रसियाछ, एक भाग बाकी,
सुरा नाई—पात्र हाते कांपितेछे ताकी।

—हे मेरे क्षुधित मित्र, तृषित जलधि, तुम्हारे हृदय में इतना जल है, फिर भी प्यास की कुछ सीमा नहीं है। इतनी नदियां तथा उप-नदियां तुम्हारे चरणों में आत्मदान करती हैं, किन्तु हे बुभुक्षु, फिर भी क्या तुम्हारा दिल न भरा? हे दुरन्त महाबाहु, हे राहु, तुमने तीन भाग तो ग्रस लिया, अब एक ही भाग बाकी है। शराब नहीं रही, इसलिए हाथ में पात्र लेकर साकी कांपता है।

समुद्र पर बहुतों ने लिखा है, किन्तु निम्नलिखित पंक्तियों में फिर भी कुछ विशेष नई बात है—

मन्थन-मन्दार दिया दस्यु सुरासुर
मथिया लुंठिया गेछे तव रत्नपुर,
हरियाछे उच्चैःश्रवा, तव लक्ष्मी, तव शशीप्रिया
तारा सब आछे आज सुखे स्वर्ग गिया।
करेछे लुन्ठन,
तोमार अमृत-सुधा मार जीवन तो।
सब गेछे आछे शुधु क्रन्दन कल्लोल,
आछे ज्वाला आछे स्मृति व्यथा-उतरोल।
उर्ध्वे शून्य, निम्ने शून्य, शून्य चारिधार
मध्ये कांदे वारिधार, सीमा हीन रिक्त हाहाकार
हे महान हे चिर बिरही
हे सिन्धु, हे बन्धु मोर, हे मोर विद्रोही
सुन्दर आमार,
नमस्कार।

—मन्दार रूपी मथनी से डाकू-सुरासुरों ने तुम्हारे रत्न-पुर को मथकर लूट लिया है, तुम्हारा उच्चैःश्रवा हर लिया, तुम्हारी लक्ष्मी हर ली, तुम्हारी शशि-प्रिया को भी हर लिया। वे सब तो स्वर्ग में जाकर सुख से हैं। उन्होंने तुम्हारी सुधा भी हर ली। सब चला गया, केवल क्रन्दन-कल्लोल ही रह गया। केवल

ज्वाला शेष है तथा व्यथा से उतावली स्मृति मौजूद है। ऊपर शून्य है, नीचे शून्य है, चारों तरफ शून्य है, बीच में पानी की धारा रिक्त हाहाकार बनकर रोती है। हे महान्, हे चिर विरही समुद्र, हे मेरे मित्र, हे मेरे सुन्दर विद्रोही, तुम्हें नमस्कार है।

काज़ी नज़रुल की कविता की यह विशेषता मालूम देती है कि उसमें गति भी है, ओज भी है, किन्तु कोई उद्देश्य नहीं। उनकी विद्रोही कविता इसी प्रकार की है। क़ाज़ी नज़रुल विद्रोही जरूर हैं, किन्तु उनके मन में विद्रोह का कोई स्पष्ट उद्देश्य न होने के कारण उनका विद्रोह अक्सर केवल साहित्यिक पैर फटफटाना-मात्र रह जाता है। नज़रुल की एक कविता है—'देखबो एबार जगतटाके' याने 'अब दुनिया देखूंगा'। इस कविता में कवि कहते हैं कि वह अब घर में बन्द नहीं रहेंगे, वह अब दुनिया देखेंगे, 'कैसे वीर मल्लाह डूबकर समुद्र के अन्दर से मोती ले आता है, कैसे साहसी लोग दूर आकाश की ओर उड़ जाते हैं, कैसे और किसके नशे में लाखों की संख्या में लोग मरते हैं, किसके अभियान में लोग हिमालय की चूड़ा में जाना चाहते हैं', इत्यादि कवि जानना चाहते हैं। वह अब पिंजरे में बन्द नहीं रहना चाहते, वह इनसब बातों को दुनिया घूमकर देखना चाहते हैं। वह पाताल फाड़कर नीचे उतरना चाहते हैं तथा फोड़कर आकाश में उठना चाहते हैं। 'इतना होने पर भी सच बात तो यह है कि यह समझ में नहीं आता कि कवि चाहते क्या हैं', नतीजा यह है कि ऐसी कविता का या तो आध्यात्मिक या छायावादी रहस्यवादी अर्थ लेना पड़ेगा।

हम समझते हैं इस अस्पष्टता के लिए नज़रुल को दोषी ठहराना ठीक नहीं होगा। सचमुच बात तो यह है कि नज़रुल तथा उनके साथी विद्रोह करना चाहते हैं, किन्तु क्या करना चाहते हैं, यह इन्हें पता नहीं। तोड़ना, फोड़ना, फाड़ना शब्द के अधिक इस्तेमाल से ही कोई क्रान्तिकारी या आधुनिक नहीं हो सकता।

काज़ी नज़रुल ने प्रेम और विरह पर भी अनेक गीत लिखे हैं, और उनकी संख्या हज़ारों तक पहुंचती है। उनका गला अच्छा था और वह संगीत के विशेषज्ञ थे। ग्रामोफोन कम्पनियों ने उनके गीतों से लाखों रुपये कमाये। झुमुर, भाटियाली, बाउल, गज़ल, ठुमरी, ख्याल, ध्रुपद, कीर्तन, श्यामा-संगीत तथा आधुनिक संगीत, किसी शैली को भी उन्होंने अछूता नहीं छोड़ा। 'लीलायित

चंचल, अंचल परशने', 'शून्य ए बुके पाखी भोर फिरे आय' ये दो ख़याल की शैली पर गाने तथा दरबारी कनाड़ा का 'बाजे मृदंग बाजे', 'कि मुखे गृह रबो' कीर्तन प्रत्येक व्यक्ति की जवान पर चढ़ गये। केवल प्रचलित रागों पर ही नहीं, कई लुप्त सुरों का भी उन्होंने पुनरुद्धार किया। कौशिकी सुर में लिखित 'श्मशान जागिछे श्यामा, अन्तिम सन्ताने कोले दिते स्थान' तथा, शिबरंजनी सुर में 'हे पार्थ-सारथी, सजाओ—बजाओ पांचजन्य शखे' बहुत जनप्रिय हुए।

गीतों के क्षेत्र में रवीन्द्रनाथ के बाद नज़रुल का ही स्थान है। ग्रामोफोन-कम्पनियों के चक्कर में पड़कर उन्होंने कई ऐसी चीज़ें लिखीं, जिनका मूल्य संदिग्ध है, फिर भी वह अक्सर एक मानदंड के नीचे नहीं गये। कुछ विशेषज्ञों का यह कहना है कि जहांतक गीतों की संख्या का संबंध है, वह दुनिया के किसी भी कवि से बाज़ी मार ले गये हैं। रवीन्द्रनाथ ने दो हजार गीत लिखे, पर नज़रुल ने अपेक्षाकृत कम समय में उनसे कहीं अधिक गीत लिखे। रिकार्ड के गाने में तो नज़रुल सबको बहुत पीछे छोड़ जाते हैं।

प्रेम की कविताओं में नज़रुल अपने युग के वातावरण से ऊपर न उठ सके, याने रोमांचवाद में ही रह गये। फिर भी उनका रोमांचवाद उच्चकोटि का है। उनमें कीट्स का चित्ररूप, बायरन का आवेग तो है, पर रवीन्द्रनाथ की गहराई का अभाव है।

रवीन्द्र-काव्य बंगला-साहित्य की सबसे बड़ा सम्पदा है, पर काज़ी नज़रुल का महत्व एक दृष्टि से उनसे भी अधिक है। वह यह कि वह संयुक्त बंगाल के पुनरुद्धार में सबसे बड़ी शक्ति हैं। शुद्ध काव्य-विचार में भले ही यह बड़ी बात न समझी जाय, पर जीवन, संस्कृति, इतिहास भी बड़ी चीजें हैं। नज़रुल पूर्व बंगाल के राष्ट्रीय कवि हैं।

पाठकों को यह जानकर अपार दुःख होगा कि संयुक्त बंगाल का यह श्रेष्ठतम सांस्कृतिक प्रतीक कई वर्षों से मस्तिष्क विकृति का शिकार है। इस मस्तिष्क-विकृति की भी वास्तव में एक कहानी है। काज़ी नज़रुल ने एक हिन्दू महिला से विवाह किया था। उस समय कुछ लोगों ने इस विवाह की निन्दा की थी। पर काज़ी नजरुल केवल नाम से ही मुसलमान थे। उनका यह विवाह बहुत सुखी रहा। बाद में श्रीमती नजरुल को पक्षाघात हो गया। इसपर काज़ी नज़रुल ने सारी चिकित्सा-पद्धतियों को आजमाया। पर अन्त में कुछ न होता देखकर

..डा-ताबीज़ और फिर तंत्र-मंत्र करने लगे। इन्हींके चक्कर में उनका मस्तिष्क विकृत हो गया। और अब भी विकृत है।

: २२ :

इस युग के कुछ अन्य कवि

राधाचरण चक्रवर्ती

राधाचरण चक्रवर्ती रावीन्द्रीय मंडल के एक कवि हैं, उनकी सभी कविताएं रहस्यवाद का पुट लिये हुए होती हैं। एक कविता लीजिये—

आकाशेर मेघरन्ध्रे अंधकारे तुमि चेये थाको
तारा होये।
आंखिर पलकहारा होये
तुमि मोरे डाको
आभासे इंगिते शत डाके—
आमि थाकि क्षुद्रतार सीमा नागपाशे
धरणीर एक पाशे
बांधा शत पाके
चारिदिके स्वार्थ-कोलाहल
उच्छृंखल
संग्राम संघात
घात प्रतिघात
तोबु माझे माझे आसे काने
तबो डाक—उदास करिया देय प्राणे।

—आकाश के बादलों के छेद से अंधकार में तुम मेरी ओर नक्षत्र होकर देखते हो, पलक नहीं मारते। तुम मुझे पुकारते हो, आभास से, इशारे से, सैकड़ों पुकार से। मैं क्षुद्रता की सीमा नागपाश में सैकड़ों बंधनों से बंधा हुआ रहता हूं। चारों तरफ स्वार्थ का कोलाहल है, उच्छृंखलता है, संग्राम-संघात है, घात-प्रति-

घात है। फिर भी बीच-बीच में तुम्हारी पुकार आ ही जाती है, तुम्हारी पुकार प्राणों को उदास कर देती है।

चारिदिके कामना-अप्सरी
खेले लुकोचुरि-खेला करतले मोर दुइ चक्षुचेपे धरि
दृष्टि रोध करि ;
तबु माझे माझे जेनो अंगुलिर फांके
आंखिर किरण तबो आसि मोर लागे
नयनेर आगे
आलोहित रागे

—चारों ओर कामना-अप्सरी मेरी दोनों आंखों को बंद कर मुझसे लुका-छिपौवल खेलती है। मेरी दृष्टि रुद्ध कर, फिर भी बीच-बीच में उंगलियों के बीच से तुम्हारी आंख की किरणें जैसे मुझे आंखों के सामने लाल-लाल दिखाई दे जाती हैं।

जाबो जाबो, तोबु आमि जाबो
हे अनंत बलो बलो आमि तोमा पावो
... ...
हे असीम तोमार माझारे भेसे जाबो चुपे चुपे

—जाऊंगा-जाऊंगा, फिर भी मैं ज़ाऊंगा। हे अनंत, तुम कहभर तो दो, तुम मुझे मिलोगे।

सुधाकान्त राय चौधुरी

सुधाकान्त राय चौधुरी कोई बड़े कवि नहीं हैं, किंतु फिर भी उनकी एक कविता 'मुक्तिर खेला' हम पाठकों के सामने उपस्थित करते हैं। इसमें जेल में रहनेवाले एक क़ैदी के गहरे भाव चित्रित किये गए हैं :

रुद्ध मम चित्त नित्य कांदे बंदीशाले
तोबु वातायन-द्वार-पथे नव प्राते
जे आलोक जागे पूर्वदिगन्तेर भाले
आभाखानि तार लागे आसि मोर माथे।

पिंजरे राखिया मोरे संकीर्ण सीमाय,
केनो सुदूरेर पाने दृष्टि मोर टानो,
केनो चित्तपाखि जेथा क्लांति ते झिमाय
अरण्येर विहगेर गीतध्वनि आनो।

इत्यादि

—बन्दीशाला में मेरा रुद्ध चित्त नित्य रोता है, फिर भी रोज सबेरे जगने के रास्ते जो रोशनी पूर्व क्षितिज के ललाट में जागती है, उसकी आभा आकर मेरे सिर पर लगती है। मुझे संकीर्ण सीमा में पिंजरे में रखकर क्यों सुदूर की ओर मेरी दृष्टि को खींचकर तरसाते हो? जहां मेरी मन-चिड़िया थकावट से सोती-सी है, वहां जंगली चिड़ियों की गीत-ध्वनि क्यों लाते हो? मैं तो पथरीले दुर्ग में बन्दी हूं, फिर मेरे श्रावण के द्वार में बार-बार अपने उद्दाम गीत की पुकार से क्यों खटखटाते हो, और इस प्रकार हृदय में दुरंत दुर्वार मुक्ति का वेग क्यों ला देते हो?

जेल पर बहुत-सी कविताएं लिखी जा चुकी हैं, लेकिन इसमें कैदी के अंतर की गहरी वेदना को भाषा दी गई है।

एक और कवि की कविता देकर हम इस दौर को समाप्त करते हैं।

सुरेन्द्रनाथ मैत्र

सुरेन्द्रनाथ मैत्र की इस कविता का नाम 'वात्सल्य' है। भाषा तथा छंद में वह रवीन्द्रनाथ के प्रभाव से ओत-प्रोत होते हुए भी इसकी कल्पना में नवीनता है। हम केवल पहला बंद उद्धृत करेंगे, शेष का अनुवाद भर देंगे।

खेला घरे शिशु खेला करे
धूलिर फाटल-मेघे जेनो चांदिमार सुधा झरे
हासि-ज्योत्स्ना भरा मुख तार
सेई आलो सेई हासि जननीर स्नेह नीलिमार
अतल जलधि-वक्षे आलोकेर शुभ्र आलिपना
आंकिछे कत ना
उच्छल तरंग शिरे शिरे
आनंदेर सुमंद समीरे

—खेल के घर में बच्चा खेलता है, धूल के फटे हुए बादल में जैसे चन्द्रमा की सुधा टपक रही है। उसके चेहरे पर हँसी की ज्योत्स्ना है। यह रोशनी, यह ज्योत्स्ना जननी के स्नेह-नील अतल जलधि के समान वक्षस्थल में कितनी ही तरह की शुभ्र-आल्पना की सृष्टि करती है—उसकी चंचल तरंगों के ऊपर-ऊपर आनंद की सुमंद हवा में।

—दूर से कवि अकेला बैठकर इकटक देखता रहता है कि धरणी की धूल पर यह शिशु-शशि कैसा-कैसा खेल खेलता रहता है, और साथ-ही-साथ देखता रहता है कि स्नेह के सागर में किस प्रकार की लहरें उफनती हैं। ज्योत्स्नारूपी अमृत में वह घलकर रह जाता है। ज़रा-सी वह धूल लिपटी हुई देह समुद्र के भरपूर स्नेह को दीप्त करता है।

: २३ :

आधुनिक कविता

कहांपर आधुनिक साहित्य का अन्त होकर अति-आधुनिक युग का प्रारम्भ होता है, यह कहना बड़ा कठिन है। फिर यूरोपीय साहित्य में जिसे हम आधुनिक कहेंगे उसीकी बहुत-कुछ हद तक हमें बंगला में कई कारणों से अति-आधुनिक कहकर परिभाषा करनी पड़ रही है। बंगला में इस प्रकार परिभाषा होने में गड़बड़ी का कारण यह हो रहा है कि रवीन्द्रनाथ की रचना का एक अंश तो यूरोपीय अर्थों में भी आधुनिक है, किन्तु बाकी के लिए हम यह बात नहीं कह सकते, साथ ही उनको हम प्राचीन या अन्य किसी पर्याय में नहीं डाल सकते। सुप्रसिद्ध समालोचक अजितकुमार चक्रवर्ती ने ठीक ही लिखा है कि विश्वमानविकता में रवीन्द्रनाथ बालजाक, ब्राउनिंग, ह्यूगो आदि किसी लेखक से उतरकर नहीं हैं, किन्तु उनकी चरित्रसृष्टि में न तो वह विचित्रता है, न वास्तविकता, न अभिज्ञता का स्तरपर्याय, न उत्थान-पतन की लहरें, न पापपुण्य का घातप्रतिघात। ये ही विशेषताएं हैं, जिनसे यूरोपीय साहित्य तरंगित, फेनायित तथा विक्षुब्ध हो रहा है। इसलिए कविता, विशेषकर गीतिकविता, में जहां वस्तु से कोई वास्ता नहीं, रवीन्द्रनाथ अतुलनीय हैं। इसलिए कहानियों में

भी जहां घटना से कहीं बढ़कर महत्वपूर्ण घटना का आन्तरिक सुर होता है, वे अपना सानी नहीं रखते। रूपक-नाट्य में भी रवीन्द्रनाथ को इसी कारण सफलता मिली है।

अवश्य इस युग मे मौजूद रहने के कारण आज के जीवन की सैकड़ों समस्याएं रवीन्द्रनाथ की अनुभूतिशील वीणा को बार-बार छू गई हैं। जिन कवियों को हमने रवीन्द्रनाथ के बाद गिनाया है वे भी इन विश्वव्यापी समस्याओं के महाप्लावन मे नही बच सके, फिर भी उनपर उनका विशेष प्रभाव पड़ा, यह कहने के लिए कोई कारण नही। बात यह है कि "बंगला साहित्य में अबतक मुख्यतः भाववाद का ही बोलबाला रहा। बंकिम की कल्पना में एक बड़े आदर्श का भाव है, रवीन्द्रनाथ की कल्पना मे वस्तु तथा भाव की एक समन्वयचेष्टा है, और जिनको हम भारतीय उपन्यासकारों में सबसे ज्यादा प्रगतिशील तथा क्रान्तिकारी समझते है, वे भी विश्लेषण करने पर वस्तुवादी नहीं पाये जाते, बल्कि उनके उपन्यासो में वास्तविकता का संवेदनमय इसलिए आत्मतान्त्रिक रूप मिलेगा।" मोहितलाल ने इसके बाद लिखा, "बंकिमचन्द्र की कल्पना में वास्तविकता एक बाधा के रूप नहीं थी, उनकी कल्पना थी सम्पूर्ण निरंकुश और बेरोकटोक,[1] रवीन्द्रनाथ की कल्पना में वास्तविकता रूपान्तरित हो गई है, मानो वास्तविकता की वास्तविकता ही लुप्त हो गई है। शरत्चन्द्र की कल्पना-वास्तविकता की समस्या जटिल हो चुकी है, वास्तविकता के लिए एक प्रबल आवेग की सृष्टि हुई है। इस त्रिधारा से शायद बंगला-साहित्य का वस्तुवाद खतम हो गया। इसके आगे जो साहित्य होगा, उसमें वास्तविकता के साथ वास्तविक रूप से निपटना पड़ेगा।"

आधुनिक शब्द एक तुलनात्मक शब्द है। जो चीज कल आधुनिक थी, आज उसका प्राचीन कहलाना स्वाभाविक है। इसमें बिना बात तर्क करने अथवा झगड़ने की जरूरत नहीं। सच बात तो यह है कि इसमें हमें खुशी ही मनानी चाहिए। "कभी उन्नीसवीं सदी भी तो आधुनिक थी, किन्तु बीसवीं सदी में उसकी वह आधुनिकता मान्य कैसे हो सकती है? फलस्वरूप जो भी प्राचीन संस्कार युग-धर्म के पैरों में बेड़ी डालकर उसकी गति को कुंठित करता है, उसे कुसंस्कार

---

[1] आधुनिक बंगला साहित्य, पृ० २७०

आख्या दी जा सकती है, और गति के पथ को रुद्ध करने के कारण वह निन्द-नीय तथा वर्जनीय है। हमारे मन की पृष्ठभूमि में विभिन्न भंवरों के जरिये से युग-युग तक जो कुसंस्कार पुंजीभूत हुए हैं उनके प्रभाव से छुटकारा पाना कठिन हो जाता है। सीमित संस्कारों में ढके हुए कुहरे में साहित्यदेव का जो विकृत रूप हमारी आंखों के सामने आता है उसीकी पूजा में हम तन्मय हो जाते हैं, इस प्रकार हम अपनी मोहतन्द्रा पर शान्त-समाहित अवस्था समझने का भ्रम कर डालते हैं।"[1]

आर्थिक-सामाजिक परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य में उसके ध्येय, आधेय तथा रूप में परिवर्तन होना अनिवार्य है। फिर भी इस अनिवार्य भवितव्यता को कभी के क्रान्तिकारी और उस समय के बड़े-बूढ़ों ने रोकना चाहा है, फल-स्वरूप एक संघर्ष, तूफान तथा बातों की मारकाट शुरू हो गई है। यह एक अजीब बात है कि जिस क्रान्तिकारिता या विचार-स्वातंत्र्य की बदौलत वे साहित्य में एक नये युग के प्रवर्तक हुए, उसीका अवलम्बन कर जब दूसरे उनसे भी आगे जाना चाहते हैं तो वे विधि-निषेधों की एक चीन की दीवार खड़ी कर उन्हें रोकते हैं, और जब इसपर भी ये नये मत-वाले नहीं मानते तो उन्हें तरह-तरह से गालियां दी जाती हैं। "यहां तक कि लेख के चरित्र को छोड़कर लेखक के चरित्र पर हमले किये जाते हैं।" एक नवीन पंथी बंगाली समालोचक ने लिखा है—

"राजा राममोहनराय, केशवचन्द्र सेन, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, ये भी एक जमाने में अर्वाचीन समझे जाते थे। आधुनिकता के अपराध में उस जमाने में उनकी प्रचुर निन्दा होती थी, उनको बहुत-से सामाजिक निर्यातन सहने पड़े। बंकिमचन्द्र, माईकेल, नवीनचन्द्र आदि को सामाजिक निर्यातन का सामना करना पड़ा था, किन्तु निर्यातित होने का दुःख एक है और प्राचीन होने का दुःख दूसरा है। अभी हाल में रवीन्द्रनाथ के सम्बन्ध में एक ऐसी ही शोकप्रद घटना हुई है। जो नारा दिया जा रहा है, वह गलत है। रविबाबू का इस बात पर दुखी होना स्वाभाविक है कि अब उनका नाम लोग नवीनों की बही से काटे दे रहे हैं। उनके दुःख को हम समझते हैं, किन्तु रवीन्द्रनाथ के चेलों द्वारा किये गए पुनर्जन्म के उत्सव हम नहीं समझते। रविबाबू ने नवीन का विजयगान किया है, उसके

---

[1] प्रेमेन्द्र विश्वास—आधुनिक बांगला गल्प

लिए उनको गालियां भी यथेष्ट दी गईं, किन्तु आज यदि उन्हींको प्राचीनता के शिविर में ढकेल दिया जाय तभी तो हम यह कह सकते हैं कि नवीनता की पुकार सत्य है। बड़े भारी आधुनिक तथा विद्रोही शरतचन्द्र प्राचीन की श्रेणी में जाकर मरे, यह तो उनके विप्रदास की परिणति से ही स्पष्ट है। फिर भी इसमें रोने-धोने की बात क्या है, यह हमारी समझ में नहीं आती। यदि प्राचीन ही सब जगह पर अपना अधिकार रक्खे तो नूतन को जगह कहां मिलेगी ? फिर तो हमें सबसे पहले जीव-विज्ञान को झूठा करार देना पड़ेगा। यदि पिता ही चिर-काल तक मौजूद रहे तो सन्तान की जरूरत क्या है ? फिर यदि पुत्र हुबहू पिता की ही तरह नहीं हुआ तो इसपर हम विलाप क्यों करें। फिर मनुष्या-वतार को क्यों, मीनावतार को ही पानी चढ़ाने से काम चल जाता।"

अति-आधुनिक साहित्य पर तरह-तरह के आक्षेप किये गए हैं। कहा जाता है कि अति-आधुनिक साहित्य छाग-साहित्य है, प्राचीन साहित्य रामायण है तो यह कामायण है। अति-आधुनिक कविता को कामोद्दीपक तथा शरीर की पूजा करनेवाली वासन-कलुषित भी कहा गया है। मैं समझता हूं यह बिल्कुल झूठा तथा बेबुनियाद लांछन है। बाइबल, रामायण, महाभारत से आज की कविता अधिक अश्लील है, यह कहना गलत है। बंगला में कृत्तिवास की जो रामायण या काशीरामदास का महाभारत है, उन्हें कोई भी अतिनीतिमान अपने लड़के को नहीं दे सकता। सच बात तो यह है कि आज की अश्लीलता कम है। रहा यह कि अति-आधुनिक साहित्य में शरीर को उसका उचित स्थान दिया गया है। हां, कहीं-कहीं कुछ अति भी हुई है, यह हम मानते हैं, और यह स्वाभाविक ही है। आधु-निकतम मनोविश्लेषण शरीर और मन की एकमेवाद्वितीयता की ही दलील को पुष्ट करता है। ऐसी हालत में शरीर पर से आंख हटाकर कल्पना की धूमिल रंगीन धरा पर विचरण करना कभी वांछनीय नहीं हो सकता। अवश्य ही दुर्नीति का प्रचार करना अति-आधुनिक साहित्य का लक्ष्य नहीं हो सकता और न है। हां, जिन बातों को अबतक हमारे समाज के नीतिवान साहित्यिकों ने केवल अस्वीकार करके ही उड़ा देना चाहा था, किन्तु फिर भी जो थीं, और जिनका नतीजा बराबर हमारे सामने आता रहता था, उनको अति-आधुनिक साहित्य ने सबके सामने लाकर रख दिया है। यही हमारे बुजुर्गों के निकट दुर्नीति है। अति-आधुनिक साहित्य को कुछ बंगाली समालोचकों ने बाथरूम

साहित्य याने 'गुसलखाना साहित्य', कहा है। इस आक्षेप का उत्तर यह है कि अति-आधुनिक अपने गुसलखाने को हमारे प्राचीनों के रसोईखाने से अधिक साफ-सुथरा रखते हैं, इसलिए यह कोई विशेष गाली नहीं है।

वास्तव में बात तो यह है कि ये सब बातें इसलिए उड़ाई जाती हैं कि प्राचीन अपनी गद्दी पर कायम रह सकें, इसी कारण यह विरुद्ध प्रचार है।

प्राचीनों की तरफ से वकालत करते हुए कवि रवीन्द्र कहते हैं—"विधाता की सृष्टि में जो पुनरुक्ति है, वही चिरसत्य है। प्राचीन को लेकर ही विधाता चिरकाल से इस पृथ्वी में इन्द्रजाल की रचना करते आये हैं, इसपर यदि उन्हें लज्जा न हो तो..."

बीच ही में बात काटकर नवीन कहता है—"विधाता को भले ही लज्जा न हो, किन्तु मनुष्य को लज्जा है। मनुष्य का साहित्य, शिल्पकला, भास्कर्य, हमेशा नया ही रूप लेता रहा है। प्रागैतिहासिक युग में एक चमेली जैसे फूलती थी आज भी वैसे ही फूलती है, परन्तु फिर भी विधाता की कला में बट्टा नहीं लगता, किन्तु उस युग का मनुष्य जैसी तस्वीरें खींचता था आज भी यदि वह वैसी ही खींचे तो आज उसके लिए लज्जा की कोई सीमा न रहे, प्रतिदिन नई सृष्टि करने में ही उसकी कला की सार्थकता है।"

हमारे बुजुर्ग जब सभी बातों में हार जाते हैं तो वे कहते हैं, आखिर यह तुम्हारा अति-आधुनिक साहित्य आया कहां से, आखिर तुम्हारे बाप तो हम ही हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ऋण है, किंतु ऋण कितना? फिर यदि अब के साहित्यिक उन्नीसवीं शताब्दी के साहित्य के ऋणी हैं तो क्या वे किसी और के ऋणी नहीं हैं। कविवर कहते हैं, वाल्मीकि आये थे तभी उनका आना संभव हुआ, नवीन यहांपर तड़ से पूछ बैठता है वाल्मीकि का आना किसकी बादौलत संभव हुआ? फिर नवीन स्वयं ही कहता है, "बच्चा मां से चलना सीखता है, किन्तु चलता है वह अपने ही ज़ोर से। जिस रहस्य की खान से आदिम कवि ने प्रेरणा पाई थी उसीसे अति-आधुनिक प्रतिभाशाली कवि भी प्रेरणा पाता है। हम अतीत काल के गर्भ से आये हैं, इसे हम अस्वीकार नहीं करते, किन्तु मां के गर्भ से बेटा निकला है, केवल इसी तत्व पर यदि मां बेटे को हमेशा चलाना चाहे तो वह एक विभ्राट का रूप धारण करे। भूतकाल मनुष्य की अवचेतना में रहे तो ठीक है, यही उसका यथार्थ स्थान है, किन्तु इसके बजाय कि पर्दे के

पीछे से चुपचाप अपना भी प्रभाव डाले, वह हमारी सारी चेतना को आच्छन्न कर ले, यह एक भयंकर बात ही नहीं, दैवदुर्विपाक होगा। यदि रवीन्द्रनाथ को समझने के लिए ईश्वर गुप्त, और ईश्वर गुप्त को समझने के लिए काशीराम दास को और काशीराम दास समझने के लिए अशोक की शिलालिपि पढ़नी पड़े तो बस हो चुका।"[1]

साहित्य में तथा सर्वत्र इस बात के लिए अधिकतर मारकाट हुई कि गद्दीदारों ने हमेशा मकानों की छतों से यह दावा किया कि आखिरी पैगम्बर वे ही हैं, उन्होंने जिस सत्य को पा लिया, वही सत्य का चरम तथा परम विकास है। यही तो गलती है। यदि उनके समय में विकास होता था तो क्या वजह है कि उसके बाद विकास न होगा। इस दावे के कारण ही नवीन और प्राचीन में बराबर साहित्य में तुमुल संग्राम हुआ है। शायद यह नवीन और प्राचीन, गद्दीदार और गद्दी के अधिकारी का संग्राम ही चिरन्तन सत्य है।

हम कई बार लिख चुके हैं कि बंकिम कहिये, माइकेल कहिये, द्विजेन्द्रलाल कहिये, रवीन्द्र कहिये, इनमें से सभी मध्यवित्त श्रेणी के साहित्य के रचयिता थे। उन्हींकी भावुकताएं, आदर्श तथा वास्तविकता उनका उपजीव्य था। एक नवीन साहित्यिक की भाषा में सुनिये, "साहित्य अबतक धनी तथा विलासियों की जयगाथा से परिपूर्ण था। राजा-नवाबों की प्रशस्ति तथा कहानी से ही उसका काम चलता था, यद्यपि आज जनता का भी वहां स्थान होने लगा है, किन्तु इतने ही से हम सन्तुष्ट नहीं हो सकते, हमें इनसे भी नीचे उतरकर उसे जहां अपमान और अत्याचार हो रहा है, उन सर्वहाराओं में ले जाना पड़ेगा। आज दुनिया के कारखाने और जमीनों के मालिक एक तरफ हैं, वे हैं पूंजीपति और ताल्लुकेदार, दूसरी तरफ हैं किसान और मज़दूर, ये सर्वहारा है। यह वर्ग-संघर्ष आज बहुत ही स्पष्ट है और नज़दीकी चीज़ है। कुछ नहीं यदि गहराई से अध्ययन किया जाय तो ये ही राष्ट्र, ये ही जाति हैं। साहित्य का काम अब यह होगा कि वह इन किसान-मज़दूरों की सामाजिक तथा राष्ट्रीय चेतना को जगावे। वही साहित्य वास्तव में राष्ट्रीय साहित्य होगा।" नवीन युग के नवीन समालोचक फिर कहते हैं—"यह जो साहित्य है, इसमें संभव है, त्रुटियां हों, रहें। युग-युगान्तर

---

[1] यह नवीन श्री प्रेमेन्द्र विश्वास है।

के बन्धन को एक दिन में तोड़ने चले हैं, कुछ तो टूटेगा। सीमित संस्कारों के संकीर्ण दायरे में शान्ति भी है, शृंखला भी, किन्तु वहां जीवन की वह चंचलता कहां और मुक्ति का आनन्द कहां ?"

इसमें सन्देह नहीं वह नई चीज है। एक जमाने में अर्थात् बीस-पच्चीस वर्ष पहले रवीन्द्रनाथ को अधिक-से-अधिक अपनाना ही बंगला लेखकों तथा कवियों कि का आदर्श था, किन्तु अब उनसे अधिक-से-अधिक अलग हटना ही मानों बहुतों का आदर्श हो रहा है। इस प्रयास में कुछ लोगों ने अति कर दी है। नतीजा यह है कि वे जिस बात से बचना चाहते थे वे उसीके शिकार हो गये हैं। वे कृत्रिम हो गये तथा अवास्तविक भी हो गये। फिर भी यह एक नवीनता है। बंगला का अति-आधुनिक गद्य तथा पद्य साहित्य धीरे-धीरे जनता का साहित्य शायद बने, किन्तु अभी वह जनता का साहित्य नहीं है। ठीक-ठीक कहा जाय तो साहित्य अभी धनी, विलासी मध्यवित्त श्रेणी से उतरकर अब निम्नमध्यवित्त श्रेणी में उतरा है।

प्रेमेन्द्र मित्र, बुद्धदेव वसु, अचिन्त्यकुमार सेन गुप्त, यह तीन अति-आधुनिक साहित्य के त्रयी विशेषतः शहर की निम्नमध्य वित्त श्रेणी की ग्लानि, दुःख गरीबी के ही चित्रकार हैं। हां, शैलजानन्द मुखोपाध्याय ने कोयले की खानों के कुलियों को लेकर कुछ अत्यन्त शक्तिशाली साहित्य की रचना की है, किन्तु बस। फिर भी ये अति-आधुनिक लेखक जब कुलियों को लेकर भी साहित्य रचना करते हैं तो उनको एक-एक व्यक्ति के रूप में देखते हैं, उनकी सामूहिक समस्याओं पर वे कम रोशनी डालते हैं। याद रहे कि बजाय दुर्गेशनन्दिनी के यदि हम कुलीकुमारी को लेकर गल्प, कविता लिखें तो वह अनिवार्य रूप से जनता का साहित्य नहीं होगा, हम यदि प्रेमिका के द्वारा प्रेमी को बजाय चाकलेट के बक्स या फान्टेन पैन उपहार रूप में दिलवाने के तेल की जलेबी या झब्बेदार नाड़ा दिलवायें तो उससे साहित्य में एक नवीनता ज़रूर आ जाती है, इसका हम स्वागत करते हैं, किन्तु केवल इन्हीं बातों से यह साहित्य जनता का साहित्य पदवाच्य नहीं हो सकता। जनता का साहित्य वह है जो जनगण की आशा, आकांक्षा, भय, त्रास, हर्ष, आनन्द को रूप दे। दुःख की बात है कि अभी ऐसा साहित्य कम है। इस बात के लिए दोष हमारे लेखकों का है। वे ऐसी श्रेणी के हैं कि वे इन बातों को समझ नहीं पाते, जनता की आत्मा तक उनकी पैठ नहीं

है। रवीन्द्रनाथ ने 'चार अध्याय' नामक पुस्तक में राष्ट्रीय चेतना को चोट पहुंचाकर अपनेको पुलिसमैन की श्रेणी में ला दिया है, यह एक नवीन समालोचक ने लिखा है।

बंगला के अति-आधुनिक साहित्य में प्रतिभा का अभाव नहीं है, किंतु जनता के साहित्य की सृष्टि के लिए जिस साहस की जरूरत है वह शायद आज के लेखकों में प्रचुरता से मौजूद नहीं है। इस साहस के अभाव का एक बाह्य कारण भी है, वह यह कि सरकार के प्रहार से ये डरते रहे। मैं यह नहीं कहता कि आज का उपन्यास या कविता केवल राजनीति की चेरी हो जाय, किन्तु यह जरूर है कि आज की जनता के सामूहिक जीवन में राजनीति को एक विशेष महत्व प्राप्त है। यह बात साहित्य में झलक जानी चाहिए। यदि ऐसा न हो सका तो कहना पड़ेगा कि साहित्य चाहे कितना भी समृद्ध हो, वह वास्तविकता से परे एक कल्पना-विलास मात्र है। राष्ट्रीयता की तरह श्रेणी-संघर्ष भी एक वास्तविकता है। मजदूर-किसानवर्ग अपनी युग-युग की उदासीनता छोड़कर जिस तरह अपने शोषकों के विरुद्ध विद्रोह में उठ खड़े हो रहे हैं, वह आज एक वास्तविकता है। नये युग के लेखक को इस संघर्ष को भी प्रतिबिम्बित करना पड़ेगा। राम, श्याम, यदु, मधु की प्रेमलीला से यह कहीं बढ़कर वास्तविकता है, बल्कि ठीक कहा जाय तो यह वास्तविकताओं में वास्तविक है। एक वस्तुवादी लेखक भला इनसे मुंह कैसे मोड़ सकता है!

हमने ऊपर जो कुछ कहा वह तो साधारण रूप से साहित्य के विषय में कहा, किन्तु हमारा सम्बन्ध विशेष रूप से कविता से है। हम पहले देखें कि यूरोप में आधुनिक साहित्य ने अपने सामने क्या काम रक्खे हैं, श्री अजितकुमार चक्रवर्ती ने इनको यों गिनाया है—

१. सामाजिक न्याय-समाज के अन्तर्गत प्रच्छन्न या प्रकट अन्याय तथाकथित उच्चश्रेणी के सर्वेसर्वापन तथा उत्पीड़न के प्रति विद्रोह। विक्टर ह्यूगो ने अपने 'ला मिजराबल' (Les miserables) नामक प्रसिद्ध उपन्यास में इस पर्याय का सूत्रपात किया है। टालस्टाय की कहानियों में भी इसको हम कहीं-कहीं प्रत्यक्ष करते हैं, किन्तु इब्सन के नाटकों में ही आकर हम इसको असली रूप में पाते हैं। उदाहरण स्वरूप 'समाज के स्तंभ' (Pillars of Society) लिया जाय, इसमें कान्सल बर्निक अपने पापों का बोझ दूसरों पर कितनी ही चालाकी तथा फरेबों के द्वारा

लादने की व्यर्थ चेष्टा करता रहा। आधुनिक समाज के स्तम्भों की नींव इसी प्रकार दुर्बल है। बर्नार्ड शा तथा गाल्सवर्दी इब्सनवादी हैं।

२. समाज-विज्ञान, जीव-विज्ञान आदि के नये-नये आविष्कार कला के वाहन बनाकर दिखलाये गए हैं। जैसे एक बात लीजिये वंशानुक्रम। इसको अवलम्बन कर इब्सन का 'प्रेत' (Ghost) हौप्टमैन का 'अग्निकांड', (Conflagration) पिनेरो का 'शाहखर्च', (Profligate) आस्कार वाइल्ड का लेडी विन्डरेमेयर के भक्त (Lady Windermere's fan) लिखा गया है।

३. पाप का विश्लेषण—अस्वाभाविक, अस्वस्थ तथा प्रतिसामाजिक अपराधों का विश्लेषण। इस श्रेणी में जोला आते हैं, इनसे भी बढ़कर है डास्टयएफस्कि का 'अपराध और सजा' (Crime and Punishment) और 'मूर्ख' (The idiot) उपन्यास, स्ट्रीन्डबर्ग का 'पिता' (Father), 'मृत्यु का तांडव' (Dance of death), हौप्टमैन का 'साथी क्रैम्पटन' (Colleague Krampton), 'समझौता' (Reconciliation) बर्नार्ड शॉ का 'श्रीमती वारेन का पेशा' (Mrs. Warren's Profession) और ब्रियो का अर्द्धदेवता (Demi God), 'वस्तुएं' (Goods), 'मातृत्व' (Maternity) आदि।

४. श्रेणी-संघर्ष—गाल्सवर्दी, हौप्टमैन, बर्नार्ड शा आदि में इसका प्रमाण मिलेगा। गाल्सवर्दी के 'संघर्ष' (Strife) नाटक में अध्यक्ष जॉन एंथनी और मजदूरों के नेता राबर्ट्स का विरोध दिखलाया गया है। पूंजीपति एंथनी समझता है कि पूंजीवाद की ही बदौलत समाज उन्नति कर रहा है, इसलिए मजदूरों की मांग में उसे कुछ सत्य नहीं दिखाई पड़ता। हौप्टमैन का 'जुलाहे' (Weavers) इसी श्रेणी का नाटक है। बर्नार्ड शॉ का 'विधुर के घर' (Widower's houses) इसी श्रेणी में आता है।

५. परिवार तथा पारिवारिक सम्बन्धों का विश्लेषण-इस श्रेणी में इब्सन का 'लिटिल इयोल्फ' (Little Eyolf) स्ट्रीन्डबर्ग का 'पिता' (Father) तथा 'जोड़नेवाली कड़ी' (The Connecting link), हौप्टमैन का 'चूहे' (The rats) आदि हैं।

६. स्त्री-पुरुष के पारस्परिक सम्बन्ध का विचार। इसमें—

(क) मिथुन-प्रेरणा की लीला—इसमें स्ट्रीन्डबर्ग का 'काउन्टैस जूली' (Countess Julie). चैकोफ का 'चचा वान्या' (Uncle Vanya)

बर्नार्ड शा का 'फिलैण्डर्स' (Philanders) आता है।

(ख) विवाह-सम्बन्धी समस्या—इसमें इब्सन की 'सागर की नारी', (Lady of the sea) 'गुड़िया-घर' (Doll's house), टाल्स्टाय का 'क्रूजर सोनेटा' (Kreutzer Sonata), गाल्सवर्दी का 'भगोड़ा' (The Fugitive), शॉ की 'परिणय' Getting Married इत्यादि।

(ग) स्त्रियों की आर्थिक तथा सामाजिक स्वाधीनता का प्रश्न—उदाहरणतः इब्सन का'गुड़िया-घर' (Doll's House) ब्रिओ का 'स्वावलम्बी नारी' (The woman on her own) आदि हैं।

स्पष्ट है कि ऊपर साहित्य के जो क्षेत्र अजितबाबू ने गिनाये हैं वे मुख्यतः गद्य-साहित्य के बारे में लागू हो सकते हैं, किन्तु इससे कविता के क्षेत्र का भी अनुमान किया जा सकता है। एक बात इस सम्बन्ध में याद रखने योग्य है कि आज की कविता कहां खतम होती है, यह कहना मुश्किल है; क्योंकि गद्य और पद्य का जो भेद पहले मान्य था वह अब विलीन-सा हो रहा है। आज की कविता में अक्सर छन्द (याने जिसे किसी नियम में लाया जा सकता है) नहीं रहता। हिन्दी में लोगों ने इसको रबड़ छन्द कहा है। एक बात सिर्फ इसमें देखते हैं कि यह कुछ सीढ़ी की तरह लिखा जाता है। कोई-कोई नवीन कवि ऐसे पहुंचे हुए हैं कि उनका कोई मतलब समझ में नहीं आता, शायद लेखक स्वयं आकर समझाये तो समझ में आये।

आधुनिकतम कविता किसी वाद के विवाद में पड़ी नहीं रह सकती, समग्र जीवन ही उसका क्षेत्र है। अंग्रेजी में 'रूपर्ट ब्रुक' (Rupert Brooke) एक कवि हो गये हैं। उन्होंने युद्ध ही पर लिखा है। किप्लिंग एक तरह से साम्राज्यवाद के कवि थे। इसी प्रकार मैं समझता हूं, जो भी लहर देश में उठे, उसका एक-एक कवि होना चाहिए। अवश्य ऐसे भी कवि होंगे, जो इन सबके केन्द्र-बिन्दु को लेकर कविता लिखेंगे।

हमने इस दौर में अबतक केवल एक निबन्ध के रूप में साधारण तौर पर इसलिए लिखा है कि अभी बंगला में अति-आधुनिक साहित्य का रूप स्पष्ट नहीं हुआ, शायद यह तबतक स्पष्ट न हो जबतक कि उसमें कोई रवीन्द्रनाथ या शरच्चन्द्र पैदा न हों। फिर भी एक बात इस साहित्य में सर्वत्र स्पष्ट है कि अब कवि तथा लेखक रवीन्द्रनाथ के प्रभाव से मुक्त होना चाहते हैं। पाश्चात्य-

साहित्य में इस समय रूसी-साहित्य का बंगला के लेखक बहुत अध्ययन करते हैं। इससे मालूम हो जाता है कि रवीन्द्र-प्रभावमुक्त साहित्य का रुझान किस ओर है। अब हम रवीन्द्र और अति-आधुनिक काल की गोधूलि के समय की बंगला कविता के कुछ उदाहरण पाठकों के सामने उपस्थित करेंगे।

मोहितलाल मजूमदार

मोहितलाल मजूमदार बंगला के अच्छे कवि तथा समालोचक हैं। उनको शायद हम इस दौर में स्थान न देकर इसके पहले के दौर में ही पेश रखते, क्योंकि रवीन्द्रनाथ से स्वतन्त्र होने की चेष्टा करने पर भी वह उसीके दायरे में रह गए हैं। उन्होंने एक कविता 'कालापहाड़' के नाम से लिखी है, वह निःसंदेह एक अति-आधुनिक कविता है। इस कविता का यदि हम अंग्रेज़ी में अनुवाद करते तो इसका नाम मूर्तितोड़क देते। पाठकों को मालूम होगा कि कालापहाड़ एक प्रसिद्ध मूर्तिभंजक था। कवि ने कालापहाड़ को एक कट्टर नौमुस्लिम चित्रित न करके एक क्रान्तिकारी तथा कुसंस्कारों के विरुद्ध जिहाद करनेवाला रखते चित्रित किया है। कालापहाड़ कवि के निकट वह शक्ति है, जो किसी चीज़ के अन्दर से पैदा होकर उसकी भलाई के लिए उसपर चोट-पर-चोट करती है।

वंश जाहर वलि जोगाइलो यूपे, युगे-युगे, भयविभल—
जागियाछे तारि वीर सन्तान हुंकारे भरि जलस्थल।

—"जिसने पुश्त-दर-पुश्त युग-युग तक भयविह्वल होकर यूप में बकरा भेजा, आज उसीकी वीर सन्तान जलस्थल को भरकर जगी है। उसके रास्ते में पहाड़ सिर झुकाकर सिजदा करता है, उसके कटाक्ष से सूर्य अस्त हो जाता है, उसके खड्ग में स्थिर बिजली है, उसके आने से जो धूल उड़ती है, वही मानों उसकी ध्वजा है और वह एक बादल की तरह है। लो, वह आ रहा है, दुन्दुभि कड़कड़-गड़गड़ बज रही है। क्या इतने दिनों बाद सुरासुरजयी वह युगावतार—कालापहाड़ उठा ?'

पाषाण पुरीर खिल खुलि जाय, दूर हते सुनि हुं हुकार
पूजावेदीमूले हेमतैजस झंकारे करे आशंकार

—"पाषाण पुरी की सिटकनियां दूर से उसकी हुंकार सुनकर खुल जाती हैं, पूजा की वेदी के सोने के बर्तनों से आशंका की झंकार निकलती है। विराट मन्दिर के जंगी कब्जे स्वयं निकलकर भाग-से जाते हैं, अंधेरे गह्वर में हाहाकार

छा जाता है और मूर्ति के पत्थर आप-से-आप टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं। पुजारी-पंडे झंडे उतारकर आंगन में पटखनी खाकर गिर पड़ते हैं। सुनो, वह नगाड़ा बजाते हुए आ पहुंचा कालापहाड़।"

वनफूल उर्फ बलाईचांद मुखोपाध्याय

'वनफूल' एकमात्र आधुनिक बंगला लेखक तथा कवि हैं, जो अपने उपनाम से ही परिचित हैं। ये एक प्रमुख उपन्यासकार, कहानी-लेखक तथा नाटककार भी हैं। इनकी कविताओं का छन्द तथा भाषा सुन्दर होती है। मुख्यतः उन्होंने हास्यरस की कविताएं लिखी हैं। नीचे 'छात्री ओ छात्र' नामक एक कविता दी जाती है।

छात्री ओ छात्र
चिरकालइ हय तारा
निन्दार पात्र
पड़ाशोना व्यापारेते मन नाइ कारु बा
वेशविन्यासे केऊ चकचके चारु बा
आधुनिकमना केह सिनेमार भक्त
खद्दरधारी कारो मतामत शक्त
केऊ भारी भीतु-भीतु, केऊ भारी क्षात्र,
छात्री ओ छात्र।

—"छात्राएं और छात्र हमेशा बेचारे निन्दा के पात्र होते हैं। पढ़ने-लिखने में किसीका मन नहीं लगता, कई बन-ठनकर बड़ी टीमटाम से रहते हैं, कई नये फैशन के हैं तथा सिनेमा के भक्त हैं, कोई खद्दरधारी हैं, उनकी राय बड़ी कठिन है, कोई डरपोक हैं तो कोई क्षात्र हैं। छात्राएं और छात्र।"

इस कविता का जो कुछ कवित्व है, वह छन्द में ही होने के कारण अनुवाद देना उचित नहीं लगा।

सजनीकान्त दास

सजनीकान्त दास एक विख्यात आधुनिक कवि हैं। उन्होंने प्रेम के देवता को जैसे सम्बोधन किया, उसमें कुछ पंक्तियां ऐसी हैं कि उन्हें पढ़कर कुछ पाठकों को

शायद विचित्र लगे। हम केवल उन्हीं पंक्तियों को उनकी विचित्रता के लिए देते हैं :

मृत सागरेर चारि पाडे आज आमरा कोरेछि भीड़
भीड़ करियाछि गाढ़ तिमिरेर तीरे
कांदितेछि अनाहारे—
रुटी नई प्रभु, मोछेर टुकरा नाई।
तुमि एसो-एसो, ए मृत सागर पाये हेंटे हओ पार,
भास्वर देहे दांड़ाओं अन्धकारे।
क्षुधित जनेरे रुटी दाओ, जल दाओ,
प्रेम दाओ प्रभु, तोमार अमर प्रेम।
धन्य कोरेछो मानुषे एकदा मानुषेर रूप धरि
से मानब मरियाछे
तोमार परशे मृतेरा लोभुक प्राण

—"मरे हुओं के सागर की चारों दिशाओं में आज हम जमा हैं। हमने गाढ़ अन्धकार के तीर में भीड़ की है। हम अनाहार से रो रहे हैं। हे प्रभु, रोटी नहीं है, मछली का टुकड़ा नहीं है। तुम आओ, आओ, इस मृत के सागर में पैदल चलकर पार होकर आओ। अंधेरे में भास्वर देह से खड़े हो जाओ। भूखों को रोटी दो, पानी दो, प्रभु प्रेम दो—अपना अमर प्रेम। एक ज़माने में तुमने मनुष्य का रूप धरकर मनुष्य को धन्य किया था। वे मानव, जिनमें तुम पैदा हुए थे, मर गए हैं, मरे हुओं को तुम्हारे स्पर्श से जीवन मिले।"

इस कविता का भाव तथा भाषा सब रवीन्द्र-सत्येन्द्र से पृथक् है। स्वप्न-लोक की अस्पष्टता इसमें नहीं है। इसमें है तेजस्वी परुष वास्तविकता। ज़रा कवि के साहस को देखिये। वह प्रेम के देवता से पुष्पक विमान या गरुड़ पर न आने को कहकर पैदल आने को कहते हैं। फिर उनसे शिकायत यह नहीं करते कि आजकल की कालेज-किशोरियां प्रेम नहीं चाहतीं, मोटर चाहती हैं, बल्कि कहते हैं, रोटी नहीं है, मछली का टुकड़ा नहीं है। वह उनसे प्रेम नहीं मांगते, बल्कि मांगते हैं रोटी, पानी, फिर सबसे पीछे प्रेम मांगते हैं। 'मनुष्य केवल रोटी से नहीं जीता' की कैसी नई व्याख्या है।

कहा जा सकता है कि यह कोई कविता नहीं है। विचार्य है। हमने पहले

ही कहा, एक नई धारा पैदा हो चुकी है, किन्तु जबतक कोई महान् प्रतिभा पैदा नहीं होती, जो अपनी आत्मा के अन्दर इस नई धारा का परिपाक कर उसको एक कलामय रूप देने में समर्थ हो, तबतक यही सन्देह होता रहेगा। फिर रवीन्द्रनाथ को भी तो पूर्ण तरीके से समझने में समय लगा था।

रवीन्द्रनाथ मैत्र

श्री रवीन्द्रनाथ मैत्र कुछ बड़ी मार्मिक कहानियों के लेखक के रूप में प्रसिद्ध हुए थे, किन्तु उनकी कविताओं में भी हम एक आधुनिक की आत्मा को स्पंदित होते हुए पाते हैं। वह बड़े ज़ोरों से लिखते हैं :

धरणीर बुके
धूलाय लभेछि जन्म, देवत्वेर नाहि अहमिका
सब अंगे माखि धूलि, आंकि भाले पंक जयटीका।
पथ बाहि चलि गर्व-सुखे
स्वर्गपाने तुलि अश्रु सिक्त समुज्वल मुखे।

"धरणी की छाती पर धूल में हमारा जन्म हुआ है, देवत्व की अहमन्यता मुझ में नहीं है। सब अंगों में धूल लिपटा लेते हैं, ललाट पर कीचड़ का जयटीका लगाते हैं। हम गर्व तथा सुख से रास्ते में चलते हैं, स्वर्ग की ओर हमारा सिर उठा रहता है और मुख अश्रुसिक्त समुज्ज्वल होता है।"

दंभभरे खरदृष्टि हाने
जाहारा दांड़ाये दूरे नाहि चाहि ताहादेर पाने
दांड़ाये माटिर परे स्वरगेर करे अभिनय
तारा—मोर नय, केह नय।

—"जो लोग दूर से खड़े-खड़े घूरते हैं, हम उनकी ओर नहीं देखते। जो लोग दूर खड़े हैं, हम उनकी ओर नहीं देखते। जो मिट्टी पर खड़े रहकर स्वर्ग का अभिनय करते हैं, वे हमारे नहीं हैं, नहीं, वे हमारे कोई नहीं होते।"

कवि वेदना से ही अपनी अनुप्रेरणा लेते हैं, वह कहते हैं :

धरणीर जन्मतिथि हते
मानुष भासिया चले दुःखज्वाला वेदनार स्रोते
शंका ओ संशय द्विधा लज्जा भय संघाते फेनिल
... ...

जतो वेदनार हाहा डुबे जाय केह नाही सोने
आमि कान पाति
सुर खुंजि तारे माझे, ताइ दिये गान मोर गांथि

—"धरणी की जन्मतिथि से ही मनुष्य दुःख-ज्वाला की वेदना के स्रोत में बह चलता है। वह स्रोत भी कैसा है कि शंका, संशय, द्विधा, लज्जा तथा भय के संघात से फेनिल। वेदनाओं के जितने हाहाकार डूब जाते हैं, उन्हें कोई नहीं सुनता, मैं कान खड़े कर उन्हें सुनता हूं, उनमें सुर खोजता हूं तथा उन्हींसे अपना गान पिरोता हूं।"

कवि मनुष्य को रक्त, मांस, अस्थि तथा भ्रान्ति से बना पाते हैं। थोड़ा-बहुत इस जीवन में सुख शायद होता, किन्तु उसके बीच में जाकर मृत्यु को बैठा दिया गया है। मरीचिका के लिए दौड़ जारी है, कवि भी दौड़नेवालों के हाथ-में-हाथ डालकर दौड़ रहे हैं। कवि ने कभी कोई गान नहीं सुना, आनन्द कहां है, उसका सन्धान नहीं पाया है, देवतागण लाखों पहरेदारों के बीच लोहे की दीवारों से घिरे रहकर भंवरहीन मन्दाकिनी के किनारे, चिरश्याम पारिजात के नीचे बैठकर, आनन्द-अमृत का जो दौर चलाते हैं कवि उसके स्वाद से परिचित नहीं। युग के बाद युग आता है, किन्तु कवि वही एक भाषा तथा अपूर्ण अतृप्त साध पेश करते हैं। चारों दिशाएं प्रवंचित पिपासा के हाहाकार से भर उठती हैं। कम्पमान करों से प्याला गिर पड़ता है, इसपर कवि आर्त्तनाद करते हैं, पानी समझकर मुट्ठियों से पागल बालू खोदते हैं। उसीके ताल पर कवि छन्द बनाते हैं, उसीसे गान बनाते हैं।

निःसंदेह यह एक नया जगत है।

रवीन्द्रनाथ मैत्र से बंगला साहित्य को बड़ी आशाएं थीं, किन्तु ३६ साल की उम्र में ही उनकी मृत्यु हो गई। ऊपर की कविता केवल एक उच्छ्वास भर न थी। उन्होंने बराबर अपने जीवन में उन्हींकी सेवा की, जिनको कोई टका सेर नहीं पूछता और उन्हींके विषय में लिखा। जिन पिछड़े हुए पतितों की अवरुद्ध वेदना भीतर-ही-भीतर दम घुटकर रह जाती थी, उनकी उस वेदना को भाषा देकर सुलगा देना उनकी लेखनी की विशेषता रही।

प्रेमेन्द्र मित्र

प्रेमेन्द्र मित्र बंगला के बहुत बड़े प्रतिभाशाली कवि तथा उपन्यासकार हैं,

उनके सम्बन्ध में एक ज्ञातव्य बात यह है कि काशी में उनका जन्म (सन् १६०४) हुआ। उन्होंने स्वयं ही कहा है :

आमि कवि जतो कामारेर आर कांसारिर आर छुतोरेर
मुटे मजुरेर
आमि कवि जतो इतरेर

—"मैं लोहारों ठठेरों का, बढ़इयों का, कुली तथा मज़दूरों कवि हूं, मैं सब इतरों का कवि हूं।"

बुद्धदेव वसु ने प्रेमेन्द्र के सम्बन्ध में जो लिखा है वह ध्यान देने योग्य है। वह लिखते हैं, "प्रेमेन्द्र की कविता उनकी स्वकीयता के द्वारा उज्ज्वल है। उनकी कविता दुनिया की छोटी-से-छोटी चीज़ से लेकर मनुष्य के भाग्यविधाता के चरम-प्रान्त तक विस्तृत है। पुराने अखबार, भाड़े के मकान से लेकर सीमाहीन आकाश में घूमते हुए ग्रह-उपग्रहों तक उनकी गतिविधि है। उनकी रचना-रीति ओजस्वी है, भाव-प्रगाढ़ता के गतिवेग से वह स्वयं ही तीक्ष्ण हो जाती है। मनुष्य की व्यर्थता, हीनता तथा दुर्बलता के सम्बन्ध में गहरी चेतना ही उनके काव्य का मूल सूत्र है। मनुष्य के घर में उनका देवता जन्म लेता है, किन्तु घटनाओं के संघात से ज्ञात होता है कि देवता कहीं नहीं हैं।"

आज
विकृत क्षुधार फांदे बन्दी मोर भगवान कांदे

—"आज विकृत भूख के जाल में कैदी होकर मेरा भगवान् रोता है।"

आधुनिक गणतान्त्रिक भाव उनकी कविता में स्पष्ट है। उनकी एक प्रसिद्ध कविता 'महासागरेर नामहीन कूले' नीचे दी जाती है :

महासागरेर नामहीन कूल
हतभागादेर बन्दरटीते भाई,
जगतेर जतो भाड़ा जाहाजेर भीड़।
माल बये-बये घाल होलो जारा
आर जाहादेर मास्तुल चौचिर
आर जाहादेर पाल पुड़े गोले
बुकेर आगुने भाई
सब जाहाजेर सेई आश्रय-नीड़

—"महासागर के नामहीन किनारे पर अभागों के बन्दर में दुनिया के कितने ही टूटे जहाज़ों की भीड़ है। जो माल ढोते-ढोते टूट गये, जिनकी मस्तूलों के धुर्रे उड़ गये, जिनके पाल सीने की आग से जल गये, उन सब जहाज़ों का यह आश्रय-नीड़ है।

"बड़े-बड़े अथाह कालेपानियों को मथकर, नमकीन पानी में डूबते या नहाते, डूबे पहाड़ों के धक्को' को निगले हुए तथा आंधी से झकझोरे हुए जितने लबेजान जहाज़ बेकार हो चुके हैं तथा जिनके अंजर-पंजर ढीले हो चुके हैं, उन सब बेकार निष्प्रयोजनीय जहाज़ों की भीड़ इन अभागों के बन्दर में है।

"भाई, दुनिया में बड़ी कड़ी चौकीदारी है। यहां सौदागर भी बड़ा होशियार है। जिसके पतवार अब पानी में कुछ कर नहीं पाते, उन्हें चुपचाप हट जाना पड़ता है। जिसके कमर का ज़ोर घट गया, जिसकी लकड़ी में घुन लग गया, जिसका कलेजा फट गया या जन्मभर के लिए जो ज़ख्मी हो गया, सौदागर की जेटियों में बहियों में ढूंढ़कर जिनका कहीं स्वामी नहीं मिलेगा, उन जहाज़ों को महासागर के इस नामहीन किनारे पर अभागों के बन्दर में कोई भी पा सकता है। यहां उन्हीं सब टूटे जहाज़ों की भीड़ है।

"जिनकी रीढ़ टेढ़ी हो गई और रस्से टूट गये, कब्जे और कल बिगड़ गये, जिनका सब ठाठ जाता रहा, झंडा नीचा हो गया, जोड़ खुल गया, छेदों के मारे जिनमें अब तैरते रहने की सामर्थ्य नहीं रही, उन सब अभागे असमर्थों तथा निर्वासितों की यहां भीड़ है।"

सावित्रीप्रसन्न चट्टोपाध्याय

सावित्रीप्रसन्न चट्टोपाध्याय एक ऐसे कवि हैं जो दो युगों की गोधूलि में रहते हैं। कभी उनका कदम इस युग में रहता है तो कभी उस युग में। 'आजो जारा मरे नाई' कविता में वह मृत्यु पर एक अजीबोग़रीब दृष्टि डालते हैं। वह मृत्यु को अनिवार्य पाते हैं, हर घड़ी वह जैसे मनुष्य का खून पीने के लिए उद्यत है। ऐसी परिस्थिति में जो लोग जीते हैं, कवि उनके ललाट पर अमृत का जय-टीका अंकित कर देते हैं। यही तो पुरुषार्थ है—

आजो जारा मरे नाई, प्रज्वलित मृत्युयज्ञशाले
समिध संग्रहे व्यस्त, झंझाक्षुब्ध दिक्चक्रबाले

उत्कर्ण होइया श्राछे प्रत्यासन्न श्राह्वानेर लागि,
दुर्विषह दिवसेर ग्लानि ढाके श्रन्ध निशा जागि
विस्फारित नेत्रपाते तारा देखे नव सूर्योदय
तादेरि निर्भीक कंठे विश्व प्राण लभिबे श्रभय ।
श्राजो जारा मरे नाइ मरिबार सहस्र कारणे,
खुंजिया पेयेछे वाणी धिक्कृत एक जीवन-धारणे
श्रकरुण वंचनाय श्रवहेलि गनिछे प्रहर
सहस्र लांछना माझे तुलितेछे हासिर लहर,
मरिया न मरे तारा, श्रनिवार्य मृत्यु पथगामी
रुधिराक्त चक्रनेमि तादेरि इंगिते जाए थामि'
श्राजो जारा मरे नाई, मरिबे ना तारा कोने काले
श्रमृतेर जयटीका चिरांकित ताहादेरि भाले

—"श्राज भी जो लोग नहीं मरे हैं, प्रज्वलित मृत्यु-यज्ञशाला में समिधा संग्रह करने में व्यस्त हैं, श्रांधियों से क्षुब्ध क्षिति में श्रानेवाली पुकार के लिए उत्कर्ण हैं, वे असह्य दिन की ग्लानि श्रन्धेरी रात जागकर ढकते हैं। फिर भी श्रांखों को विस्फारित कर वे नया सूर्योदय देखते हैं, उन्हींके निर्भीक कंठ से विश्व को श्रभय प्राप्त होता है।

"मरने के सहस्र कारणों से भी श्राज जो नहीं मरे, इस धिक्कृत जीवन को धारण करने के लिए उन्होंने वाणी खोज पाई है। जब श्रकरुण वंचनाएं श्राती हैं तो वे धैर्य धारण कर पहर गिनते हैं, सहस्र लांछनाश्रों में वे हँसी की लहर पैदा कर देते हैं, वे मरकर भी नहीं मरते, उनके इशारे से मृत्युपथगामी रुधिराक्त चक्रनेमि ठहर जायगा। जो श्राज भी नहीं मरे वे कभी भी नहीं मरेंगे, श्रमृत का जयटीका हमेशा उनके ललाट पर श्रंकित है।"

इसका सारांश यह है कि श्राधुनिक कवि मृत्यु की वास्तविकता को समझता है, फिर भी वह श्राशावादी है।

श्रचिंत्यकुमार सेनगुप्त

श्रचिंत्यकुमार बंगला के बहुत शक्तिशाली लेखकों में हैं। वह बंगाल सरकार के न्याय-विभाग में नौकर रहे, फिर भी वह साहसी लेखकों में समझे जाते हैं।

इनकी शैली तेजस्वी तथा व्यक्तित्व-व्यंजक, दृढ़ता की द्योतक तथा अनायास है। उपमा, व्यंजना तथा वर्णन में वह पूर्णतः स्वतन्त्र हैं। वह कवि के अतिरिक्त उपन्यासकार तथा कहानी-लेखक हैं। प्रकृति और मानव दोनों से उनका सम्बन्ध है, उनकी कविता में प्रकृति प्रकृति के लिए इस प्रकार की प्रकृति-पूजा नहीं है, बल्कि मानव और प्रकृति को एक ही चीज़ के दो पहलू करके दिखलाया गया है। प्रकृति उनके निकट अर्थमयी इस कारण है कि वह मानवीय है। वह कहते हैं—

आमार परान मुखर कोरेछे सिन्धुर कलरोले
प्रभंजनेर प्रतिपदपाते आमार परान दोले
आमार पराने भाई
कोटी मानवेर अश्रुजलेर जोयार शुनिते पाई
सूर्येर बुके की भूख जागिछे आमार परान जाने
कीटेर पाखार अस्फूटतम वेदना आमारे हाने
आमार पराने भरा
ए पथचारिणी वसुंधरार अकारण घुरे मरा।

इत्यादि

—"मेरी आत्मा समुद्र के कलकल नाद से मुखर है, वायु के प्रति पदक्षेप से मेरा हृदय आन्दोलित होता है। अपनी आत्मा में करोड़ों मनुष्यों के अश्रु की बाढ़ सुन पाता हूं। सूर्य के हृदय में कौन-सी भूख है, मेरी आत्मा जानती है, एक कीड़े के डैने की अस्फुटतम वेदना मुझे दुखी करती है। मेरी आत्मा में पथ-चारिणी वसुन्धरा का अकारण घूमना भरा है। वनानी की वीणा में मेरा व्याकुल प्राण शब्द कर उठता है। घास की सभा में मेरा प्राण हरा हो जाता है, मेरे प्राण में प्रत्येक पुष्प का रंग-बिरंगा जादू सिहर उठता है, मेरे ही प्राण को निचोड़ निचोड़कर आकाश नील हो गया है। कहींपर कुछ खाली नहीं रहा, मेरे प्राणों में विश्व-वेदना का छत्ता जमा है। दीर्घ श्वास की दरिया उसमें आन्दोलित हो रही है, मरुभूमि की शून्यता, अन्धकार की कातर व्याकुलता, गिरी हुई कली की व्यथा वहां है। मेरे प्राणों में युगान्तर की मृत्यु की निशा मूर्च्छित है।"

सच बात तो यह है कि इस कविता में कुछ ऐसी बातें हैं, जो रवीन्द्रनाथ का स्मरण दिलाती हैं।

अन्नदाशंकर राय

अन्नदाशंकर राय का जन्म उड़ीसा के ढेंकानल राज्य में हुआ। विलायत में आई० सी० एस० पढ़ते समय इन्होंने पहली पुस्तक लिखी। भाषा इनकी विशेष रूप से सुन्दर है। मालूम होता है जैसे एक-एक शब्द के पीछे साधना है। साहित्य में ये देवत्व का नहीं मनुष्यत्व का नारा बुलन्द करते आये। कवि से ये कहीं बड़े कहानीकार तथा उपन्यासकार हैं। इनका एक उपन्यास 'सत्यासत्य' अढ़ाई हज़ार पृष्ठों में समाप्त हुआ है। एक कविता में वह कवि को अपनी तस्वीरों की झोली प्रकृति से भर लेने के निमित्त पुकारते हैं—

ओरे कवि तोर छविर पसरा
भरिया लइबि आय
उत्सवमयी साजियाछे धरा
वसन्त नाटिकाय
आज पेये जाबि जाहा चाय मन
एतो मिठा लागे भानुर किरण
पाखिदेर सने वने समीरण
एतो शीष दिये जाय

—"अरे कवि आकर अपनी तस्वीरों की झोली भर लो, वसन्त नाटिका में पृथ्वी उत्सवमयी हो रही है। आज जो चाहोगे सो ही मिलेगा, सूर्य की किरणें इतनी मीठी लगती हैं। वन में चिड़ियों के साथ पवन सीटी देता जा रहा।... कहींपर एक भी बादल नहीं, सब बादलों ने छुट्टी ले रक्खी है, नावों का इधर-से-उधर जाना बन्द है, इसलिए समुद्र स्थिर है। हमारे इस हरे द्वीप के किनारे पर उसीका पानी आकर छलकता हुआ लगता है, हमारे पैरों में उसका मुट्ठियों फेन लगता है। पेड़ों के पीले चेहरे पर तांबे के रंग का सुनहलापन दौड़ गया है, विदेशी नामवाले पक्षियों ने उसको चूमने के लिए घेर लिया है।"

प्रकृति में मनुष्य के हृदयावगों के आरोप का जो वर्णन है, वह कहते हैं हमेशा से कवियों की एक विशेषता रही है। हम चाहें तो इसे प्रकृति में प्राण-

प्रतिष्ठा कह सकते हैं। नये कवि इसमें अपने पहलेवालों से पीछे नहीं हैं, किन्तु साथ ही वे इस पृथ्वी को, उसकी मिट्टी तक को, बहुत प्यार करते हैं। अन्नदा-शंकर इसी कविता में कहते हैं—

ए जे आमादेर सेई आदरिणी
सूर्यवदना सोनार मेदिनी एर
प्रति तिल चिनि चिनि चिनि
प्रतिटी अंगमय ।

—"यह तो हमारी वही प्यारी सूर्यमुखी सोने की पृथ्वी है। इसके तिल-तिल तथा अंग-अंग को जानता हूं। बंगला मैं जानता हूं और चीनी एक ही तरह से लिखे जाने के कारण कविता में और विचित्रता आ गई है।

अजितकुमार दत्त

अजितकुमार दत्त ने प्रेम पर सुन्दर सानेट लिखे हैं। सानेट लिखने के लिए शब्दों की जो मितव्ययिता तथा सारगर्भिता चाहिए, वह अजितकुमार दत्त में है, फिर भी उनका विषय एक ही होने के कारण वह कोई बड़े कवि न हो सके। प्रेम पर लिखी हुई उनकी कविताएं आधुनिक हैं, इसमें सन्देह नहीं। एक सानेट में आधुनिक की तिक्तता के साथ शुरू करते हैं—

नाहि जानि तथागत बुद्धेर बचन सत्य किना—
पुनराय जन्मलाभ आछे किना अदृष्टे आमार;
चार्वाकेर तिक्त बाणी, 'भस्मीभूत ए देहेर आर
पुनरागमन नाइ', सत्य किना से—कथा जानि ना

—"मालूम नहीं, तथागत बुद्ध का वचन सत्य है कि नहीं, मालूम नहीं फिर से जन्म पाना मेरे अदृष्ट में है कि नहीं, यह भी नहीं मालूम कि चार्वाक की कड़वी बात 'भस्मीभूत इस देह का पुनरागमन कहां' सच है कि नहीं। यदि यह जीवन अर्थ, यश या मान के बिना भी कट जाय तो मैं इनके लिए फिर जन्म लेना नहीं चाहता। मैं नये वस्त्र की तरह देह लेकर मोक्ष की आकांक्षा कर पृथ्वी में नहीं आना चाहता।

"मैं इस जीवन में केवल तुम्हारा सुन्दर प्यार चाहता हूं, मैं तुम्हारा समुद्र की तरह स्नेह चाहता हूं। मैं कविता में उन्हीं बातों का संग्रह करना चाहता हूं

जिसको किसीने कभी नहीं कहा, दूसरे भला तुम्हारी बातें किस प्रकार जानेंगे ? इस जीवन में तो तुम हो, तुम रहो, उसके बाद जब मैं मर जाऊंगा तो तुम्हारा प्रेम मेरी कविता में अमर होकर रहेगा।"

कवि को मौलिक रूप से हम रवीन्द्र-युग के कवियों से पृथक् कर नहीं सकते, अवश्य उनकी शैली मौलिक रूप से भिन्न है। दर्शन-प्रधान रवीन्द्रयुग से भिन्न इस शैली की क्रान्तिकारिता के कारण हम अजितबाबू को अति-आधुनिक समझने के लिए बाध्य हैं। कवि का विषय अत्यन्त व्यक्तिगत प्रेम है, यह वही विषय है जिसे विद्यापति, चंडीदास, जयदेव ने अपनाया था, किन्तु विषय के प्रति रुख में नूतनत्व है।

बुद्धदेव बोस

बुद्धदेव बोस इस समय के बंगला लेखकों में बहुत शक्तिशाली हैं। कहानी उपन्यास, कविता, नाटक, समालोचना सभी क्षेत्र में उन्होंने अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है। इनका एक उपन्यास 'एरा आर ओरा' अश्लीलता के जुर्म में जब्त हो चुका है। इस समय ये 'कविता' नामक कविता-विषयक पत्रिका के सम्पादक भी हैं। इनकी रचना में इनकी सूक्ष्म दृष्टि का परिचय पग-पग पर मिलेगा। यह आश्चर्य की बात है कि बुद्धदेव की पुस्तकों का अभी हिन्दी में अनुवाद नहीं हुआ। बुद्धदेव की 'शापभ्रष्ट' कविता बहुत लम्बी है, नहीं तो हम उसे यहांपर देते। हम 'आर किछु नाहि साध' नामक उनकी कविता देते हैं। यह एक तरह से कवि की आत्म-कहानी है :

आर किछु नाहि साध। जानि, मोर तरे नहे जयमाल्य
यशेर मुकुट
विश्वेर कविरा जतो ज्वलिछे नक्षत्र हये रजनीर
श्यामल-अंचले

—"मेरी और कुछ साध नहीं है। जानता हूं, मेरे लिए न तो जयमाला है, न यश का मुकुट है। विश्व के कवि नक्षत्र होकर रजनी के श्यामल अंचल में विराजमान हैं, वहां भी मेरा स्थान नहीं है। नील आकाश के नीचे मेरी स्तुति का गान नहीं मुखरित होगा...नर-चित्त के भक्ति-तीर्थ में मेरा नित्य स्वर्ग नहीं है। मृत्यु का कड़वा कालकूट मेरा चरम भाग्य है। मैं जानता हूं

इक्कीसवीं सदी की कोई सप्तदशी मेरी कविता को चांदनी-स्नात जंगले के नीचे नहीं पढ़ेगी।

"फिर भी आज संगीत की जो लहर हृदय के हिम-सरोवर में जग रही है वह केवल तुम्हारे लिए है। तुमको जो मैंने सब अंगों में, मर्म में, मन में, प्राण में पाया था, तुमको विरह के स्पन्दमान अन्धकार में तथा मिलन वासर में पाया था, यही बात मैं आकाश, धरणी, घास को तथा समुद्र के कान में कहना चाहता हूं। इस परिपूर्णता का बोझा अकेले-अकेले मुझसे ढोया नहीं जाता, इसलिए हज़ारों में अपनेको लाखों गानों में बांटता फिरता हूं।"

पाठक यह देखेंगे कि यह कविता अजितकुमार दत्त की कविता से भिन्न नहीं है। मैंने इस अध्याय के प्रारम्भ में कहा है कि कई कारणों से आधुनिक भारतीय साहित्य अपनी आत्मा को पूर्ण रूप से खोज नहीं पाया है। यह जो कहा गया था कि हमारा काम इस जगत की केवल व्याख्या करना नहीं है, बल्कि उसे बदलना है, इस बात को हमारे यहां के लेखकों ने अभी नहीं समझा है। हमारा साहित्य इसलिए वास्तविकता के पास आने पर भी वास्तविक नहीं हो पा रहा है। बुद्धदेव बोस में लेखन-शक्ति है, सूक्ष्म दृष्टि है, भाषा का ऐश्वर्य है, फिर भी वह किसी तरह से ख्याली दुनिया में रह-से जाते हैं।

बुद्धदेव में इसी समझ या प्रेरणा का अभाव होने के कारण वह गुमराह होकर अश्लीलता की ओर गये। सौभाग्य से बुद्धदेव उधर से लौटे हैं, किन्तु अब भी वह राह खोज रहे हैं। बुद्धदेव की 'व्याङ' (मेढक) नामक एक कविता पाठकों के सामने अनुवाद में प्रस्तुत की जाती है:

"वर्षा में ही मेढक की पांचों उंगलियां घी में होती हैं। पानी बरसना बन्द हुआ ही है, आकाश तो चुप है, किन्तु मेढकों का एक साथ लगाया हुआ नारा सुनाई पड़ रहा है। उन्मुक्त कंठ का ऊंचा सुर आदिम उल्लास में बज रहा है, आज न तो विच्छेद का न भूख का न मृत्यु का ही, भय है। घने बादल घास हो गये, स्वच्छ पानी मैदानों में जमा है, उद्धत आनन्द-गान से उत्सव का दोपहर कटता है। स्पर्शमय वर्षा आई, नया कीचड़ कितना चिकना है। मेढक मानो स्फीतकंठ स्फीतस्कंध संगीत का शरीरधारी सप्तम है, अहा यह मेघ की हरी-हरी कान्ति कैसी चिकनी है। मेढक की दृष्टि कांच की तरह इकटक ऊपर की ओर लगी है,

अहा जैसे ध्यानमग्न ऋषि की तरह ईश्वर को खोज रहा है। पानी बरसना बन्द हो चुका, दिन खतम हो रहा है, स्तम्भित आकाश में गम्भीर वन्दना-गान बज रहा है। ऊंची आवाज़ धीमी हो रही है, दिन की अब आखिरी सांसें चल रही हैं। अन्धकार शतच्छिद्र एकच्छन्दा तन्द्रा को बुला रहा है। आधी रात में किवाड़ बन्द कर हम आराम से बिस्तरे पर लेटे हैं, स्तब्ध पृथ्वी में केवल एकाकी उत्साही अक्लान्त एक ही सुर सुनाई पड़ रहा है, निगूढ़ मन्त्र का जैसे आखिरी श्लोक हो, मेढक का उच्चारित क्रोक, क्रोक, क्रोक।"

मेढक के विषय में इतनी बड़ी कविता और उसे ईश्वरभक्त ऋषि बतलाना, यह एक आधुनिक कवि का ही काम है।

हुमायूं कबीर

हुमायूं कबीर को बंगाल के बाहर लोग मुसलमानों के एक राष्ट्रीयतावादी नेता और बाद को केन्द्रीय शिक्षा-विभाग के एक उच्च अधिकारी और मंत्री के रूप में जानते हैं। कोई नहीं जानता कि वह बंगला के एक बड़े कवि हैं। उन्होंने अपनी कुछ कविताओं का अंग्रेज़ी में अनुवाद कर विलायत में छपाया है, अच्छी-अच्छी पत्रिकाओं ने उनकी प्रतिभा का अभिनन्दन किया है। प्रकृति को वह सुन्दर देखते हैं, किन्तु जब प्रकृति और मनुष्य के स्वार्थ में संघर्ष होता है तो मनुष्यों का यह कवि प्रकृति को आड़े हाथों लेने में नहीं चूकता। बंगाल में गंगा की दो शाखाएं हो गई हैं—एक भगीरथी, दूसरी पद्मा। पद्मा इसके लिए मशहूर है कि अक्सर अपना पथ बदलती है, और जो भी गांव इत्यादि उसके रास्ते में आ गये, उनकी खैरियत नहीं। इस प्रकार पद्मा प्रकृति का एक अद्भुत रूप है। कवि ने कई कविताएं इसीपर लिखी हैं। मालूम होता है, कवि को यह विषय उसी तरह प्यारा है, जैसे दर्दवाला दांत जीभ को, इधर-उधर गई और उस दांत के पास पहुंच गई। हम इस कविता के कुछ अंश नीचे देते हैं—

बहुदिन परे आजि रोगजीर्ण आंखि दुटि मेलि
हेरिलाम तोरे।
श्रावणेर घनघटा एइ पुंज मेघेर आडाले
अपूर्व योगिनीवेशे मुक्तकेशे आसिया दांड़ाले
नयनेर आगे मोर। लुब्ध क्षुब्ध उर्मिराशि ठेलि
चलेछे गहिया शुधु—आविल सलिलराशि तव

नेचे ओठे मरणेर तांडव नर्तने नव-नव—
चिरमुक्ता—धरा दिबिनाको कोनो डोरे ?
शैशव-जीवन हते तोरे आमि देखितेछि नदी
पाइनाको शेष ।

—"बहुत दिनों बाद रोग-जीर्ण आंखों को खोलकर मैंने आज तुझे देखा। श्रावण की घनघटा इस मेघपुंज की आड़ में तू एक अपूर्व योगिनी के वेश में बाल खुली हुई हालत में मेरे सामने खड़ी हो गई। क्षुब्ध, रुद्ध लहरों को ढकेलती हुई तू बह चलती है। तेरा आविल जल मरण के नये-नये तांडव-नर्तन में नाच-नाच उठता है। हे चिरमुक्ता, क्या तू किसी भी डोरी से पकड़ाई नहीं देगी ? मैं बचपन से तुझे, हे नदी, देख रहा हूं, फिर भी तेरा अन्त नहीं पाता।

"कभी तो शरत के प्रातःकाल में तू पूर्णवारि, शान्त और अचंचल है, कलकल-कलकल तेरा पानी चलता जाता है, कभी वैशाख की सन्ध्या में यदि बादल गये तो प्रलय—नर्तनछन्द से तुम्हारा प्राण नाच उठता है, तब तुम्हारे सलिल से ध्वंसलीला का गीत निकलता है, उस समय तुम्हारे नयनों में करुणा का लेश नहीं है।

"बाल रवि की किरणों में, हे नदी, मैंने तुम्हारी फिर दूसरी ही हँसी देखी है, पूर्णिमा के प्लावन में तुम्हारे किनारे पर कास फूले हैं, अधीर पवन में मादक पुष्पों की गंध तैरती रहती है। तुम्हारी मुग्ध जलराशि फिर भी दौड़ती है। हृदय में धनधान्य लेकर तथा दामन को वनपुष्पों से सजाकर सुहाग-लज्जा से पूर्ण एक किनारे से दूसरे किनारे तक मृदु वाणी होकर दौड़ती हुई जाती हो, जैसे किसीको प्यार करती हुई दूर जा रही हो।...आज फिर मैंने तुम्हारा यह क्या नया रूप देखा, भैरविनि की तरह बनी हुई हो, आकाश में मेघों की घटा है।...अकस्मात् तेरा स्रोत सूर्य की किरणों से छुरी की तरह चमक उठता है, यह मानो तेरे हिंस्र दन्त तथा होठों पर कुटिल हँसी है, तेरे निठुर नयनों में हत्या की साध बाघ की हत्या करने की इच्छा की तरह इस शान्त, स्मित आलोक में स्पष्ट हो जाती है। तू प्रवल है, दुर्वार है, अत्याचारी है, श्यामशोभावाले देश को तोड़-फोड़कर पृथ्वी में अपना झक्की पथ बनाती रहती है। तू किसीकी नहीं सुनती, फिर भी नर क्या करे, रोता है, किन्तु एक-दूसरे को सीने से लगाकर जीता है। बाहर विशाल विश्व अपने कठोर जाल को बिछाता

रहता है, फिर भी मनुष्य बैठा रहता है, सब सुख तथा दुःखों में आंखें ऊपर किये हुए।"

ऊपर जो कविता दी गई वह पुरानी है। 'पद्मा' नदी पर उनकी अपेक्षाकृत ताज़ी एक कविता नीचे दी जाती है :

दूरदेशे तोरे बहुदिन छिनु भुले
पद्मा मोर।
आबार शाङने तोर कूले-कूले भाङन लेगेछे जोर ?
नेमेछे वर्षा घोर।
चरेर चिह्न धुये मुछे दिये
विपुल सलिल संभार निये
यौवन तोर बोये निये जास काहार दोर ?
के मनोचोर ?
पद्मा मोर।

"मेरी पद्मा, दूर देश में तुझे बहुत दिनों तक भुलाकर था। फिर श्रावण आने से तेरे किनारे सब टूट रहे हैं, घोर वर्षा उतर आई है। सुखी का चिह्न धो-पोंछकर, विपुल सलिल भार लेकर, अपने यौवन को बहाकर किसके दर पर ले जा रही है ? किसने तेरा मन चुराया है, मेरी पद्मा।"

प्रकृति और मानव का संघर्ष इस कविता में अधिक स्पष्ट है—

सबुज मायाय भरेछे दुकूल तबो
पद्मा मोर।
जलेर किनारे एसेछे दुर्वा नव
तोबु दया नाही नाही तोर ?
अतिथि शिशुरे शासास कि करि ?
निठुर प्रहारे उठिछे शिहरी
ठिकरि पड़िछे क्षुरधार स्रोत निरन्तर
देखिते कोमल तबु एतो तोर
हिया कठोर ?

—"हरी माया से तेरे दोनों किनारे भरे हैं, मेरी पद्मा। पानी के किनारे नई दूर्वा आई है और फिर भी तुझे दया नहीं है ? अतिथि और फिर बच्चे को इस

प्रकार कहीं दुत्कारा जाता है। तेरे निष्ठुर प्रहारों से वह हर घड़ी सिहर उठती है, तेरे क्षुरधार स्रोत मानो निरन्तर चटक रहे हैं। देखने में तू इतनी कोमल है फिर भी तेरा हृदय इतना कठोर है, मेरी पद्मा ?"

कवि फिर पद्मा से पूछता है, "तेरे जीवन का दर्शनशास्त्र भला क्या है ? दुःख के दहन में तू बार-बार मनुष्य का नकली-असली देखना चाहती है। जीवन की धारा मन्थर हो आती है, सत्य रोज़ के अभ्यास से याने रोज़ प्रयोग में आने के कारण लुप्त हो जाता है, वहीं तेरी लीला ध्वंस के उल्लास में है। मेरी पद्मा, ध्वंस के साथ ही सृष्टि का ताना-बाना है। तेरे किनारे के लोग हमेशा बद्दू ही रह गये, दो दिन के लिए किनारे पर घर बांधते हैं, फिर न जाने दो दिन बाद कहां चले जाते हैं ?"

'पद्मा' कविता में कवि ने नदी को उपलक्ष्य कर मनुष्य-विरुद्ध प्रकृति को ही दिखलाया है। प्रकृति और मनुष्य का जो संघर्ष सृष्टि के आदि से चला आया है, उसीकी एक झलक इस कविता में है, वही प्रकृति एक समय कितनी सुन्दर और दूसरे समय कितनी निष्ठुर है, यह इस कविता में दिखलाया गया है, किन्तु साथ ही मनुष्य किस प्रकार ज़िद्दी है, प्रकृति ने ज़रा ढील दी कि आगे बढ़ा, ज़रा तीव्र हो गई कि पीछे हट गया, यह बात पद्मा-किनारे मनुष्य के यायावर होने से दिखलाई गई है।

हुमायूं कबीर अच्छे उपन्यासकार भी रह चुके हैं।

आशु चट्टोपाध्याय

आशु चट्टोपाध्याय की 'यौवन-धर्मी' नामक कविता में हम इस युग के कवियों की मनोवृत्ति का पता पाते हैं। वह कहते हैं—

आमरा यौवन-धर्मी-एई विंशो शतकेर तरुण तापस
बांचार साधना कोरि—ठीकमतो बांचा जाके बले—
रुटिनेर दास नई, बांधा पथे कोभु पथ चलिबोना,
प्रथा के मानि ना मोरा, यदि सेई प्रथार पांचिले,
मान्धातार आमलेर से प्रथार कठिन पाथरे
माथा खुंडे मरे आत्मा असहाय, असह्य क्षुधाय

—"हम यौवन-धर्मी हैं, हम बीसवीं सदी के तरुण तपस्वी हैं, जीने की साधना

करते हैं, याने ठीक तरह से जीना जिसे कहते हैं वह जीते हैं। हम बंधी-बंधाई चर्या के दास नहीं हैं, लकीर के फ़कीर हम कभी नहीं हो सकते। प्रथा को हम कभी नहीं मानते, भले ही प्रथा-रूपी दीवार के मान्धाता के युग के कठोर पत्थर में असहाय आत्मा असह्य भूख में सिर दे मारे।

"हम यौवन-धर्मी हैं। कौन कहता है कि हम अपने ही हाथ के बनाये हुए कुछ लोहे के यन्त्रों के गुलाम हैं? हम यन्त्र के प्रभु हैं, हम समूची पृथ्वी के मालिक हैं। अपनी ही इच्छा से हम सबकुछ तोड़ते तथा बनाते हैं। जीवन के सभी रास्तों में हमारी अश्रान्त यात्रा है। जाड़ा, गर्मी, वर्षा में हम मैदान के अट्टहास हैं।

"हमें खाने को नहीं मिलता। हँसी आती है। हममें से कितने नहीं पाते। हम ईश्वर के समकक्ष हैं, हम भाग्य के नियामक हैं। हमने उत्सुक तगड़े हाथों में इस जीवन की पतवार पकड़ रक्खी हैं। हमें मालूम हैं कि हम कहां जा रहे हैं। हर समय हमारे पाल के लिए हवा रहती है, यदि कभी अन्यथा हो तो जानिये कि यह क्षणिक विलास है। हम अपने भाग्य को लेकर बीच-बीच में खेलते हैं।

"यदि मेरी कोई रात नारी के केश के गुच्छों में मदिर मोह के स्वप्न में कैदी हो, तो फिर दिन में काम के आंगन में मुझे पसीने से तर हँसी की आड़ में पाओगे। यदि किसी दिन मुझे शाल वृक्ष के सिर पर मृदु वायु से हिलते देखो और मुझे नक्षत्र की टिमटिमाती धीमी रोशनी में चुप बैठे देखो तो मुझे बुलाना मत, मैं उस समय विधाता के साथ बातें करता हूं।"

यह देखने की बात है कि इस कविता में देश की पराधीनता का कोई जिक्र नहीं है, यद्यपि यौवन-धर्म उन दिनों यदि कोई था तो उसका सबसे पहला कर्तव्य इसी ग्लानि के विरुद्ध संग्राम करना था। आधुनिक कविता यहींपर अति-आधुनिक नहीं हो पाई, क्या इसकी वजह डर था? कवि लोगों को इसपर सोचना चाहिए।

महीउद्दीन

कवि महीउद्दीन आधुनिक की सबसे बड़ी विशेषता को 'बुभुक्षा' कहकर व्याख्या करते हैं। उनकी आंखों में रूप-दृष्टि-तृष्णा है और हृदय में तृप्तिहीन अनन्त बुभुक्षा है। उनकी समस्त इन्द्रियां रोकर दिन-रात कहती हैं कि वे भूखी हैं, भूखी हैं। वह कहते हैं—

जड़ेर जड़ता त्यजि जीव आमि जन्म कवे लभिलाम भवे
अनन्त सृष्टिर माझे भूमानन्दे ज्योतिष्केर आलोक आहवे
इत्यादि

—"जड़ की जड़ता त्यागकर मैं जीव इस दुनिया में पैदा हुआ। मैंने कहा, मैं जड़ हूं, जग गया हूं, सीमाहीन शून्य को व्याप्त कर प्रतिध्वनि बन जगा हूं, जगा हूं। निर्विकार निद्रा-जगत् में मैं न मालूम थका हुआ मुसाफिर कबसे चूर होकर सो रहा था और मैं अपनी उन्मत्त गति का नृत्य-ताल भूल गया था।...मैंने इस विश्व की सराय में पुकारा—भाई मैं वासना का भिखारी हूं, रोशनी चाहता हूं। छाया चाहता हूं, आनन्द से पुलकित महाप्राण चाहता हूं।

"जंगल काटकर मैंने सोने की नगरी बसाई है। हिमालय की ड्योढ़ी की ओर यात्रा की है, अगाध जलधि के बीच से मोती निकाला है। धन और रत्न से विपुल भंडार भर लिया है। अपने ही परिश्रम से मैंने इस भोग के विशाल संसार की सृष्टि की है। सूर्य, चन्द्र, ग्रह-नक्षत्रों के रहस्य की मैंने ही खोज की है, पाताल में राज्य फैलाया, काव्य, दर्शन, इतिहास, विज्ञान की सृष्टि की। मैंने वंचित मानव के लिए साम्य, मैत्री, स्वाधीनता के गीत गाये हैं। मैंने भूख से व्याकुल-पीड़ित मानव के भूखे जठर के गीत गाये हैं, मैंने निर्यातित निर्वासित के लिए फांसी का फन्दा गले में डालकर गीत गाये हैं।" इत्यादि।

अरुणकुमार मित्र

तरुण कवि अरुणकुमार ने 'लाल पर्चा' शीर्षक एक कविता लिखी है—

प्राचीर पत्रे पड़ोनि पड़ोनि इस्ताहार
लाल अक्षरे आगुनेर हलकाय
झलसाबे काल जानो ?

इत्यादि

—"क्यों जी तुमने दीवार पर चिपका हुआ लाल-पर्चा नहीं पढ़ा ? उसके लाल अक्षर आग की तरह रंग लायेंगे। (आकाश में विरोध का उत्ताप घनीभूत होता है। पुरानी बातों की धार मुथरी हो गई है) युगान्त उत्कर्ण है। पढ़ो जी, जरा लाल पर्चे को तो पढ़ो।

"भीड़ में भिड़कर खोजो तो सही, फौज तैयार है, हथियार से लैस। कड़ी

मुट्ठियों से ज़बर्दस्ती स्वर्ग छीन लेना है। क्या देवता भी इसे रोक सकते हैं ?"

यह कविता बहुत लम्बी है, इसको हम यहीं समाप्त करते हैं।

फुटकर कवियों की कविता

आगे हम कवि को विशेष महत्व न देकर यह दिखायेंगे कि कैसे-कैसे विषय पर अमूल्य चट्टोपाध्याय नामक एक कवि किस प्रकार की उपमा का व्यवहार कर रहे हैं। देखिये, बंगला के पुराने दिवंगत कवि इस कविता को पढ़ते तो शायद बहुत परेशान होते।

मध्यरात्रे मिडल रोडे नैशब्दय भुलछे
गरुर मांसेर मतो।
निःशब्द, निःशब्द रात्रि घन मेघे।

पहले तो बड़ी देर तक कविता मेरी समझ में नहीं आई, फिर मैंने सोचा कि इसका अंग्रेज़ी में अनुवाद करूं तो शायद समझ में आये, क्योंकि मैं जानता था कि आजकल के बहुत-से कवि अंग्रेज़ी में सोचते हैं।

अंग्रेज़ी में सोचना इसलिए कहा गया कि, 'साइलेंस' (निःशब्दता) हैंग्स (झूलती) है। 'हैंग' शब्द हम समझ जाते हैं, किन्तु हिन्दी में 'निःशब्दता झूल रही है' यह उतना समझ में नहीं आता। यहां गोमांस के साथ तुलना देकर कवि ने रात्रि की निस्तब्धता की बीभत्सता दिखलाई, इसलिए इस कविता की वाक्यरचनाशैली अंग्रेज़ी की होते हुए भी इसकी आत्मा भारतीय है, क्योंकि गोमांस का बड़ा टुकड़ा एक अंग्रेज़ की आंखों में बीभत्स नहीं, बल्कि रुचिकर है।

संजय भट्टाचार्य 'उह्य' नामक कविता में धर्म को भी पूंजीपतियों का साथी बतलाते हैं :

तोमादेर तलोयार
झलमल करियाछे पृथिवीर रोदे;
झलमल करियाछे
तोमादेर मिनारेर चूड़ा।
तादेर अनेक घाम
अनेक चोखेर जल
बहु रक्त

शुकायेछे पृथिवीर रोद,
तोमादर इतिहासे
कोनो स्मृति आसे नाइ तार
शुधु ऐसे गेछे बार बार
मिनारेर चुड़ा आर
झलमल बांका तलोयार।

—"तुम्हारी तलवारों में तथा तुम्हारे मन्दिरों की चूड़ाओं में पृथ्वी की धूप से चार चांद लगे हैं, किन्तु उनका पसीना, आंसू तथा खून को इस पृथ्वी की धूप ने सुखाया ही है। तुम्हारे इतिहासों में इनकी इन बातों का कुछ पता नहीं है, केवल तुम्हारी मीनारों की चूड़ा और चमकती हुई बांकी तलवारों का ही बार-बार उनमें आना-जाना हुआ है। स्वर्ग में जो देवता आये वे भी बड़े कीमती थे। वे यदि कभी कृपा कर इस पृथ्वी पर आते हैं तो तुम लोगों की स्वार्थसिद्धि के लिए। उनकी भूख की तड़प, अपमृत्यु तथा मिट्टी की देह देवताओं के मन्त्र से और म्लान हो जाती है, तुम्हारे मन्दिरों की ड्यौढ़ी में उनका कोई चिह्न तक नहीं है, उनके लिए तो तुम्हारे देवता केवल मिट्टी भर हैं।"

आधुनिक मन की प्रतिक्रिया पलायनवाद, अरण्य में लौट चलो या हम फिर से बर्बर हो जायं इन बातों में हुआ है।

सन्तोषकुमार घोष कहते हैं—

तार चेये चलो कोनो खर्जुर-कुंजे
जेथा ओड़े शुधु सादा बालि धू धू प्रान्ते
सार्थवाहीरा उष्ट्रेर पिठे चलेछे
पाये आंका पथ दूर दिगन्ते पालालो ?

—"इससे चलो, बल्कि कहीं खजूरों की कुंज में चलें, जहां केवल सफेद बालू वीरानों में उड़ता है, कारवां चले जा रहे हैं, पदचिह्न से अंकित पथ जहां निरन्तर क्षितिज में भाग जाता है।"

उंकि देवेनाको से खाने कखनो दैनिक
युद्धे कलाख चीना सैनिक मरेछे
सांहाइ-एते सांघातिक की घटलो
मालती, से सब जेने आमादेर लाभ कि ?

—"वहांपर दैनिक अखबार झांक भी नहीं सकते। वहां यह नहीं सुनना पड़ेगा कि कितने लाख चीनी सैनिक मरे हैं, शंघाई में सांघातिक क्या-क्या घटना हो रही है। मालती, यह सब जानकर हम लोगों को क्या लाभ है ?"

शहरेर पथे कोथाय मिछिल चलेछे
धर्मघटिरा कोथाय गुलि खेये मरलो
ना हय हलोई आश्रयहीन इहूदी
आमादेर नीड़ थाकलेई हलो अटूट

—"शहर में कहां मज़दूरों का जुलूस निकला, कहां हड़तालियों पर गोली चली, इनसे मेरा क्या वास्ता ? सारी दुनिया के यहूदी चाहे आश्रयहीन हो जायं, हमारा घोंसला बना रहे तो बस।

"वहां पथ चलते-चलते उन्मन बेकार युवक धनियों की मोटरों के नीचे छुट्टी नहीं पाते, फिर, हे मालती, कारखानों की चिमनी के धुएं से तुम्हारी चांदनी मैली भी नहीं होगी।

"बनियों और धनियों की लोभाग्नि, अन्याय तथा बारूद से हवा भर गई है, उधर जापान...है, न मालूम कब क्या गुल खिलावे। चलो, इससे खजूरों की कुंज में चलो, जापान की साधु-चेष्टा सार्थक होने दो। हम एक-दूसरे को लेकर सुखी होंगे, भागे हुए के प्राण में बारूद भला क्या असर करेगा।"

सच बात कही जाय तो यह प्रतिक्रिया है। आधुनिक के जीवन में जो सैकड़ों समस्याएं हैं, उनसे घबराकर पलायनवाद का आश्रय लेना या बीते हुए स्वर्ण युग को लौटा लाने का स्वप्न देखना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। संसार में अन्याय है, किन्तु वह ज़बर्दस्त है, उससे लड़ना मुश्किल है। लड़ने पर खतरे हैं, जेल, कालापानी, फांसी। ऐसी हालत में इन काल्पनिक तथा बेखबर मतवादों के बालू में शुतुरमुर्ग की तरह मुंह छिपाकर बैठना आश्चर्यजनक नहीं। आज मध्यम श्रेणी के अच्छे-से-अच्छे बुद्धिमान व्यक्ति इस प्रकार की अकर्मण्यता में अपना जीवन खो रहे हैं। इसीको कहते हैं।विराट विश्वासघात। पढ़े-लिखे लोग सब-कुछ समझकर भी खतरों के कारण असली काम से जी चुराते हैं, यही विराट विश्वासघात का स्वरूप है।

सुभाषचन्द्र मुखोपाध्याय की एक कविता और देखिये। इसमें ज़मींदार के फटे हाल का वर्णन है। कैसे वह एक तरफ किसान तथा दूसरी ओर पूंजीवाद

की चक्की के दो पाट के बीच पिसकर खतम होते जा रहे हैं, उसको दिखलाया है।

कविता का नाम है 'अतःपर'। इस कविता में छन्द का कहीं पता नहीं। हां, सीढ़ी की तरह लिखी गई है। कविता यों है :

"सम्पादक को मिले

"महाशय—इधर-उधर मेरी कुछ ज़मींदारी है, लेकिन इस बुरे समय में उसे बचाना कठिन है। वंश-परम्परा के अनुसार किंकर्तव्यविमूढ़ होकर जैसा ईश्वर चलाते हैं, वैसा ही चलता हूं। बरकन्दाज ताबेदार हैं, लगान वसूल करने की सब तरकीबें उन्हें याद हैं, फिर भी तीन साल से लगान कम वसूल हुआ। अदालत में जाओ, कुछ होता नहीं। थोड़ी आय है सो भी रहन के फ़साद में है। पता नहीं, अन्त में भीख मांगना बदा है या...। बेटा कलकते में विद्या सीखते हैं, बोतल से उनका प्रेम है, यह पैतृक है...। विपत्ति एक ही नहीं, कुछ सच्चरित्र किन्तु बुद्धिहीन नौजवान निरक्षर किसानों को लेक्चर से मुग्ध करते हैं, इधर हम लोगों को काटो तो खून नहीं। क्या ये ही साम्यवादी हैं? फिर भी शायद अदृष्ट का चक्का घूम जाय। अंग्रेज़ प्रभुओं का हाल बुरा है, हमारे हाथ में राज्य-भार आयेगा, कोई ताज्जुब नहीं। पूंजीपतियों का पौबारह है। विशेषकर भारतवर्ष के इकलौते नेता हैं गांधी। जितना रुपया लगता है, सब पूंजीपति देते हैं। क्यों न दें, सोचते हैं, इसका नतीजा भविष्य में अच्छा होगा। महाशय, ज़मींदारी जाय तो जाय। बनिये की मौलिक प्रतिभा देश के शिल्प में मुक्ति पायगी। इस विषय में पत्रपाठ (फौरन) मुक्ति चाहता हूं।

निवेदक बंगचन्द्र पाल, ढाका"

मुझे डर है, बहुत-से लोग इसे कविता मानने को तैयार न होंगे, किन्तु जो कुछ भी हो, यह भी एक धारा है।

रूस बहुत समय से एक बहुत ही बड़े वाद-विवाद का विषय है। रूस बहुतों के लिए एक भयावह भूत-सा है। उसीपर श्री सुरेन्द्रनाथ गास्वामी ने एक कविता लिखी थी—

लाल जुजु एलो ऐ, हुशियार
दुनियार खोकाखुकु चेचामिचि कोरोनाको

चोख कान बुजे सब चुप करे शुये थाको
हुशियार

—इत्यादि

—"वह देखो लाल भूत आ रहा। हुशियार ! दुनिया के बच्चो, चिल्लाओ मत, आंख-कान बन्दकर चुपकर सो रहो, हुशियार। हिटलर, मुसोलिनी, जापानी नोगुचि सब कहते हैं हुशियार। अंग्रेज, फ्रांसीसी सावधान होकर घूरते हैं, बच्चों को पकड़ने का झोला लेकर वह आया लाल भूत। हुशियार। बच्चो, सो जाओ, देर न करो, देखो वह विपत्तिसूचक लाल बत्ती। हुशियार। सफेद, काले, पीले सब बच्चे पड़कर सो रहो। यहूदी भगाना है, ईसामसीह भी आर्य हो गये, स्वस्तिक ध्वजाधारी शान्ति-सेना पुकार रही है, वह आया लाल भूत, हुशियार।"

इस प्रकार आधुनिक कविता केवल नारी की पूजा में या देवताओं की प्रशंसा में सीमाबद्ध न रहकर मनुष्य के सभी क्षेत्रों में सभी दिलचस्पियों में अपने लिए रास्ता बना रही थी। शायद इस कारण आलंकारिकों की दृष्टि में अब वह उतनी हद तक कविता नहीं रही, किन्तु अब वह जीवन के हरेक रन्ध्र में अपनी जड़ को प्रविष्ट कराकर अपनेको सजीव बनाना चाहती है, साथ ही जीवन की मिट्टी को वह अधिक सामंजस्यपूर्ण तथा उसको एक-दूसरे से सम्बन्धयुक्त बनाना चाहती है। यही इस युग की कविता की विशेषता है। हां, कहीं-कहीं इसमें अति हो रही है, यह मानता हूं, किन्तु कोई भी बाढ़ जब आती है तो वह निकल जाती है। जब बाढ़ का पानी चला जाता है तो वह ऐसी मिट्टी छोड़ जाती है, उसीमें सोना फलता है।

: २४ :

आधुनिक बंगला उपन्यास

रवीन्द्रनाथ तथा शरच्चन्द्र के जीवन-काल में ही यह आन्दोलन तो शुरू हो गया था कि बंगला-उपन्यास को इन दो महारथियों की प्रतिभा के क्षेत्र से मुक्त करके बाहर लाया जाय। इस सम्बन्ध में भाषा तथा रचना दोनों दृष्टियों से नवीन प्रयोग शुरू हो गये थे। फिर भी एक तो प्रतिभा के इन वरद्-

पुत्रों की जकड़ से उपन्यास-साहित्य को मुक्त करना टेढ़ी खीर थी, और दूसरे जिन लोगों ने इस काम को उठाया, उन्होंने यूरोपियन, विशेषकर नार्वेजियन उपन्यासकारों का अनुकरण किया। इसलिए इनके प्रयासों से तत्काल ही कोई युगान्तरकारी नतीजे नहीं निकले। रवीन्द्रनाथ के उपन्यास मुख्यतः बिल्कुल रूढ़िवादी तो नहीं, पर नैतिक वातावरण को लेकर चलते थे। शरच्चन्द्र में ऐसा कोई बन्धन नहीं था, फिर भी ऊपर से वह बन्धनहीन होने पर भी भीतर से प्राचीन मान्यताओं को सम्मान की दृष्टि से देखते थे, इसमें कोई सन्देह नहीं।

पर इन नये उपन्यासकारों ने प्रयोग शुरू किये। उन्होंने इब्सन, क्नुट हैमसुन, चेखाफ, डोस्टोईएयफस्की, तुर्गनेव आदि लेखकों को आदर्श मानकर एक नवीन शैली की सृष्टि करनी चाही। इनके प्रयास किसी भी क्षेत्र में पूरे तरीके से सफल नहीं हुए, पर इस असफलता में ही उन्हें कई तरह की नई शैली सृष्टि करने की सफलता मिली और बंगला-उपन्यास-साहित्य में एक नवीनता का संचार हुआ।

बंगला साहित्य के क्षेत्र में कुछ पत्रिकाओं ने साहित्य-निर्माण और युग को ढालने में इतना अधिक कार्य किया है कि थोड़े समय बाद लुप्त हो जाने पर भी बंगला साहित्य में उनका नाम अमर रहेगा। ऐसी पत्रिकाओं में बंकिमचन्द्र का 'बंगदर्शन', सुरेशचन्द्र समाजपति का 'साहित्य', रामानन्द चट्टोपाध्याय का 'प्रवासी', रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'विचित्रा' बहुत उल्लेखनीय हैं, पर इन सबसे महत्वपूर्ण श्री दिनेशरंजनदास और गोकुल नाग द्वारा सम्पादित 'कल्लोल' है।

इस पत्रिका का जीवन-काल केवल सात वर्ष तक सीमित रहा, फिर भी इसको बंगला साहित्य में इस कारण महत्व प्राप्त हुआ कि रवीन्द्रोत्तर सारे बंगला साहित्य का यह केन्द्र बन गया।

यद्यपि कवीन्द्र रवीन्द्र ने बंगला साहित्य के भण्डार को दोनों हाथों से हीरों और मोतियों से भर दिया और उसके किसी भी अंग को खाली नहीं रक्खा, फिर भी रवीन्द्र-साहित्य को अगले युग का प्रतीक नहीं कहा जा सकता था। कम-से-कम कुछ शक्तिशाली और कर्मठ लोग ऐसा समझते थे। रवीन्द्रनाथ सारे बंगला साहित्य पर छा गये थे, इन लोगों के अनुसार बुरी तरह छा गये थे, इस कारण ये समझते थे कि इसे रवीन्द्र-प्रभाव से मुक्त कर आधुनिक जीवन के कलकलमय कल्लोल में लाने की आवश्यकता है।

रवीन्द्रनाथ तक इनकी खबर पहुंचती रहती थी और वह परेशान थे कि ये

नवीन लेखक अपने कर्तव्य को समझ भी रहे हैं या नहीं। मानों इसी घबराहट, चिंता तथा एक प्रकार से पथ-प्रदर्शन के लिए रवीन्द्रनाथ ने इन्हीं दिनों 'शेषर कविता' नामक उपन्यास लिख डाला। यह उपन्यास इन आधुनिक लेखकों को मानों चुनौती देकर यह कह रहा था कि तुम्हें इस काम को इस ढंग से करना है तो यों करो। इस प्रकार से यह कहा जा सकता है कि एक बार उल्टी गंगा बही और कल्लोल-गुट के लोगों का रवीन्द्रनाथ पर असर पड़ा। इस उपन्यास का कल्लोट-गुट के लोगों पर यह असर पड़ा कि वे अवाक् होकर कह उठे, "अरे, हम ऐसे ही तो लिखना चाहते थे।" इस प्रकार रवीन्द्रनाथ ने फिर एक बार अपने इन विद्रोही शिष्यों को अपने जाल में डालकर समेट लिया। तथ्य तो यह है कि केवल इसी मामले में नहीं, इसके बाद भी रवीन्द्रनाथ जबतक जीवित रहे, वे दूसरों के हर नये प्रयोग को अपनाकर इन प्रयोगों के प्रवर्त्तकों के आगे रहने की चेष्टा करते रहे, और इसमें वह सफल भी रहे।

यहां कहीं कुछ गलतफहमी न हो जाय, इसलिए यह बता दिया जाय कि 'कल्लोल' से बहुत पहले ही शरत्चन्द्र का आविर्भाव हो चुका था। यद्यपि शरत्बाबू ने स्वयं ऐसा कभी नहीं कहा, तथापि इस बात को बंगला साहित्य के बाहर भी लोग जानते हैं कि शरच्चन्द्र हर तरीके से रवीन्द्रनाथ द्वारा प्रभावित होने पर भी उनका साहित्य रवीन्द्र-साहित्य के अन्तर्गत नहीं था, और यह कहा जा सकता है कि बंगला साहित्य को पहली बार कवीन्द्र रवीन्द्र से मुक्ति उन्हींके हाथों द्वारा हुई। फिर भी शरच्चन्द्र इस अर्थ में आधुनिक होते हुए भी और उनके साहित्य के आधुनिक जीवन की कुछ समस्याओं के समाधान की ओर साहसपूर्वक हाथ बढ़ाने पर भी आधुनिक जीवन की कई ऐसी समस्याएं थीं, जिनको वह बहुत कम छू पाये।

इन्हीं बातों को लेकर 'कल्लोल' की स्थापना हुई। बंगला के अन्यतम शक्तिशाली लेखक अचिंत्यकुमार सेनगुप्त, जो इस कल्लोल-परिवार के सदस्य हैं, इस संबंध में क्या लिखते हैं, यह सुनने लायक है। 'कल्लोल' के साथ-साथ 'संहति' नाम से उन्हीं दिनों मजदूरों की एक पत्रिका भी निकली थी। यह बंगला सन् १३३० की बात है।

अचिंत्यकुमार लिखते हैं—"सोचने पर आश्चर्य होता है कि दोनों मासिक पत्र एक ही सन् में और एक ही महीने में पहले-पहल प्रकाशित हुए। १३३०

के वैशाख महीने में ये पत्र निकले। 'कल्लोल' कोई सात वर्ष चला, पर 'संहति' पत्र दो साल चलने के पहले बन्द हो गया। 'कल्लोल' कहने पर ही समझ में आता है कि वह क्या है। उद्धत यौवन की झाग देती हुई उद्दामता, समस्त बाधाओं और बंधनों के विरुद्ध मुक्त विद्रोह, स्थविर समाज को उखाड़ फेंकने का आन्दोलन। पर 'संहति' क्या है? 'संहति' तो कठिनीकृत शक्ति है। संघ, समूह, गणशक्ति, यही 'संहति' है। जिस गुण के लिए समधर्मी परमाणु एक होते हैं, वही 'संहति' है। यह नाम आश्चर्यजनक था, और उसका तात्पर्य भी आश्चर्यजनक था। एक तरफ वेग बल था। एक तरफ तोड़ना था और दूसरी तरफ संगठन और एकीकरण था।

"आज बहुत-से लोग शायद नहीं जानते कि यही 'संहति' बंगाल में मज़दूरों का पहला मुखपत्र और उनकी पहली मासिक पत्रिका थी। वह दुबली-पतली स्वल्पायु मासिक पत्रिका ही बंगाल में गण-जययात्रा की पहली मशालची थी। इसके बाद तो कई पत्रिकाएं निकलीं, जैसे 'गणवाणी', 'गणशक्ति', 'लांगल' या 'हल'। 'संहति' ही अग्रणी थी।"

रवीन्द्र और शरत्चन्द्र के बाद बंगाल के सभी ऊंचे दर्जे के साहित्यिक इसी 'कल्लोल' से किसी-न-किसी प्रकार सम्बद्ध थे। उनमें से कुछके नाम इस प्रकार हैं—ताराशंकर, प्रबोध सान्याल, बुद्धदेव वसु, अन्नदाशंकर, नज़रुल इस्लाम, जीवनानन्द दास, नृपेन्द्रकृष्ण चट्टोपाध्याय, पवित्र गंगोपाध्याय, जसीमुद्दीन, प्रेमेन्द्र मित्र, विश्वपति चौधरी, विष्णु दे, गोकुल नाग, माणिक वन्द्योपाध्याय, यतीन्द्रसेन गुप्त, शिवराम चक्रवर्ती, यतीन्द्र बागची, राधारानी देवी, शैलजानन्द, मुखोपाध्याय, सरोज राय चौधरी, सुनिर्मल वसु, सुधीर चौधरी, हुमायूं कबीर इत्यादि।

इस प्रकार बंगला के सब आधुनिक लेखक 'कल्लोल' के इर्द-गिर्द एकत्र हुए। यहांपर 'कल्लोल'-संबंधित कुछ थोड़े-से लेखकों का ही परिचय दिया जायगा।

इनमें से करीब-करीब सभी लेखकों के साथ हिन्दी-जगत् थोड़ा बहुत परिचित है। इलाहाबाद से प्रकाशित होनेवाली 'माया' और 'मनोहर कहानियां' नामक कहानी पत्रिकाओं की बदौलत इनमें से जो लोग कहानीकार हैं, उनकी कहानियां हिन्दी-जगत् के सम्मुख समय-समय पर आती रही हैं, पर पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होने पर इन लेखकों को कोई विशेष ख्याति प्राप्त नहीं

हुई। एक तो अक्सर अनुवाद बहुत बुरा हुआ, और दूसरे किसी कारण से हो, साहित्य के क्षेत्र में मासिक पत्रों की रचनाओं को कोई विशेष मर्यादा प्राप्त नहीं होती। फिर भी यह मानना पड़ेगा कि हिन्दी पत्रों ने इस दिशा में बहुत अच्छी सेवा की है। अच्छा होता, यदि कहानियों को परोसने में अनुवाद की उत्तमता की ओर भी ध्यान दिया जाता।

ताराशंकर के कई उपन्यास हिन्दी में प्रकाशित हो चुके हैं, और जल्दी ही शायद उनके बाकी उपन्यास भी हिन्दी में प्रकाशित हों। इस प्रकार ताराशंकर से तो हिन्दी-जगत् काफी अच्छी तरह परिचित है।

ताराशंकर हिन्दी में जितनी अच्छी तरह जाने जाते हैं, उतना बंगला का कोई जीवित लेखक नहीं जाना जाता। हां, काज़ी नज़रुल इस्लाम भी बंगला के बाहर कुछ प्रख्यात हैं, पर उनकी सारी रचनाएं कविता में होने के कारण उनकी कृतियों से हिन्दी-जगत् अधिक परिचित नहीं है। 'कल्लोल' के सम्पादक श्री गोकुल-चन्द्र नाग की असामयिक मृत्यु पर कवि नज़रुल ने 'गोकुल नाग' नाम से जो कविता लिखी थी, उसकी कुछ पंक्तियों का अर्थ नीचे दिया जाता है। इन पंक्तियों से यह भी ज्ञात हो जायगा कि कल्लोल-गुट के लेखक किन विचारों से परिचालित थे :

"सुन्दर की तपस्या में ध्यान में विभोर दरिद्रता के दर्प और तेज़ को लेकर जो लोग आये, जो लोग चिर सर्वहारा हैं, जो लोग आत्मदान करके सृजन करते हैं, निर्माण नहीं करते, हे कवि, इस स्मृति-दिवस में उन शारदापुत्रों के आडम्बर-हीन सहज जीवन को स्वीकार कर लेना, जैसा कि तुमने जीवन में उन्हें ग्रहण किया था।"

इसी कविता में अन्यत्र वह लिखते हैं—"जो लोग ऊंची-ऊंची अटारियां बनवाते हैं, उन्हींकी इज्जत और सम्मान है, पर उनका यह निर्माण दो दिन का है, जल्दी ही टूटकर गिर पड़ता है, पर जो लोग विधाता की तरह कहीं चुपचाप सृजन करते रहते हैं, जाति को बनाते हैं, इन्सान को बनाते हैं, वे अपरिचित रह जाते हैं।"

हमने इन पंक्तियों को नज़रुल की कवित्वशक्ति दिखाने के लिए नहीं, बल्कि किन विचारों को लेकर कल्लोल-गुट चला, उनके स्पष्टीकरण के लिए चुना। नज़रुल पर हम पहले ही विस्तार के साथ लिख चुके हैं। वह उस समय भी

ऊंचा स्थान प्राप्त कर चुके थे जब रवीन्द्रनाथ जीवित थे ।

यहां हम श्री गोकुल नाग का परिचय थोड़े में देंगे। वह कल्लोल-गुट के मध्य-मणि थे। उनका उपन्यास 'पथिक' बहुत प्रसिद्ध हुआ और उनकी अकाल मृत्यु के बावजूद इसी एक उपन्यास के कारण उनकी ख्याति बंगला साहित्य में अमर है। इस उपन्यास को पढ़कर बंगला के प्राचीन-पंथी विद्वान् और आलोचक डा० दिनेश सेन इतने प्रभावित हुए थे कि उन्होंने लिखा था—"इस प्रकार की कृतियों से प्राचीन समाज की नींव ढह जायगी, बल्कि बंगाली दुनिया के पर्दे पर से मिट जायं, यह अच्छा है, पर वे संस्कारों की चक्की में पिसकर निकम्मे होकर बने रहें, इसकी क्या ज़रूरत है ? ऐसे जीने से मरना अच्छा है । जो वीर हमारे दरवाज़े खोलकर घर में ताज़ी हवा पहुंचाने के लिए कमर कस चुके हैं, उनमें 'कल्लोल' के लेखक सबसे तरुण और शक्तिशाली हैं। प्राचीन पोंगापंथी समाज के साथ समझौता करके चलने की दीनता से ये मुक्त हो चुके हैं। ये लोग घिसे-पिटे रास्ते को रास्ता नहीं मानते । जो सुन्दर है, स्वाभाविक है, जो वास्तविक रूप से मनुष्यता है, आत्मा के उस स्वप्रकाशित सत्य को वे वेद और कुरान से बड़ा समझते हैं। इन बलदर्पित लेखकों के पदचाप से प्राचीन जराजीर्ण समाज की हड्डी-पसली हिल उठी है। पर मैं इनकी रचनाओं को पढ़कर बहुत खुश हुआ हूं। हमें ऐसा मालूम होता है कि नाली छोड़कर हम जाह्नवी की पवित्र धारा में आ गये, जैसे कागज़ के फूलों की दुनिया से नन्दन कानन में आ गये ।"

डा० दिनेश सेन के मुंह से यह प्रशंसा बहुत अधिक महत्व रखती थी ।

श्री गोकुल नाग के अतिरिक्त जिन लेखकों ने 'कल्लोल' को बनाया, उनमें प्रबोध सान्याल का नाम विशेष उल्लेखनीय है। पहले ही साल उनकी रचना 'कल्लोल' में प्रकाशित हुई। इस समय उनके बहुत-से उपन्यास हैं, जिनमें कई उच्चकोटि के हैं।

अचिंत्यकुमार कवि और उपन्यासकार हैं। 'कल्लोल' की प्रथम संख्या में ही इनकी एक कहानी 'मां' नाम से प्रकाशित हुई थी। इनके भी बहुत-से उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं।

श्री बुद्धदेव वसु बंगला के प्रमुख कथाकारों में हैं। पहले 'प्रगति' नाम से वह एक हस्तलिखित पत्रिका निकालते थे। जब श्री गोकुलचन्द्र नाग मरे, उस समय ढाका से इन्होंने एक छोटी-सी कविता लिख भेजी थी, जिसमें इन्होंने श्री गोकुल-

चन्द्र नाग को 'यौवन-पथिक' सम्बोधित करते हुए लिखा था—"तुम नव वसंत के सुरभित दक्षिण वायु हो। तुम क्षणभर के लिए वाणी के कानन को विकम्पित कर गये।" उन दिनों बुद्धदेव वसु को कोई नहीं जानता था। बाद को 'कल्लोल' के वह प्रमुख लेखकों में हो गये। उपन्यासों, कहानियों और कविताओं में सर्वत्र वह चमके। उनकी रचनाओं की संख्या बहुत अधिक है। वे अंग्रेज़ी में भी लिखते हैं। उनके उपन्यासों और कहानियों में अंग्रेज़ी शिक्षा-प्राप्त बंगाली-समाज का चित्रण है।

अन्नदाशंकर भी 'कल्लोल' के साथ सम्बद्ध थे। अचिंत्यकुमार के अनुसार वह ऐसे लेखकों में हैं, जिनमें मन, प्राण और आत्मा का महामिलन हुआ है। उनके अनुसार, "आत्मा के साथ जब आत्मा की बातचीत होती है, तभी महान् कला का जन्म होता है। अन्नदाशंकर उसी महान् कला के अन्वेषक हैं। उनके साहित्य का आदर्श इतना ऊंचा है कि जो बात उनकी पहुंच के अन्दर आ जाती है, जिस-पर वह दखल प्राप्त कर लेते हैं, उससे वह तृप्त नहीं होते। वह जीवन में स्वस्थ और शान्त भले ही हों, पर सृजन में वह अपरितृप्त हैं।" अन्नदाशंकर के बहुत-से उपन्यास प्रकाशित हुए हैं, जो उच्चकोटि के हैं।

बंगला के अन्यतम शक्तिशाली लेखक श्री विभूतिभूषण मुखोपाध्याय भी 'कल्लोल' के लेखकों में थे। विभूतिबाबू जब-तब लिखते थे, ऐसी बात नहीं, वह नियमित रूप से 'कल्लोल' में लिखा करते थे। उनके भी बहुत-से उपन्यास हैं।

जसीमुद्दीन भी कल्लोल के लेखकों में थे। इन दिनों वह पूर्व पाकिस्तान में करीब-करीब राजकवि हैं, पर उन दिनों उनकी कैसी हालत थी, यह अचिंत्यकुमार की ज़बानी सुनिये—"एकदम सीधे-सादे, भोले-भाले थे ये कवि जसमुद्दीन। कंघी से बालों का कोई खास सम्बन्ध नहीं। शायद अभाव से कहीं बढ़कर उदासीनता थी। मानो उनके व्यक्तित्व के इर्द-गिर्द सरल श्यामल गांव का वातावरण था। उनकी कविताओं में भी गांव की ओर संकेत था। गांव के किसान, खेत और खलिहान, नदी-नालों की तरफ उनकी दृष्टि थी। उनका सुझाव उनकी असा-धारण साधारणता की ओर था। जो दुःख सर्वहारा का होकर भी सर्वमय था, वही उनका उपजीव्य था। उनमें किसी तरह की शिल्पीसुलभ कृत्रिमता नहीं थी, कोई प्रसाधन का ढकोसला नहीं था। एकदम सीधे-साधे हृदय स्पर्श करने की व्याकुलता थी। उनकी बातें किसी वाद के सांचे में ढली न होने के कारण

भले ही कुछ लोगों को नापसन्द रही हों, पर वे बहुत सुन्दर थीं।"

जसीमुद्दीन को बंगाल के गांवों का प्रतीक कवि कहा जा सकता है और इस दृष्टि से बंगला साहित्य में उनका स्थान अद्वितीय माना जा सकता है। यों तो रवीन्द्रनाथ से लेकर सभी बंगला कवियों ने बंगाल के गांवों की प्रशस्ति गाई है, पर जिस चुभते हुए पैने ढंग से जसीमुद्दीन ने कविताएं लिखी हैं, वह बिल्कुल उन्हीं तक सीमित रहा।

जीवनानन्द दास भी 'कल्लोल' के संस्पर्श में आये। वह पहले बरीसाल में थे, बाद में कलकत्ते में आये। जीवनानन्द को 'कल्लोल' वालों ने खींचा, पर वह उसमें अधिक रम नहीं पाये। वह सिटी कालेज में अध्यापक थे। अश्लीलता का दोष लगाकर उन्हें नौकरी से अलग कर दिया गया। अश्लीलता भी किस प्रकार की थी, यह भी देखने लायक है। उन्होंने किसी कविता में शायद ऐसा लिखा कि खड़ी फसल के अग्रभाग को देखकर उन्हें स्तन का श्याममुख स्मरण हो आता है। कहना न होगा कि इतनी छोटी-सी बात पर जब जीवनानन्द को निकाल दिया गया तो कालेज के अधिकारियों के हाथों में शेक्सपियर और कालिदास की कैसी दशा होती?

'कल्लोल'-गुट से अलग मनीन्द्रलाल बोस एक अजीब शैली का प्रवर्त्तन तथा प्रयोग करते रहे। उनकी रचना का सबसे महत्वपूर्ण अंग उनकी अलसाई-सी, धीर-मंथर राजहंस की चालवाली मसालेदार भाषा है। उन्होंने दो ही तीन उपन्यास लिखे हैं। इनमें भाषा के अतिरिक्त शायद ही कुछ है, फिर भी इनके उपन्यास बहुत ही पठनीय हैं, और जो लोग 'कादम्बरी' की शैली की चीज़ को रस ले-लेकर पढ़ने के आदी हैं, याने कुछ देर पढ़ा और फिर आंखें बन्द करके सोचते रहे, उन्हें बहुत पसन्द आयंगे। स्वाभाविक रूप से मनीन्द्रलाल ने अपने उपन्यासों में कथानक भी ऐसा रक्खा है, जिसमें दीर्घकाल तक सोचने और चिंतन करने की गुंजाइश हो। इसीलिए उनके कथानकों में तपेदिक-ग्रस्त व्यक्तियों की भरमार है, जो पड़े-पड़े न मालूम किस-किस स्वप्न-जगत् में चले जाते हैं।

यह पहले ही कहा जा चुका कि बंगला के उपन्यासकारों में इस समय सबसे प्रमुख नाम श्री ताराशंकर वंद्योपाध्याय का है। उन्होंने बहुत अच्छा भी लिखा और बहुत अधिक भी लिखा। यह तो कहना कठिन है कि वह रवीन्द्रनाथ या शरच्चन्द्र की तुलना में कैसे हैं, पर इतना कहा जा सकता है कि उनके

साहित्य में आधुनिक बंगाल तथा एक हद तक भारत मूर्त्त हुआ है। उनका साहित्य केवल पारिवारिक जीवन को लेकर ही नहीं चलता, उसमें युगमन का प्रतिफलन सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। उनका प्रथम उपन्यास 'चेताली धूर्णि' १९३२ के अक्तूबर में प्रकाशित हुआ। उनका 'गण देवता' तथा 'पंचग्राम' नामक उपन्यास शायद उनकी सबसे उत्कृष्ट रचनाएं हैं। पर इधर १९४७ की जुलाई में उन्होंने 'हांसुली बांकेर उपकथा' नाम से एक उपन्यास लिखा है, जिसकी बहुत प्रशंसा हुई है। उनके अन्य उपन्यासों में 'धात्री देवता', 'कवि' और 'कालिन्दी' बहुत ही उच्चकोटि के उपन्यास हैं। 'धात्री देवता' १९३९ के अक्तूबर में प्रकाशित हुआ। 'कालिन्दी', 'कवि', 'गण देवता', 'पंचग्राम', 'मन्वंतर', क्रमशः अक्तूबर १९४०, मई १९४१, अक्तूबर १९४२, फरवरी १९४४ तथा १९४४ में प्रकाशित हुए। उनके उपन्यास 'मन्वंतर' का हिन्दी अनुवाद भी हो चुका है। यह एक आश्चर्य की बात है कि वर्तमान बंगाल के सबसे प्रसिद्ध लेखक ने मुख्यतः गांवों के सम्बन्ध में ही लिखा है। उनके उपन्यास 'आरोग्य निकेतन' को उनकी सर्वोत्तम कृति माना गया है।

दरभंगा-निवासी श्री विभूतिभूषण मुखोपाध्याय बंगला के बहुत प्रमुख उपन्यासकारों में हैं। उनका प्रथम कहानी-संकलन 'रानू का प्रथम भाग' मई १९३७ के करीब प्रकाशित हुआ। उन्होंने उपन्यास, नाटक, कहानी सभी कुछ लिखा है, और बड़ी योग्यता से लिखा है। उनका 'गरीयसी' नामक उपन्यास तीन भागों में प्रकाशित हुआ और उसकी बड़ी प्रशंसा हुई। इनकी रचनाओं में चित्रण की अद्भुत शक्ति है।

श्री बुद्धदेव वसु का नाम हम इससे पूर्व कई बार ले चुके हैं। उनका प्रथम उपन्यास 'साडा' पुस्तकाकार में १९३० में प्रकाशित हुआ। उनके उपन्यासों का विवरण इस प्रकार है—'साडा' १९३०, 'जेदिन फुटलोकमल' १९३३, 'धूसर गोधुली' १९३३, 'कालोहावा' १९४२, 'विशाखा' १९४६, 'तिथिडोर' १९४९। 'अन्यकोनखाने' नाम से उनकी एक पुस्तक प्रकाशित हुई है। उनकी रचना में शृंगार-रस की कहीं-कहीं अधिकता है और प्रगतिशील लोग उन्हें प्रतिक्रियावादी लेखक मानते हैं। उन्होंने अंग्रेज़ी में बंगला के आधुनिक साहित्य के सम्बन्ध में भी एक पुस्तक लिखी है, जिसका नाम है 'एन एकर आफ़ ग्रीन ग्रास'।

इस समय के प्रमुख बंगला-उपन्यासकारों में श्री अन्नदाशंकर राय का भी

नाम लिया जा सकता है। उनके जीवन का बहुत-सा भाग यूरोप में बीता है, इस कारण वह अपने उपन्यासों में यूरोपीय वातावरण बहुत ले आते हैं। उनकी पहली रचना रवीन्द्रनाथ की देख-रेख में निकलनेवाली 'विचित्रा' नामक पत्रिका में धारावाहिक रूप से १९२७ से १९३० तक प्रकाशित हुई। इसका नाम था 'पथेप्रवासे'। उनकी पुस्तकाकार में प्रकाशित प्रथम रचना 'ताराराय' १९२८ में प्रकाशित हुई। 'पथेप्रवासे' भ्रमण की पुस्तक थी, पर वह इतने दिलचस्प रूप में लिखी गई थी कि इसीसे बंगला-साहित्य में उनकी ख्याति हो गई। इन्होंने 'सत्यासत्य' नाम से ६ उपन्यासों की एक माला लिखी, जिसके भागों के नाम हिन्दी में अनूदित होने पर यों हैं—१. 'जार जेथा देश' या 'जिसका जहां देश', २. 'अज्ञातवास', ३. 'कलंकवती', ४. 'दु:खमोचने', ५. 'मर्त्येर स्वर्ग' या 'मर्त्य का स्वर्ग', ६. 'अपसरण'। उनकी अन्य पुस्तकों में, 'मन पवन' भी बहुत प्रसिद्ध है। अन्नदाबाबू हमारे सामने एक नई ही दुनिया रख देते हैं। वह अंग्रेज़ी-साहित्य के बहुत बड़े ज्ञाता होने के साथ ही भारतीय वैष्णव साहित्य तथा रवीन्द्रनाथ के समान रूप से ज्ञाता हैं। साथ ही वह कवि भी हैं। इस कारण उनके साहित्य में ऐसे रस की उत्पत्ति हुई है, जो रवीन्द्र, शरत् आदि से सम्पूर्ण रूप से पृथक् जगत् की सृष्टि करता है।

श्री अचिंत्यकुमार सेनगुप्त बंगला के बहुत ही शक्तिशाली उपन्यासकारों में हैं। वह नार्वेजियन साहित्य से बहुत प्रभावित हुए और क्नुटहाससुन की एक पुस्तक के अनुवाद से उन्होंने साहित्य-जगत् में प्रवेश किया। उनका पहला उपन्यास 'बेटे' या 'बहू' क्नुटहाससुन की शैली पर ही लिखा गया था। यह १९२७ में प्रकाशित हुआ। उनके उपन्यासों तथा कहानियों की संख्या बहुत अधिक है।

उन्होंने अपने उपन्यासों में कुछ नवीन प्रयोग किये, और ऐसा कहने में कोई हिचकिचाहट नहीं है कि वह इन प्रयोगों में बहुत-कुछ सफल हुए। बाद को चलकर हाल में उन्होंने 'जायजेदिजाक' याने 'जाये तो जाये' नाम से एक उपन्यास लिखा था, जिसके कारण उनकी ख्याति में बहुत वृद्धि हुई थी। इस पुस्तक में बंगाली मध्यवित्त परिवार पर युद्ध तथा दुर्भिक्ष का परिणाम दिखलाया गया हैं। इसमें सन्देह नहीं कि भारतीय साहित्य में यह एक बहुत ही शक्तिशाली दान है।

भागलपुर-निवासी डाक्टर बलाईचांद मुखोपाध्याय या बनफूल ने बहुत-से

उपन्यास, कहानियां तथा एकांकी लिखे हैं। उनकी रचना की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह बहुत अच्छी कहानी गढ़ लेते हैं, और उनमें मौलिकता बहुत अधिक है। विशेष विचारधारा के वह कायल नहीं हैं, और इधर उनको प्रगतिशील लेखकों ने कई एक रचनाओं के कारण प्रतिक्रियावादी बताया है। उनका प्रथम उपन्यास 'तृण-खंड' 'शनिवारेर चिठी' की तरफ से प्रकाशित हुआ था। उनके सभी उपन्यास और कहानी-संग्रह शीघ्र ही हिन्दी में प्रकाशित होने जा रहे हैं। 'कुछ क्षण' नाम से उनका एक छोटा-सा उपन्यास पहले हिन्दी में प्रकाशित हो चुका था, पर अनुवाद अच्छा न था।

श्री विभूतिभूषण वन्द्योपाध्याय भी बंगला के एक प्रसिद्ध उपन्यासकार हैं। उनके पांच उपन्यास बहुत प्रसिद्ध हैं, जिनमें से उनका प्रथम उपन्यास 'पथेर पांचाली' तथा उनका द्वितीय भाग 'अपराजिता' सबसे प्रसिद्ध हैं। 'पथेर पांचाली' संसार की श्रेष्ठतम कृतियों में से माना गया है। इसमें वह रवीन्द्र और शरत् से उच्चस्तर की कला का प्रदर्शन करते हैं। बंगला में अबतक वह केवल प्रथम श्रेणी के माने जाते थे, पर अब लोग उनकी कद्र समझने लगे हैं। उन्होंने भी ग्राम-जीवन को ही उपन्यास का केन्द्र बनाया है। उनके अन्य उपन्यासों के नाम इस प्रकार हैं—१. आरण्यक, २. दृष्टि-प्रदीप, ३. देवयान, ४. आदर्श हिन्दू होटल। इसके अतिरिक्त उनके कई कहानी-संकलन प्रकाशित हुए हैं। दो भ्रमण-सम्बन्धी पुस्तकें भी प्रकाशित हुई हैं, जिनमें उपन्यास का मज़ा आ जाता है।

श्री प्रबोधकुमार सान्याल भी एक शक्तिशाली उपन्यासकार हैं। वह गद्य के इतने सुन्दर लेखक हैं कि उनको गद्य का कवि कहना अनुचित न होगा। उनके उपन्यास डिकेन्स की तरह बहुत संगठित नहीं हैं, पर वे इतनी नई चीज़ें पाठक के सामने ला देते हैं कि पाठक मुग्ध हो जाता है। उन्होंने कई उपन्यास तथा कहानियों के कई संग्रह प्रकाशित किये हैं। वह भ्रमण की कहानियां लिखने में सिद्धहस्त हैं। 'देवात्मा हिमालय' नाम से एक पुस्तक निकली है, जिसकी भूमिका श्री नेहरू ने लिखी है।

श्री शैलजानन्द मुखोपाध्याय कई सुन्दर उपन्यास लिख चुके हैं और उन सबका केन्द्र कोयले की खानों का जीवन है। ऐसा मालूम होता है कि उन्होंने कोयले की खानों का सुन्दर अध्ययन किया है। यह एक ऐसा विषय है, जिसे अन्य लेखकों के द्वारा करीब-करीब अछूता होने के कारण, बंगला के उपन्यास-

साहित्य में एक विशेष स्थान प्राप्त हुआ है। उनकी 'कयला कुटी' या 'कोयले की खान' की बंगला में बहुत प्रशंसा हुई। उनकी 'अनाथ आश्रम' नामक पुस्तक और उनकी कुछ कहानियां भी हिन्दी में अनूदित हो चुकी हैं। वह सर्वदा अपनी कहानियों तथा उपन्यासों में अस्वाभाविक और असाधारण को लेकर चलते हैं। श्री माणिक वन्द्योपाध्याय बंगला-उपन्यास के क्षेत्र में कभी इतने चमके थे कि उनके सम्बन्ध में समझा जाता था, वह ही शरत्‌बाबू का रिक्त स्थान ले लेंगे। उनका 'पद्मा नदी का मांझी' नामक उपन्यास पद्मा के किनारे के ग्राम-वासियों को लेकर लिखा गया है। यह एक बहुत ही शक्तिशाली कृति है, और सब तरह के समालोचकों ने इसकी बड़ी प्रशंसा की है। बहुत ही साधारण मल्लाह के जीवन को लेकर इतना बडा उपन्यास लिख देना यह उनकी शक्ति का परिचायक है। पर माणिकबाबू को न मालूम क्या हो गया, बाद को वह कुछ अश्लीलता की तरफ बढ़े और मनोविश्लेषण के विषय ही उनकी कहानियों तथा उपन्यासों के उपजीव्य बन गये। अवश्य इससे यह न समझा जाय कि उनके लिखने की शक्ति में कोई फर्क आया, पर उसका सामाजिक मूल्य घट गया, इसमें सन्देह नहीं।

श्री परिमल गोस्वामी ने 'ब्लैक मार्केट' नामक एक उच्चकोटि का गल्प-संकलन प्रकाशित किया है। उनमें व्यंग्य तथा विद्रूप की अपूर्व प्रतिभा है।

इधर के अत्यन्त शक्तिशाली लेखकों में श्री नारायण गांगुली का नाम बहुत ही प्रमुख है। उनका 'उपनिवेश' नामक उपन्यास तथा इसके बाद भी उनकी जो कहानियां आदि प्रकाशित हुई हैं, वे महान् प्रतिभा की सूचक हैं। गोपाल हालदार ने बंगला-उपन्यास में कम्युनिस्ट धारा का प्रतिपादन किया है और उनका उपन्यास 'एकदा' इलिया एहरनबुर्ग की शैली का बहुत शक्तिशाली उपन्यास है।

अन्त में मैं कुछ अति-आधुनिक लेखकों का उल्लेख करूंगा, जिनसे बंगला-उपन्यास-साहित्य को बड़ी आशाएं हैं। उल्लिखित नारायण गंगोपाध्याय ने तो बंगला-साहित्य में जोर-शोर से पदार्पण किया। उनके पास कथानकों का जैसे एक ढेर-सा है। बहुत थोड़े समय में ही वह बंगला-साहित्य में छा गये। सृष्टि-शक्ति की विपुलता की दृष्टि से उनका नम्बर इस समय ताराशंकर के बाद ही है। उनके प्रत्येक उपन्यास में नवीनता के साथ एक दृढ़ विचारधारा का पुट है। 'उपनिवेश' के अलावा 'स्वर्णसीता' 'सूर्य सारथी' आदि कृतियां बहुत प्रसिद्ध हुईं।

अन्य अति प्रतिभाशाली आधुनिक लेखकों में समरसेन और सुभाष मुखोपाध्याय शक्तिशाली ज्ञात होते हैं। सुबोध घोष ने भी असाधारण कथानकों को लेकर कई अच्छे उपन्यास लिखे हैं, उनके कथानकों की असाधारणता उनकी काल्पनिकता में नहीं, बल्कि अल्प परिचित या अपरिचित स्थानों के लोगों को पात्र बनाने में है। इस समय की उपन्यास-लेखिकाओं में प्रतिभा वसु, आशापूर्णा देवी तथा वाणी राय को गिनाया जा सकता है। पर इनमें से कोई भी साहित्य को कोई नई दिशा देने जा रही हैं, ऐसा नहीं ज्ञात होता। इनके पहले के युग की लेखिकाएं-अनुरूपादेवी, स्वर्णकुमारी देवी तथा निरुपमादेवी आदि शायद उपन्यासकार की दृष्टि से अधिक सफल थीं। पर इन सबसे तथा अन्य लेखिकाओं से यह आशा की जा सकती है कि आज के जीवन के थपेड़े उन्हें उन बातों को सिखा सकेंगे जो वे अन्यथा नहीं सीख पायेंगी।

अब मैं केवल एक और उपन्यासकार नहीं, बल्कि उपन्यास का उल्लेख करूंगा। इस उपन्यास का नाम 'जागरी' है तथा इसके लेखक का नाम सतीनाथ भादूरी है। पता नहीं, यह लेखक कहां साधना कर रहा था, पर इन्होंने जब 'जागरी' को लेकर एकाएक साहित्य में पदार्पण किया तो लोग आश्चर्यचकित रह गये। इस उपन्यास में एक घटनापूर्ण रात्रि का वर्णन है। इस उपन्यास के मुख्य नायक बीलू को एक राजनैतिक मुकदमे में सज़ा की फांसी सुनाई जा चुकी है। वह जेल में बन्द है और उसे अगले दिन सवेरे फांसी होनेवाली है। उसके मां और बाप को भी उसकी तरह क्रान्तिकारी मामले में नहीं, बल्कि १९४२ के आन्दोलन में कुछ सजा हुई है और वे भी उसी जेल में बन्द हैं। बीलू का छोटा भाई नीलू जेल के फाटक पर है, और उसके सम्बन्ध में विशेष बात यह है कि अपने राजनैतिक विचारों में पक्का होने के कारण उसने अपने बड़े भाई के विरुद्ध गवाही दी है। पर राजनैतिक कारण से गवाही देने का अर्थ यह नहीं है कि उसके मन में बीलू के प्रति प्रेम नहीं है। सच तो यह है कि बहुत अधिक प्रेम है। अब ये चारों व्यक्ति अपनी-अपनी जगह पर सोच रहे हैं। यही उपन्यास का मुख्य उपजीव्य है। इसके साथ ही इस उपन्यास में राजनैतिक लोगों की भलाई-बुराई इस खूबी से आती है कि देखकर दंग रह जाना पड़ता है। इसमें सन्देह नहीं कि 'जागरी' एक बहुत ही शक्तिशाली उपन्यास है।

बंगला साहित्य में 'जागरी' के लेखक की तरह एक बार और भी एकाएक

ख्याति-प्राप्ति हो चुकी थी, जब 'यायावर' ने दिल्ली के जीवन पर एक अमर-पुस्तक 'दृष्टिपात' लिखी थी।

इसी कोटि में बाद के उपन्यासों में विमल मित्र का 'साहब, बीवी, गुलाम' की बात कह दी जाय। इसमें बड़े सुन्दर रूप से बंगाल में सामन्तवादी युग के अन्त के साथ-साथ पूंजीवाद का प्रारम्भ दिखाया गया। यह उपन्यास अत्यन्त उच्चकोटि का है। युगचित्रण के अतिरिक्त एक-एक चरित्र सजीव है और स्मृति-पटल पर अमिट प्रभाव छोड़ जाता है। इसका हिन्दी अनुवाद हो चुका है।

बंगला के अति-आधुनिक साहित्य में जनवादी तरीके से चीज़ों को देखने की परिपाटी प्रबल हो रही हैं। अब शरत् की पारिवारिक तथा प्रेम-सम्बन्धी गुत्थियों में वह उलझा हुआ नहीं रह सकता। अवश्य अब भी उपन्यासकारों का सबसे बड़ा उपजीव्य प्रेम ही है, पर इसके साथ-साथ जीवन के अन्य पहलू भी, विशेषकर आर्थिक पहलू, बहुत ज़ोर पकड़ रहे हैं। यह द्रष्टव्य है कि आधुनिक बंगला-साहित्य में ग्राम-जीवन को ही अधिक महत्व दिया गया है। इधर की अन्य उल्लेख-योग्य कृतियों में दीपक चौधुरी का 'पाताले एक ऋतु' (पाताल में एक ऋतु) और 'शंख विष', रमापद चौधुरी का 'प्रथम पहर', वरेन वसु का 'रंगरूट'। कहानी-साहित्य में विशेषकर नरेन्द्र मित्र, कामाक्षीप्रसाद चट्टोपाध्याय, स्वर्णकमल भट्टाचार्य, शिवराम चक्रवर्ती, सुशील जाना, ननी भौमिक उल्लेखयोग्य हैं।

: २५ :

अतिआधुनिक बंगला कविता

नज़रुल पर हम कुछ कह चुके हैं, पर उन्हींसे यदि अतिआधुनिक कविता का आरंभ माना जाय तो असंगत न होगा। कवीन्द्र रवीन्द्र के जीवन-काल में ही उनकी वाणी रवीन्द्र के मेघमन्द्रस्वर से पृथक् और स्पष्ट सुनाई पड़ती थी। सन् १९१४-१८ के महायुद्ध के बाद जब वह बंगला साहित्य के क्षेत्र में आये तो उनके हाथों में उस युग की आधुनिकता की अग्निवीणा थी। वह साहित्य के गगन में एक धूमकेतु की तरह प्राचीन के विनाश की वाणी को लेकर उद्भूत हुए। जो नवीन आने-वाला था, उसकी रूप-रेखा उनके निकट अभी स्पष्ट नहीं थी। विद्रोह तो था,

पर विद्रोह के सफल होने के बाद के निर्माण का नक्शा स्पष्ट नहीं था। यह हालत केवल उनकी कविता की नहीं थी, राजनीति में भी स्वराज्य शब्द की अभी परिभाषा नहीं हुई थी। उन्होंने उस युग में न केवल राजनैतिक विद्रोह का नारा दिया था, बल्कि भगवान् के विरुद्ध भी विद्रोह खड़ा किया था। उन्होंने अग्नि-वीणा में जिस रूप में जो कुछ कहा था, वह एक ऐसी वाणी थी, और इस रूप में कही गई थी, जो कवीन्द्र रवीन्द्र के लिए अस्वाभाविक होती। यद्यपि नजरुल ने साहित्य के क्षेत्र में एक विद्रोही कवि के रूप में प्रवेश किया फिर भी प्रेम, विरह आदि विषयों में बहुत-से गीत लिखे, जो बंगला साहित्य की अमर संपदाएं हैं। प्रेम-संबंधी उनकी कविताओं के अनुवाद में बहुत-कुछ नाश हो जाता है, क्योंकि इस विषय की उनकी कविताएं अत्यंत गीत-धर्मी हैं, और भाषा में ही उनकी प्रधान खूबी है। अरबी, फारसी, उर्दू के साथ-साथ बंगला के वैष्णव कवियों से उन्होंने बहुत-कुछ लिया, फिर भी नज़रुल नज़रुल ही हैं। यद्यपि उनकी प्रेम-कविताएं अनुवाद में बहुत-कुछ खो देंगी, फिर भी एक कविता यों है—

प्रदीप निभाये दाओ उठियाछे चांद।
बाहुर डोर आछे, मालाय कि साध?
फुल आनिओ न भवने
केशेर सुवास तब घनाक मने
हृदयेर लागि मोर हृदय काँदे
चन्दन लागे विस्वाद।
खोलो गुण्ठन, फेले दाओ आभरण
हाते राखो हात, तोलो आनत नयन।
बाहिरे बोहुक बातास
वक्षे लागुक मोर तब घन श्वास,
चम्पार डाले बसे मोदेर देखे
कुहु आर पापियाय कोरुक विवाद।

—"बत्ती बुझा दो, क्योंकि चांद निकल आया। माला की क्या ज़रूरत, जबकि बाहु का बंधन है। कमरे में फूल न लाओ, अपने केशों की गंध को ही मन में हिलोरें लेने दो। यहां तो हृदय हृदय के लिए रो रहा है, इसलिए चंदन में कोई रस नहीं मिलता। घूंघट के पट खोल दो, गहने दूर फेंको, हाथ पर हाथ रक्खो,

झुकी हुई आंखों को ऊपर उठाओ। बाहर तो हवा चले, और मेरे सीने पर तुम्हारी जल्दी-जल्दी ली हुई सांस आकर वार करे। चंपा की डाल पर बैठकर हम लोगों को देखकर कोयल और पपीहा आपस में झगड़ें।"

इसी प्रकार वह एक अन्य गीत में इसके लिए अपनी प्रेमिका से माफी मांग रहे हैं कि यदि गलती से प्रेम कर लिया तो उसके लिए माफी दी जाय। असहाय मन में प्रेम करने की इच्छा भला क्यों जगी ? वह कहते हैं—

भूल कोरे यदि भालोबेसे फेलि
क्षमियो से अपराध
असहाय मने कैनो जेगेछिलो
भालो बासिबार साध।
कतोजन आसे तव फुलवन
मलय भ्रमर चांदेर किरण
तेमति आमिओ आसि अकारण
अपरूप उन्माद।

अर्थात्—

तुम्हारे उद्यान में न मालूम कितने आते-जाते हैं,
मलयवायु, भौंरे, चांद की किरणें,
उसी प्रकार मैं भी अकारण आया हूं
एक अद्‌भुत पागल
तुम्हारे हृदयरूपी महाशून्य में सैकड़ों रवि, शशि, तारे जल रहे हैं।
उन्हींके बीच में एक धूमकेतु की तरह
भटक कर आया था।

इस समय भी बंगला के साहित्य-क्षेत्र में बहुत-से ऐसे कवि हैं, जो कवीन्द्र-रवीन्द्र के युग में ही विख्यात हो चुके थे। ऐसे कवियों में कालिदास राय, कुमुद मल्लिक, यतीन्द्र बागची आदि कई सुपरिचित कवि हैं। उनकी कविताएं बराबर प्रकाशित होती रहीं, पर वे कभी विशेष चमक नहीं पाये। यह फिर भी द्रष्टव्य है कि यद्यपि ये कवि बहुत-कुछ क्लासिक इस अर्थ में हो गये थे कि ये उन्हीं घिसे-पिटे हुए रास्तों पर चलते थे, फिर भी पिछले कुछ वर्षों में इनपर

आर्थिक, सामाजिक परिस्थितियों का इतना जबर्दस्त प्रभाव पड़ा कि वे नये युग के नये विषयों को अनभ्यस्त दृष्टिकोण से देखने पर मजबूर हुए। उदाहरणस्वरूप श्री कालिदास राय ने खंडित बंग पर कविता लिखते हुए अफसोस किया कि हे बंगमाता, अब तुम सुजला, सुफला, शस्यश्यामला नहीं रहीं, ऋषि बंकिमचन्द्र ने जिसे मातृभूमि करके अभिनन्दित किया था, अब तुम वह नहीं रहीं। आगे चलकर कालिदास राय कहते हैं—"हाय, तुम्हारे भाग्य में यह भी लिखा था कि अब तुम सीताराम राय, प्रताप चांद की माता नहीं रहीं !

यहां यह बता दिया जाय कि बंगाल के वहुत-से बड़े-बड़े व्यक्ति पूर्व बंगाल में पैदा हुए, उल्लिखित सीताराम राय आदि इसी प्रकार के व्यक्तित्वों में हैं। कालिदास राय इस कविता में इसपर भी अफसोस करते हैं कि जिस पद्मा के कारण कवीन्द्र रवीन्द्र कवि हुए, वह पद्मा नदी अब तुम्हारी नहीं रही। कालिदास राय इस प्रकार अपनी क्लासिक, बल्कि गतानुगतिक ऊंचाई से उतर-कर जनता के विषय को अपनाने पर भी उसमें मंज नहीं पाये और उसकी ऊपरी सतह को छूकर रह जाते हैं।

यतीन्द्र बागची का उल्लेख रवीन्द्रनाथ की परम्परा के प्रमुख कवि के रूप में किया गया है। यहां यह बता दिया जाय कि कोई भी कारण हो, रवीन्द्रनाथ की विशुद्ध परम्परा में कोई कवि-विशेष सफल नहीं हुआ। बताया गया है कि इसका कारण यह था कि रवीन्द्रनाथ ने जिन विषयों को छुआ, उन्हें उन्होंने स्वयं इतना दुह लिया कि उनमें कोई गुंजाइश ही नहीं बची, और उनमें कुछ करना नहीं रह गया। फिर भी यतीन्द्र बागची ऐसे कुछ कवियों ने एक हद तक सफलता प्राप्त की, और उन्होंने रवीन्द्र की तकनीक को इतनी अच्छी तरह अपनाया कि विशेषज्ञ के लिए भी उनकी रचनाओं को गुरु की रचनाओं से अलग करके पहचानना कठिन हो गया। यतीन्द्र बागची बराबर इसी ढर्रे पर चले, पर अब नये युग की पुकार पर सुभाषबाबू ऐसे विषयों पर कविता लिखने के लिए अनुप्रेरित हुए।

वह 'सुभाष उद्देशे' नामक कविता में उस समय की बात लिखते हैं, जिन दिनों यह विवाद शुरू हुआ था कि सुभाष जीवित हैं या नहीं। वह अपनी कविता में कहते हैं कि कोई कहता है—वह अभी जीवित हैं और किसी समय प्रक होकर देश के सारे दुःखों को पलक मारते ही दूर कर देंगे। कोई कहता है कि

वह तो शहीद हो गये। आगे कवि कहते हैं—

यहीं हैं हम साढ़े सोलह आने, यही हमारा देश
बातों से ही जीते हैं बातों से ही मरते हैं
बातें ही बातें हैं सारी
देशप्रेम का यही है स्वरूप, यही है रूप,
सुभाष की व्यथा इससे अधिक नहीं
बातों तक ही सीमित हैं हमारी परेशानियां।

इस प्रकार पुराने ढर्रे के एक अन्य कवि श्री कुमुदरंजन मल्लिक हैं। मैं एक बात यहांपर साफ कर दूं कि कवीन्द्र के व्यक्तित्व के कारण उनके समसामयिक बहुत-से कवि अपनी प्राप्य मर्यादा या सम्मान प्राप्त न कर सके। यदि रवीन्द्रनाथ बंगला में पैदा न होते तो कुमुदरंजन मल्लिक, कालिदास राय, यतीन्द्र बागची आदि ही कितने कवि बहुत अधिक सम्मानित होते और बंगाल के बाहर उनका नाम सुनाई पड़ता। पहले ही हम श्री द्विजेन्द्रलाल उर्फ डी० एल० राय का उल्लेख कर चुके हैं, जो बहुतों के अनुसार रवीन्द्रनाथ के अभाव में बंगाल के सबसे बड़े कवि माने जाते। अपने नाटकों के कारण वह हिन्दी-जगत् में सुपरिचित हैं। हम श्री सत्येन्द्र दत्त का भी उल्लेख कर चुके हैं, जो अरबी, फारसी, अंग्रेजी, चीनी, जापानी कविताओं के बंगला कविता में अनुवाद के क्षेत्र में इतना काम कर चुके हैं कि वह उसीके लिए अमर हो गये। इसके अतिरिक्त उनका मौलिक कार्य भी है। बंगला कविता का क्षेत्र यथेष्ट विशाल हो चुका है।

हां, तो कुमुदरंजन मल्लिक अपने क्षेत्र के एक अच्छे कवि माने गये हैं। वह भी इस नये युग में कमर सीधी रखकर चलनेवाली ग्रामवधू की ओर से दृष्टि हटाकर दूसरी बातों पर लिखने लगे हैं, फिर भी उनका इस तरह मोड़ बदलना बहुत आंशिक है।

इसके बाद हम उन कवियों पर आते हैं, जो सचमुच ही नये हैं। ये नये कवि अपनेको रवीन्द्रनाथ के विद्रोही घोषित करके सामने आये हैं, पर प्रश्न तो यह है कि क्या वे सम्पूर्ण रूप से रवीन्द्र-प्रभाव से मुक्त हो सके हैं? इसका उत्तर हां और ना दोनों में देना पड़ेगा। ये कवि रवीन्द्रनाथ के दर्शन, जीवन के प्रति दृष्टि-कोण से अक्सर सम्पूर्ण रूप से मुक्त हो चुके हैं, इनका आवेदन बहुत-कुछ जन-वादी है, फिर भी वे रवीन्द्र की जादूभरी भाषा और शैली से सम्पूर्ण रूप से

मुक्त नहीं हो सके। इस भूमिका के बाद अतिआधुनिक कवियों के सम्बन्ध में कुछ बताया जाता है। इस संक्षिप्त आलोचना में बहुत-से महत्वपूर्ण कवि छूट जायंगे, पर जहांतक हो सकेगा, सब धाराओं के प्रति न्याय करने चेष्टा की जायगी।

रवीन्द्रोत्तर युग पर आते हुए स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उठता है कि क्या रवीन्द्रनाथ के जीवन-काल के अन्तिम दिनों के तथा रवीन्द्रोत्तर युग के कवि कवीन्द्र रवीन्द्र के प्रभाव से मुक्त हो चुके हैं? इसका उत्तर एक वाक्य में देना सम्भव नहीं है। हमने पहले ही बताया कि जिस समय कवीन्द्र रवीन्द्र बंगला के साहित्याकाश में पूरी प्रतिभा के साथ चमक रहे थे, और ऐसे वह अन्त तक चमके, उस समय भी अच्छे-अच्छे कवि अपने लिये स्वतन्त्र दिशाओं में क्षेत्र का निर्माण कर रहे थे। ऐसा न समझा जाय कि इस प्रभाव-मुक्ति का आन्दोलन सम्पूर्ण रूप से सज्ञानकृत था, या उसमें और कोई प्रभाव काम कर रहा था। चाहे रवीन्द्रनाथ के जीवनकाल में हो या उनकी मृत्यु के बाद हो, किसी भी बंगला कवि के सम्बन्ध में यह कहना सम्भव नहीं है कि वह सम्पूर्ण रूप से रवीन्द्रनाथ के प्रभाव से मुक्त हो गया है, यहांतक कि जिन लोगों ने इस बात को अच्छी तरह से समझ लिया कि किसी भी हालत में कविता की नदी को उस जमीन पर बहाना नहीं है, जिसपर रवीन्द्रनाथ ने बहाया, वे भी उनके दर्शन से सम्पूर्ण रूप से मुक्त रहते हुए भी उनकी जादूभरी भाषा और शैली से पूर्ण मुक्ति नहीं प्राप्त कर सके। ऐसा कहना सही नहीं होगा कि कोई भी बंगला-लेखक या कवि सम्पूर्ण रूप से रवीन्द्र-प्रभाव से मुक्त हो गया।

फिर भी यह तथ्य भी उतनी ही दृढ़ता के साथ मानना पड़ेगा कि बराबर उनसे मुक्ति का प्रयास हुआ और अतिआधुनिक कवियों के क्षेत्र में यह मानना ही पड़ेगा कि वे केवल परोक्ष रूप से ही रवीन्द्र-प्रभाव से प्रभावित माने जा सकते हैं।

हम पहले ही बता चुके हैं कि अतिआधुनिक कवियों के सम्बन्ध में कुछ ब्यौरे-वार तरीके से कहना सम्भव नहीं है। जीवनानन्द दास को अतिआधुनिक कवि कहा जा सकता है। उनके सम्बन्ध में यह कहा गया है कि उनकी कविता कुछ धुंधली होती है। क्या यह धुंधलापन आधुनिकता का कोई अनिवार्य गुण है? नहीं, ऐसा तो नहीं मालूम होता, क्योंकि कई अतिआधुनिक कवि ऐसे हैं, जिनकी

बातें बहुत अच्छी तरह समझ में आती हैं, पर जीवनानन्द दास की भाषा बड़ी प्रखर और तेजस्वी ज्ञात होने पर भी, ऐसा मालूम होता है कि कवि जो कुछ कह रहा है, उसकी सारी बातें हमारे पल्ले नहीं पड़ रही हैं । ऐसा मालूम होता है कि जब हम धुंधलेपन से ऊबने से लगते है, तब दो-एक पंक्तियां ऐसी आ जाती हैं जो हमारी समझ में आ जाती हैं, पर फिर वही बात होती है । श्री बुद्धदेव वसु का कहना है कि जीवनानन्द इतने जिद्दी तरीके से अपने-आपमें समाये हुए हैं कि वे परम्परा के स्वदेश को त्यागकर एक ऐसे किन्नरों के देश को अपनाते हैं जिसमें वे ही वे हैं । उनकी दुनिया उलझी हुई छायाओं तथा टेढ़े-मेढ़े जलाशयों चूहा, उल्लू, चमगादड़, चांदनी छिटके हुए जंगलों में फुदकते हुए हिरणों, प्रभात तथा अन्धकार, बर्फ की तरह ठण्डी मत्स्य कन्याओं और महान् मीठे समुद्र की दुनिया है । जीवनानन्द प्रकृति को किस रूप में लेते हैं, इस सम्बन्ध में श्री बुद्धदेव वसु कहते हैं—"एक अर्थ में सभी कवि प्रकृति के कवि होते हैं, पर जीवनानन्द एक विशेष अर्थ में ही ऐसे हैं । वह प्रकृति में, भौतिक प्रकृति में, और उसके कुछ विशेष पहलुओं में डूबे हुए हैं । वह प्रकृति-पूजक हैं, पर किसी भी अर्थ में अफलातूनवादी या वेदान्ती नहीं हैं, बल्कि वह प्राक्सभ्यता के युग के एक ऐसे व्यक्ति हैं, जो प्रकृति की वस्तुओं से इन्द्रियों की सतह पर प्रेम रखते हैं और ऐसा वह पूर्णता के चिह्न प्रतीक या नमूने के रूप में नहीं करते, बल्कि वह उनसे जो वह हैं, उसी होने के लिए प्रेम करते हैं । वे केवल देखने से सन्तुष्ट न रहकर प्रकृति को स्पर्श और गन्ध की उलझी हुई जंगली वृत्तियों के माध्यम से प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं । उन्हें चिड़ियों के परों की गन्ध से तथा जिस पानी में चावल अभी धोया गया है, उससे प्रेम है, और वह चाहते हैं कि वह किसी महान् श्यामल तृणमाता के गहरे मीठे गर्भ से घास के रूप में उत्पन्न होते । उन्हें अब यहांतक कि किंभूतकिमाकार वस्तु से प्रेम है, पर वह जिस वातावरण को उत्पन्न करते हैं वह किसी प्रकार अपार्थिव नहीं है, और न उससे किसी प्रकार भय उत्पन्न होता है ।" फिर भी श्री वसु यह मानते हैं कि वह बंगला कविता के लिए बहुत महत्वपूर्ण इसलिए हैं कि उन्होंने बंगाल की जनता को एक नये सुर बल्कि स्वर-लहरी का अभ्यस्त कर दिया है। वह शायद अपनी कविता में, पढ़े-लिखे पर अपनी नाव अपने-आप खेने में असमर्थ बहुत-से आदर्शों की हवा में कभी इधर बहते

हुए कभी उधर बहते हुए, बंगाली मध्यवित्त वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं। उन्होंने अक्सर प्रेम-सम्बन्धी कविताएं भी लिखी हैं। एक कविता का अंश यों है—

जनान्तिके
तोमा के देखार मत चोख नेइ—तबु
गभीर विस्मये आमि टेर पाइ—तुमि
आजो एइ पृथिवीते 'रये गेछ,
कोथाओ सान्त्वना नेइ पृथिवीते आज,
बहुदिन थेके शान्ति नेइ।
नीड़ नेइ
पाखिर मतन कोनो हृदयेर तरे।
पाखि नेइ।
मानुषेर हृदयके न जागाले ताके
मोर, पाखि, अथवा वसन्तकाल बोले
आज तार मानवके कि करे चेनाते पारे केउ।
चारिदिके अगणन मेशिन ओ मेशिनेर देवतार काछे
निजेके स्वाधीन बोले मने करे निते गिये तबु
मानुष एखनओ विशृंखल।
दिनेर आलोर दिके ताकालेइ देखा जाय लोक
केवलि आहत हये मृत हये स्तब्ध हय
ए छाड़ा निर्मल कोनो जननीति नेइ
ये मानुष—से जेइ देश टिके थाके सेइ
व्यक्ति हय—राज्य गढ़े-साम्राज्येर मत कोनो भूमा
चाय। व्यक्तिर दाविते ताइ साम्राज्य केवलि भेंगे गिये
तारइ पिपासाय
गड़े ओठे
ए छाड़ा अमल कोनो राजनीति पेते हले तबे
उज्ज्वल समय स्रोते चले जेते हय।
सेइ स्रोत आजो एइ शताब्दीर तरे नय।

सकलेर तरे नय।
पंगपालेर मत मानुषेरा चरे
झरे पड़े।

अर्थात्—

तुमको देखने योग्य आंख नहीं है, फिर भी
अत्यन्त गहरे विस्मय से मुझे ज्ञात होता है कि तुम
आज भी इस पृथ्वी पर रह गये हो।
आज पृथ्वी में कहीं भी सान्त्वना नहीं है,
बहुत दिनों से शान्ति नहीं है
नीड़ नहीं है चिड़िया की तरह किसी हृदय के लिए,
चिड़िया नहीं है।
मनुष्य के हृदय को न जगाने पर उसे
सवेरा, चिड़िया या वसन्तकाल कहकर
आज उसके मानव को कैसे कौन परिचित करवा सकता है।
चारों ओर
अनगिनत मशीन और मशीनों के देवताओं के निकट
अपनेको स्वतन्त्र करके
समझने पर भी
मनुष्य है अब भी विशृंखल।
दिन की रोशनी की तरफ ताकने
पर ही देखा जाता है कि लोग
बराबर आहत होकर, मृत होकर, स्तब्ध हो जाते हैं,
इसके अलावा नहीं है निर्मल कोई जननीति।
जो मनुष्य और जो देश टिक जाते हैं,
वे ही क्रमशः व्यक्ति बनते हैं और राज्य बन जाते हैं,
साम्राज्य की तरह
किसी भूमा को
चाहते हैं।
इसीलिए व्यक्ति के दावे के कारण साम्राज्य टूटकर

फिर उसीकी पिपासा से
निर्मित हो जाते हैं।
इसके अतिरिक्त कोई निर्मल राजनीति पाना हो तो
उज्ज्वल समय स्रोत में चला जाना पड़ता है।
वह स्रोत आज भी इस शताब्दी के लिए नहीं है,
सबके लिये नहीं है।
टिड्डी दल की तरह मनुष्य चरते हैं,
फिर झर पड़ते हैं।

यह स्पष्ट है कि इस कविता में, जैसा कि बताया जा चुका है, बड़ी-बड़ी भावनाएं झांकी-सी लेते रहने पर भी किसी स्थान पर सुगठित होकर स्पष्टता के साथ आगे नहीं आ पाती। इसमें पहले वे चारों तरफ फैली हुई विश्रृंखलता का इंगित करते हैं, कुछ मशीन और मशीन के देवताओं के विषय में इस प्रकार की बात कहते हैं कि मनुष्य अपनेको स्वतन्त्र समझने पर भी अब भी विश्रृंखल है। फिर वह कहते है कि कोई निर्मल जननीति नहीं है। जो मनुष्य और जो देश टिक जाते है, वे ही क्रमशः व्यक्ति बनते हैं और राज्य बन जाते हैं। फिर कहते हैं कि व्यक्ति के दावे के कारण साम्राज्य टूटकर फिर उसीकी पिपासा से निर्मित हो जाते है। अब यह कहा जाय कि कुछ भी समझ में नहीं आता तो ऐसी बात नही, पर क्या समझ में आता है, इसे कहना टेढ़ी खीर है।

जीवनानन्द प्रेम के भी कवि है। उनकी कविता 'वनलता सेन' पढ़े-लिखे लोगों में उतनी ही प्रसिद्ध हो चुकी है, जितनी कि कोई कविता हो सकती है। हिन्दी में भी कई बार इसका अनुवाद आ चुका है। इस कारण मै यहांपर 'आकाश लीना' नामक एक कविता प्रस्तुत करूंगा। उसके पहले यह बता दिया जाय कि जीवनानन्द दास उस धारा के प्रतीक है, जिसे हिन्दी में नई कविता कहते है और जिसके सम्बन्ध में हिन्दी में अभी तक बहुत तर्क-वितर्क जारी है। बंगला में यह कथित नई कविता इस प्रकार से रंगमंच पर आई कि किसीको अखरी नहीं। स्वयं रवीन्द्रनाथ ने उसका आवाहान किया था। बंगला में नई कविता-वालों ने यह दावा भी नहीं किया कि वह पुरानी कविता को समाप्त करने के लिए उदित हुई है।

जो हो, 'आकाशलीना' इस प्रकार है—

सुरंजना, वहां पर तुम मत जाओ,
उस युवक के साथ बतकही न करो,
लौट जाओ हे सुरंजना,
नक्षत्र की रुपहली भरी रात में
लौट आओ इस मैदान में, तरंगों में,
लौट आओ मेरे हृदय में।
दूर से दूर—और दूर
युवक के साथ तुम और न जाओ।
उसके साथ कैसी बातें? उसके साथ?
आकाश की आड़ में, आकाश में,
मिट्टी की तरह हो तुम आज
उसका प्रेम घास होकर उगता है।
सुरंजना,
तुम्हारा हृदय आज घास है,
बतास के ऊपर बतास
औ' आकाश के उस पार आकाश है।

दूसरी कविता 'आरूढ़ भणिता' है, जिसमें कवि ने, मालूम होता है, अरसिक आलोचकों की खबर ली है। वह इस प्रकार है।

मैंने मलिन हँसी हँसकर कहा,
"तो बल्कि आप ही एक कविता क्यों न लिख डालें।"
पर छायापिंड ने कोई उत्तर नहीं दिया।
समझ गया कि वह कवि तो नहीं,
सिर पर चढ़ाई हुई बतकही मात्र है।
पांडुलिपि, भाष्य, टीका, स्याही और कलम पर
बैठा है वह सिंहासन में।
वह कवि नहीं, वह अजर अक्षर अध्यापक है,
उसके दांत नहीं हैं, उसकी आंखों में अक्षय कीचड़ है,
पगार हजार रुपये महीना है,

अौर डेढ़ एक हज़ार वह मरे हुए कवियों का
गोश्त अौर उसके कीड़ों को खोटकर बना लेता है।
यद्यपि उन सब कवियों की भख ने
प्रेम-अग्नि की सेंक चाही थी,
पर मुंह बाए घड़ियाल की तरंगों में
वे लोट-पोट हुए थे।

रात्रि को कवि जिस रूप में देखते हैं, उसका कुछ वर्णन इस प्रकार है—

सार्वजनिक नलके को खोलकर
कोढ़ी चाट लेता है पानी।
या वह नलका फंस गया था।[1]
अब दोपहर सुप्त नगरी पर
गिरोह बांध कर छा जाता है।
एक मोटरकार भेड़ की तरह खांस गई
अस्थिर पेट्रोल झाड़ कर,
निरन्तर सतर्क रहने पर भी कोई शायद
भयानक रूप से पानी में गिर पड़ा है।
तीन रिक्शे दौड़कर मिल गए अन्तिम
गैस बत्ती में, मायावी की तरह जादू से।
मैं भी फियरलेन छोड़कर हठवश
मील पर मील चलकर, दीवार से सटकर
जा पहुंचा बेंटिक स्ट्रीट में, टेरिटी बाजार में
मूंगफली की तरह सूखी बतास में।
अलसाई हुई रोशनी की गर्मी कपोल को
चूमती है
चीड़ बक्स की लकड़ी, लाख, टाट, चमड़े की बू
डायनेमो की गूंज के साथ मिलकर
धनुष की डोरी को तान रखते हैं।

अपने सम्बन्ध में कवि एक कविता में कहते हैं—

हे नर, हे नारी !
मैंने तुम्हारी धरती को किसी दिन
पहचाना नहीं,
फिर भी मैं किसी दूसरे नक्षत्र का जीव नहीं हूं ।
जहां स्पन्दन, संघर्ष, गति, उद्यम, चिन्ता, कार्य,
वहीं सूर्य, धरती, वृहस्पति, कालपुरुष, अनन्त आकाश,
ग्रन्थियां,
सैकड़ों सुअरों का चीत्कार वहां है,
सैकड़ों सुअरियों की प्रसव-वेदना का आडम्बर है,
यह सब भयानक आरती है ।
गंभार अन्धकार की नींद के जायके में
मेरी आत्मा का लालन हुआ है,
मुझे भला जगाना क्यों चाहते हो ?
हे समय ग्रन्थि, हे सूर्य, हे माघनिशीथ की कोयल,
हे स्मृति, हे हिमवायु, मुझे भला क्यों जगाना चाहती हो ?

अन्त में वह कहते है कि मैं किसी दिन नहीं जागूंगा । इस कविता से आधुनिक मध्यवित्त वर्ग के मन की कुछ थाह मिलती है या यह कहा जाय कि उसमें व्याप्त गड़बड़ियों और विभ्रमों का पता लगता है और थाह मिलने की रही-सही आशा दूर हो जाती है ?

जीवनानन्द दास इस युग में फैली हुई उद्भ्रान्तता तथा गुमराही का अच्छा चित्रण करते हैं। यदि वह इसमें से कोई रोशनी की रेखा नही निकाल पाते तो उसके लिए उन्हें दोष देना व्यर्थ है । वह क्रान्ति के कवि नहीं है । उनकी कविता में क्रान्ति का बिगुल नहीं सुनाई देता । फिर भी उसे महत्व प्राप्त है, क्योंकि वह एक मुकुर है, जिसमें हम आधुनिक युग के भारतीय पढ़े-लिखे वर्ग के हृदय-स्पंदन को अच्छी तरह प्रतिफलित देखते हैं । यह हृदय क्लान्त है, इसे पथ का कोई पता नहीं है, पर सौन्दर्य के प्रति इसकी आखें खुली हुई हैं। उसे प्रकृति से प्यार है। यह इतना विदग्ध है कि जब किसी वस्तु को प्रत्यक्ष करता है तो वह उसके साथ-साथ बहुत-सी और वस्तुओं को भी देखता है । वह कभी किसी वस्तु को बिना कविता के नहीं देख पाता, फिर भी वह भ्रान्त और उद्भ्रान्त है ।

जीवनानन्द इसी उद्भ्रान्ति और सौन्दर्य-बोध के प्रतीक हैं।

अब हम इस युग के दूसरे कवि सुभाष मुखोपाध्याय को लेते हैं, जो खुलकर यह कहते हैं कि वह किसान और मजदूरों के कवि हैं। उनकी कविता की वक्तव्य-वस्तु जीवनानन्द दास की तरह अस्पष्ट नहीं है, पर इसीको बहुत-से लोगों ने दोष बताया है। सुप्रसिद्ध आलोचक श्री बुद्धदेव वसु का यह कहना है कि सुभाष तो कविताओं में व्याख्यान-से देते दृष्टिगोचर होते हैं, और वह कविता के क्षेत्र से उतरकर भर्त्सनाएं देने, तरह-तरह के मुंह बनाने और सन्देश देने में पड़ गये हैं। उनकी एक छोटी-सी कविता इस प्रकार है—

केजाये ?
आमरा।
आमरा गांगेर
आमरा शहरेर
हाड़काली मनुषा
चलेछि मिछिले।
हाते कि ?
निशान।
कोथाय जाओ ?
दमन राजार
दरबारे
थामो।
ना।
वाधा दिलेंओ—
ना।
संगीन बिंधलेओ
ना।
रास्ता दाओ।
आमादेर जेतइ हबे
मिछिले।

अर्थात्—

कौन जा रहा है ?
हम ।
हम गांव के हैं,
हम शहर के हैं
काली हड्डी वाले मनुष्य ।
हम जलूस में चल रहे हैं ।
हाथ में क्या है ?
झण्डा ।
कहां जा रहे हो ?
दमन राजा के दरबार में।
रुको ।
नहीं ।
बाधा देने पर भी...।
नहीं ।
संगीन से छिदने पर भी...।
नहीं ।
रास्ता छोड़ दो
हम लोगों को जाना ही है
जलूस में ।

ऊपर जो कविता दी गई है, वह साम्यवादियों के बंगला दैनिक 'स्वाधीनता' में छपी थी, इसलिए स्वाभाविक रूप से उसमें प्रचार का अंश अधिक है। पर यह न समझा जाय कि सुभाष मुखोपाध्याय की सभी कविताएं ऐसी हैं । सुभाष अपने पूर्ववर्ती दशक के कवि प्रेमेन्द्र मित्र से बहुत-कुछ मिलते हैं, पर जैसा कि कहा गया है, प्रेमेन्द्र मित्र ने भी यद्यपि अपना जीवन यह कहकर शुरू किया कि वह कुलियों और दलितों के कवि हैं, फिर भी बाद को वह उससे हट गए, पर कम-से-कम वही उनका एकमात्र रूप नहीं रहा, पर सुभाष ने जो बाना पहन लिया, वह उसी को निभाते रहे ।

सुभाष मुखोपाध्याय न केवल अपनी धारा के एक विशिष्ट कवि हुए, बल्कि वह एक हद तक, समरसेन के साथ इस धारा के अग्रणी माने गये । सुप्रसिद्ध

आलोचक अबूसईद अयूब ने अपनी आधुनिक बंगला कविता-सम्बन्धी पुस्तक में यह कहा था कि समरसेन और सुभाष मुखोपाध्याय में प्रचुर सम्भावनाएं हैं, पर बाद को दूसरे समालोचकों ने उनमें उन सम्भावनाओं को फलते-फूलते नहीं देखा। यहांपर चलते हुए यह बता दिया जाय कि समरसेन उन कवियों में से हैं, जिन्होंने केवल गद्य-काव्य के ढंग की चीजें लिखी हैं। उनकी कविताएं गद्य-काव्य के रूप में होने पर भी गीतधर्मी हैं, कम-से-कम यही आभास मिलता है। श्री बुद्धदेव वसु का यह विचार है कि उनकी कविताएं एक ऐसी बाला की तरह हैं, जो हिलने-डुलने में बल खाती है, साथ ही बड़ी चुस्त है। पहले सुभाष राजनीति से सम्बद्ध नहीं थे, पर बाद को वह राजनैतिक कविताएं लिखने लगे।

सुभाष के सम्बन्ध में बल्कि यह भी कहा गया कि जिन लोगों ने साम्यवादी ढंग की कविताएं लिखी, वे भी सुभाष मुखोपाध्याय द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर नहीं चले। जहां सुभाष मुखोपाध्याय में प्रचलित समाज-व्यवस्था के सम्बन्ध में सन्देह और व्यंग का वातावरण है और जहां उनकी कविता में केवल कोड़े लगाने की प्रवृत्ति अधिक पाई जाती है, वहां इसी प्रकार के दूसरे कवियों में वर्तमान को बदल डालने के लिए अधिक-से-अधिक आग्रह के साथ जीवन के प्रति गहरी श्रद्धा और मनुष्य के प्रति प्रेम की भावना अधिक है। यह कहा जा सकता है कि बंगला कविता ने निपट राजनैतिक मार्ग को छोड़कर जीवन की समस्याओं को, जिसमें राजनीति भी आ जाती है, एक ऊंची सतह पर अपनाकर अपने लिए अच्छा ही किया। श्री अबूसईद अयूब ने यह जो लिखा था कि आधुनिक बंगला कविता से रोमांन्टिक भावधारा लुप्त होती जा रही है, वह बात सत्य प्रमाणित नहीं हुई। सच्ची बात यह है कि रोमांटिकता ने एक क्रान्तिकारी दिशा अपनाई, या यों कह लीजिये कि क्रान्तिकारी भावनाओं ने रोमांटिकता का बाना पहन लिया, जिससे शायद दोनों को फायदा हुआ।

फिर भी, कहीं ऊपर सुभाष मुखोपाध्याय की जो कविता दी गई है, उससे यह भावना किसीके मन में न बैठ जाय कि प्रगतिवादी कवियों ने केवल प्रचार-कार्य को ही अपनाया। यह सही है कि राजनीति प्रगतिशील कवियों की एक प्रधान उपजीव्य रही; यह तो स्वाभाविक था, क्योंकि आज सभी क्षेत्रों की अन्तिम लड़ाइयां राजनीति में लड़ी जाती हैं, और उसमें जैसा निर्णय होता है, उसीके अनुसार कला, साहित्य, संगीत, सबका भाग्य-निर्णय एक बड़ी हद तक

होता है। विमलचन्द्र घोष ऐसे अन्यथा शक्तिशाली कवि की 'बाजपाखी' या बाज़ पक्षी नाम के कविता के कुछ अंश का अनुवाद प्रस्तुत करेंगे। इसमें प्रचार-कार्य है, अमरीका के विरुद्ध विद्वेष है, शायद इस कारण कुछ लोगों को यह पसन्द न आवे, पर साथ-ही-साथ यह मानना पड़ेगा कि इसमें कविता के उपादान भी हैं। मैं केवल थोड़े-से अंश का ही अनुवाद दूंगा।

अब्राहम लिंकन के हृदपिण्ड को चोंच में दबाकर
विश्व लोभी बाज़ उड़ता है।
वह धूसर पीला मृत्युदूत है,
उसके गिद्ध ऐसे टेढ़े नाखूनों में गणतन्त्र खून के आंसू रो रहा है।
मूर्त अमंगल कुटिल बर्बर पक्षी उड़ता है
निग्रोघाती दम्भासुर, सभ्यता का यम
शिशु रक्त से सिक्त ओठों को लेकर
यह बाज़ कोरिया में उड़ता है
मंचूरिया, फारमोसा में—
पड़ती है उसकी अशुभ पीली छाया
वह घृणित बाज़ यह जानता है
कि पतन तो होकर रहेगा।

—इत्यादि।

इस प्रकार से यह कविता चलती जाती है। यह न समझा जाय कि इसके कवि श्री विमलचन्द्र घोष ने केवल इसी प्रकार की कविताएं लिखी हैं। 'सावित्री' नाम से उनका एक काव्य प्रकाशित हुआ है, जिसमें वे 'तिलोत्तमा' नामक सर्ग में यों लिखते हैं—

सहस्र कर्मों के बीच में स्मृति के एकांत दर्पण में
बार-बार वह मुखड़ा लरजता रहता है
देव-दैत्य-विजयिनी उस तन्वी की ऋजुता,
दोनों आंखों में बिजली का उज्ज्वल भौंरा,
उसकी कुन्तल-नागिनी याद पड़ती है।
वासना के दुखी लोक में यौवन पहरेदार है,
काव्य लोक मेघाच्छन्न है।

हे मेरी बन्दिनी नायिका, दुर्गम स्वप्न के दुर्ग में
अतनु तुमको आज भी वह परिक्रमा कर रहा है।
सारी रात स्मृति की शिखा से दीप जलाकर
विह्वल आत्मा में
प्रेम की कविता लिखता हूं,
तिल-तिल करके शोणित के स्वाप्निक अक्षरों में।
अयि तिलोत्तमा,
आज भी तुम हृदय के अस्फुट भाषण में अपलक हो।

श्री विमल घोष की दोनों कविताओं की विषय-वस्तु की तुलना करने पर यह ज्ञात होगा कि हमने यह क्यों कहा कि यद्यपि बाज़ पक्षीवाली कविता एक विशेष उद्देश्य को लेकर लिखी गई, फिर भी उसमें कविता की छाप निस्संदेह है।

अब मैं एक ऐसे कवि सुकान्त भट्टाचार्य पर आता हूं, जो बहुत थोड़े साल तक ही जीवित रहे, पर बंगला-साहित्य पर अपनी छाप छोड़ गये। उनकी कवित्व-शक्ति उतनी ही निःसंदिग्ध है, जितनी कि उनकी प्रगतिशीलता। वह किसी बात को लट्ठमार तरीके से कहने के आदी नहीं, पर इसके कारण उनकी वक्तव्य-वस्तु न तो किसी दूसरे के मुकाबले कम स्पष्ट है और न उसमें कोई गोलमोल बातें ही हैं। वह ऊंची सतह से अपने रावण या कंस पर हमला करते हैं, पर इसके लिए उनका आक्रमण न तो व्यर्थ जाता है, और न उसकी प्रखरता में ही कोई कमी आती है। स्वयं सुभाष मुखोपाध्याय ने सुकान्त भट्टाचार्य की कविताओं के प्रथम संग्रह की भूमिका लिखते हुए यह स्वीकार किया था, "सुकान्त नये युग के सार्थक कवि हैं। साधारण मनुष्य के साथ ऐसी एकात्मकता, सरल बात को सीधे-सीधे कह सकने की दुःसाहसी सामर्थ्य सुकान्त के समसामयिक और किसी कवि में दृष्टिगोचर हुई या नहीं, इसमें सन्देह है। उम्र में सबसे छोटे होने पर भी सुकान्त कवित्व-शक्ति में अग्रगण्यों में से एक थे। स्कूल में छात्र रहते समय सारे देश में इतनी विराट् ख्याति बंगला के किसी और कवि को नसीब नहीं हुई। उसी उम्र में सुकान्त की एक से अधिक कविताओं का अनुवाद विदेश में हुआ और उसकी कविता पर आलोचना भी हुई। जो लोग सुकान्त की कविता पढ़ेंगे, वे इस बात को स्वीकार करने के लिए मजबूर

होंगे कि सुकान्त की कविता न केवल विराट् सम्भावनाओं के इंगित स्वरूप है, बल्कि उसमें महान् परिणति की स्पष्ट ध्वनि है। इसीलिए उनकी 'छाड़पत्र' नामक कविता को बंगला-साहित्य में स्थायी आसन प्राप्त हो गया। कविता के विचित्र कला-कौशल में, छन्द की आश्चर्य-दक्षता में, शब्द-निर्वाचन की अशेष निपुणता में इस किशोर कवि ने राजनैतिक विरोधियों को भी अभिभूत कर दिया, पर ऊपरी तामझाम के मोह में सुकान्त कवि बंधे ही नहीं।"

छाड़पत्र

ये शिशु भूमिष्ठ होलो आज रात्रे
तार मुखे खबर पेलुम :
से पेयेछे छाड़पत्र एक,
नतुन बिश्वेर द्वारे ताइ व्यक्त करे अधिकार
जन्ममात्र सुतीव्र चित्कारे।
खर्वदेह निःसहाय, तबु तार मुष्टिबद्ध हात
उत्तोलित, उद्‌भासित
की एक दुर्बोध्य प्रतिज्ञाय।
से भाषा बोझे ना केउ,
केउ हासे, केउ करे मृदु तिरस्कार।
आमि किन्तु मने मने बुझेछि से भाषा
पेयेछि नतुन चिठि आसन्न युगेर—
परिचय-पत्र पढ़ि भूमिष्ठ शिशुर
अस्पष्ट कुयाशाभरा चोखे।
एसेछे नतुन शिशु, ताके छेड़े दिते हबे स्थान :
जीर्ण पृथिवीते व्यर्थ, मृत आर ध्वंसस्तूप-पिठे
चले जेते हबे आमादेर।
चले यावो—तबु आज यतक्षण देहे आछे प्राण
प्राणपणे पृथिवीर सराबो जंजाल,
ए विश्वके ए शिशुर वासयोग्य करे यावो आमि—
नवजातकेर काछे ए आमार दृढ़ अंगीकार।

अवशेषे सब काज सेरे
आमार देहेर रक्ते नतुन शिशुके
करे याबो आशीर्वाद,
तारपर हबो इतिहास ।।
अर्थात्—
आज रात में जो बच्चा भूमिष्ठ हुआ,
उसके मुंह से यह खबर मिली कि
उसे एक पासपोर्ट मिला,
इस कारण नये विश्व के द्वार में वह सुतीव्र कोलाहल से
अपने अधिकार को जन्म पाते ही जताता है ।
नन्हा-सा शरीर है, फिर भी मुट्ठी बंधी हुई है,
उत्तोलित और उद्भासित है
एक दुर्बोध्य प्रतिज्ञा में ।
उस भाषा को कोई नहीं समझता,
कोई हँसता है, कोई मृदु तिरस्कार करता है ।
पर मैंने मन-ही-मन उस भाषा को समझ लिया है,
मैंने आसन्न युग की नई चिट्ठी पा ली है ।
मैंने भूमिष्ठ शिशु की अस्पष्ट कोहराभरी आंखों में
उसका परिचयपत्र पढ़ लिया है ।
नया शिशु आया है, उसके लिए स्थान छोड़ देना पड़ेगा ।
इस जीर्ण पृथ्वी पर से व्यर्थ, मृत और खंडहरों को पीठ पर
बांधकर
हमें चल देना पड़ेगा
तो चला जाऊंगा, पर जबतक देह में प्राण हैं,
भरसक पृथ्वी के कूड़े को दूर करूंगा,
इस नवजात शिशु के निकट यह है मेरी दृढ़ प्रतिज्ञा कि
इस विश्व को हम इस शिशु के रहने लायक बना जायंगे ।
अन्त में सब काम समाप्त कर
अपनी देह के रक्त से नये

शिशु को आशीर्वाद दे जाऊंगा,
इसके बाद इतिहास हो जाऊंगा।

आधुनिक कवियों में विष्णु दे भी महत्वपूर्ण हैं। उनपर एज़रा पाउण्ड और टी० एस० इलियट का प्रभाव पड़ा है। विष्णु दे के सम्बन्ध में श्रीअमलेन्दु दास गुप्त का यह कहना है कि उनके प्रयोग बहुत साहसपूर्ण हुए हैं, पर उनके प्रारम्भिक प्रयासों में शायद गहरी अभिज्ञता की कमी थी और इसके फलस्वरूप शिल्पगत उच्चता के बावजूद उनमें हृदय को आन्दोलित करने की शक्ति अक्सर नहीं आती। यत्र-तत्र असंदिग्ध सौन्दर्य के टुकड़े, सूक्ष्म शहरी व्यंग की पंक्तियां तथा अनिश्चित भावनात्मक शक्ति है, पर कुल मिलाकर इन कविताओं से यह छाप उत्पन्न नहीं होती कि उनके पीछे एक संगठित चेतना है, कई अवसर पर तो ऐसा मालूम होता है कि उनकी एकमात्र बड़ाई इस बात में है कि शिल्प की दृष्टि से वह बहुत काफी आगे बढ़ी हुई है। उनकी सफल कविताओं में भी सब ऐसा पाया जाता है, मानो उनकी विचार-प्रवृत्तियों में जान-बूझकर कड़ियों को क्रम से नहीं रक्खा गया है। अवश्य ही दास गुप्त यह भी मानते हैं कि कवि ने जनता के सामाजिक तथा राजनैतिक शोषण के विरुद्ध आवाज़ उठाई है। विष्णु दे को कुल मिलाकर एक प्रगतिशील कवि माना जाता है।

एक अन्य कवि श्री अमिय चक्रवर्ती का सम्बन्ध श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर से बहुत अधिक था, फिर भी वे केवल अनुकरणकारी नहीं रहे हैं। अमिय चक्रवर्ती ने सारी दुनिया का बार-बार पर्यटन किया है। इस भ्रमण की छाप उनकी कविता पर पड़ी है। एक मज़े की बात यह है कि रवीन्द्रनाथ ने अपनी भ्रमण-कहानियों के अतिरिक्त अपने भ्रमण का ज़िक्र बहुत कम किया है, कविता में तो वह कभी बंगाल के बाहर के वातावरण में शायद ही जाते हों, पर श्री चक्रवर्ती की बात और है। उन्होंने बराबर बाहर से अनुप्रेरणा ली है और उनकी कविताओं में हमें अजीब देशों, चेहरों तथा भाषाओं से साबका पड़ता है। यदि अन्तर्गत वस्तु की दृष्टि से देखा जाय तो रवीन्द्रनाथ की कविता में विश्ववासी के लिए सर्वत्र आवेदन होते हुए भी उनका पहिनावा भारतीय और बंगाली है, पर श्री चक्रवर्ती एक बंगाली मन रखते हुए भी उनके मन के लेन्स का मुंह बहुत अधिक बंगाल के बाहर के लोगों, दृश्यों आदि की ओर निबद्ध है। इस अर्थ में वह रवीन्द्रनाथ

से अलग ढंग का विश्व-आवेदन रखते हैं।

श्री सुधीन्द्रदत्त भी एक प्रमुख कवि माने जा सकते हैं। रवीन्द्रनाथ के जीवन-काल में ही वह विख्यात हो चले थे और रवीन्द्रनाथ ने उनकी प्रशंसा में कुछ लिखा भी था। सुधीन्द्र कवीन्द्र से बहुत-कुछ लेते हैं, फिर भी उनकी प्रकृति बिल्कुल उन्हींकी अपनी है। सुधीन्द्र ने बराबर यह माना कि वह रवीन्द्र-साहित्य के ऋणी हैं, और जैसा कि कवीन्द्र ने उनकी प्रशस्ति करते हुए कहा था, उनका यह साहस शक्ति से उत्पन्न है। जिसमें शक्ति होती है, वही बिना किसी प्रकार के लगाव-छिपाव के अपने ऋण को मान लेता है। सुधीन्द्र कुछ अधिक उम्र में काव्य-क्षेत्र में आये और यह कहा जा सकता है कि इससे उनको कोई हानि नहीं हुई क्योंकि यौवन के साथ जिस जोश का सम्बन्ध बताया जाता है, उनकी रचनाओं में उस जोश की कोई कमी नहीं थी। फिर भी यह मानना ही पड़ेगा कि सुधीन्द्र की कविताएं गत दशक की उतनी नहीं हैं, जितनी कि पहले दशकों से उनका सम्बन्ध है।

इधर कुछ और भी शक्तिशाली कवि हुए हैं, जिनकी कविताओं का एकाध नमूना ही देखकर हमें सन्तोष करना पड़ेगा। नये कवियों में पलायनवादी किस्म की कविताएं लिखने का भी रिवाज है, जैसे लीजिये अरुणकुमार सरकार की 'नींद' नामक कविता, जिसमें वह रूखे वर्तमान से अपनेको त्रस्त दिखलाते हुए ही उसे बदलने का कोई प्रयास न कर निद्रा की गोद में आश्रय लेने में ही अपने पुरुषार्थ की इतिश्री समझते हैं। वह कहते हैं—

सारा दिन अनात्मीय रूखे वातावरण में बीत गया,
हे रात्रि, मेरी विनती सुनो, मित्र हो जाओ, आंखें लाल-पीली न करो।
मुझे सिर्फ नींद दो, मुझे उस अज्ञात लोक में ले जाओ,
जहां स्मृति की लाश शुरू से आखिर तक अंधकार से घिरी हुई मोटी चादर में पड़ी है ढकी
नहीं, नहीं है, कुछ नहीं है, नहीं यह देह मन कुछ नहीं है,
रोजमर्रा की भौंहें चढ़ाना, निरानन्द कुत्ते की पुकार,
और दूर आकांक्षा की टेढ़ी रेखा एक अप्रतिम नदी है,
यदि मुझे ऐसी नींद मिले जिसमें मैं डूब जाऊं...
हे रात्रि, मेरी विनती सुनो।

दया करो जो शरणागत हैं, सिर नवा रहा है उसकी देह को उठा कर पकड़ो।

श्री अरुणकुमार एक अन्य कविता में अपने जीवन-दर्शन को इस प्रकार व्यक्त करते हैं—

इस अगहन में नहीं कोई आनन्द है
कलकत्ते की सन्ध्या में धूएं से धूसर मन में।
जो सान्त्वना है तो इतनी है कि तुम हो और मृत्यु है,
इसलिए रात्रि की अस्पष्ट गन्ध में रक्त उठता है नाच आशा से।

एक कवि मंगलाचरण चट्टोपाध्याय बंगाल की किसी किशोरी का वर्णन यों करते हैं—

मैं जानता था कि तुम घूंघटवाली रजनीगंधा हो,
लज्जा पाई हुई ललाई हुई संध्या हो,
बिल्कुल ही गांव की लड़की हो, धान मांड़ने वाली और पानी लाने-वाली और सो भी अपने अनजान में रास्ते की तरफ ताककर।

जगन्नाथ चक्रवर्ती की यह कविता कितनी करुण है—

आज भी वही टूटा हुआ बाड़ा, खाली खेत, मिट्टी खिसका हुआ छप्पर, और कितने दिन ?
हे ईश्वर, उस तरह बीन-बीनकर खाना, बोझ ढोना, दुःख सहना, यह और कितने दिन ?
सूना घर हा-हा कर रहा है।
खेतों में फसल नहीं, बस्तियां निरानन्द, बन्दरगाह मसान बने हैं
ऐसा मालूम होता है जैसे इस संसार के सारे आंगन में एक निर्दय कब्रिस्तान बिछा हुआ है।
वे कहते हैं कि मन्वन्तर समाप्त हो गया
अकाल समाप्त हो गया,
लड़ाई खत्म हो गई।
हा ईश्वर, ऐसा ही हो, ऐसा ही हो।
दोपहर के समय आंगन में बैठकर सूत कातता हूं,
मन थका हुआ है, सीना जैसे खाली है।

बार-बार वही नन्हे मुंह याद आ रहे हैं,
डोमों की वह इतनी-सी लड़की जो मांड़ मांग-मांगकर मर गई,
वंशी का जवान लड़का पत्नी को छोड़कर लड़ाई में गया
फिर लौटकर नहीं आया।
रतन सरदार को किसान आन्दोलन में जेल भेजा गया।
हा ईश्वर, तुम्हारी सरकार में यह दमन कबतक होता रहेगा ?
आकाश में रुई की तरह सफेद धूप है,
नीचे जहां गायें कभी रहती थीं वहां सूना है,
खेत में धान नहीं है
पैबन्द लगे जीवन का छोर खो रहा है।
हाय !
हाय रे माथा,
रोने का सौदा लेकर कबतक चलेगा ?
आज चैत्र के अन्त में एक और वैशाख लौटकर आ गया,
पर जुगाली से क्लान्त डरे मरे हुए जीवन का स्वाद कहां लौटा ?
पुरानी व्यथा की रात का पौ अभी नहीं फटा, घाव नहीं सूखा।
हाय !
हाय रे माथा,
आज भी वही टूटा हुआ बाड़ा, सूना खेत और मिट्टी खिसका हुआ छप्पर है, और कितने दिन ?

नरेश गुह एक कविता में अपने हृदय के असन्तोष को यों व्यक्त करते हैं—

आज रात में वर्षा उतरी।
मैं अकेले बिस्तरे पर
आंख में नींद नहीं है
लेटकर सुनता हूं कि हवा पुकार-पुकारकर चली जा रही है।
इस रात में यहां आने को
कितने दिनों से मेरे रक्त में किसीके आने का वादा था।
वह शायद मुझे अमर बनाने के मन्त्र को जानता था।
वह अपार्थिव और अनन्त।

वह मानो मेरे लक्ष्यहीन सब गानों का
तट रेखाहीन मुहाना था। क्या वही मेरे उदास प्राण की
चिरप्रतीक्षा थी ?
हाय दुरन्त ! उत्ताल श्रावण, तुम्हारी शिक्षा ने
यही तो किया।
तो क्या अबकी बार पानी ही में नाम लिखकर
चल देना होगा ? तो फिर मैंने क्या पाया ? तो मैं क्या हुआ ?

एक कविता में वह आगामी युद्ध की आशंका व्यक्त करते हैं। वह इस तथ्य से सहमे हुए हैं कि यों तो आकाश गहरा नील बना हुआ है, और दिन धान की तरह सुनहले हैं, आम के बौरों की गंध से वायु व्याकुल है, इत्यादि, पर कवि को डर है कि न मालूम कब चैत्र के क्षितिज में हिंस्र हिंसा, उन्मत्त क्रोध फूट पड़े।

नये युग के प्रसिद्ध कवि अजीतदत्त एक अन्योक्ति के रूप में छागल या बकरा नाम की कविता में कहते हैं कि बकरा दाढ़ी के कारण गम्भीर और प्राज्ञ ज्ञात होता है; उसके सींगों को देखकर शंका होती है कि न मालूम कब टक्कर मारे। उसकी दृष्टि उदासीन है, पर घासों पर ध्यान रहता है। जो पाता है उसे बिना विचार के लुकमे बनाता जाता है। इसके आगे कवि कहते हैं कि उसे रुचि से कोई सरोकार नहीं, वह संचय का मूल्य जानता है, उसे फल के रूप में चर्वित चर्वण मिलता है। इसके बाद कवि कहते हैं—

वह तत्ववेत्ता है, दार्शनिक भी है कि हरी घास में विश्वरूप निहारता है
उसका अस्थि-मांस-मेद-मज्जा, चाहे बोटी के रूप में हो या कि कीमे के
सब देश और सब कालों में प्रिय है, चाहे जिस रीति से पके,
धर्म-कर्म में, उसकी है स्वतःसिद्ध राष्ट्रीय महिमा।
अपने चमड़े सेब ने नगाड़े पर अपनी बलि कीर्ति घोषित करता है,
फिर भी वह कितना सहनशील है, दंडाहत सांवली सूरत।

अब बताइये कि यह बकरा कौन है ? कहीं तो मालूम होता है कि यह बकरा उर्दू कविता का नासेहा है या 'वलाका' में उल्लिखित कवीन्द्र रवीन्द्र वर्णित 'प्रवीण' है, पर आगे चलकर जब उसके मांस के खाये जाने तथा पसन्द किये जाने की बात कही जाती है, तब मालूम होता है कि यह जनता है, जिसे तरह-तरह के पुरोहित बलि पर चढ़ाते हैं। पर यह भी आधुनिक कविता की

एक धारा है, जिसके अंश अपने में बिल्कुल स्पष्ट हैं, पर उनमें कोई सूत्र नहीं निकलता।

कहना न होगा कि इस प्रकार से जनता के मन की सब तरह की प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति बराबर कविता में होती रही है, फिर चाहे वह पलायनवादी हो चाहे अध्यात्मवादी हो, या महज़ शब्द-विलासी। सभी कवियों की कविताओं से यह ध्वनि किसी-न-किसी रूप में निकल रही है कि यह जगत् जैसा कि वह है, उसमें सारी सम्भावनाएं होते हुए भी, इसमें कोई ऐसी बात है, जिसे दूर करना ज़रूरी है, नहीं तो इसमें वह आकर्षण नहीं मालूम देता, जो इसमें होना चाहिए। शायद इन कवियों की वाणी में उस तरह की प्रतिभा की सुरभि प्राप्त नहीं है, जैसी कि कवीन्द्र रवीन्द्र में थी। फिर भी कुल मिलाकर ये कविताएं भारत के और बंगाल के नव-निर्माण में सहायक होंगी, ऐसी आशा की जा सकती है। साथ ही जैसा कि दिये हुए उदाहरणों से स्पष्ट हो गया होगा, इस समय कविता के कल्पना के स्वर्ग से वास्तविकता के मर्त्य में उतर आने पर भी उसमें कवित्व-शक्ति का या वास्तविक काव्य-धर्म का अभाव नहीं रहा है। प्रेम के लिए भी गुंजाइश है और सूक्ष्म कविता के लिए भी।

●